

मतादर्श

समाज विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

निदेशक, एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज, दिल्ली

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी

दिल्ली-110089

वर्ष : 4 अंक : 1 □ जनवरी 2012

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक

डा. गिरीश मिश्र

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

संपादक मंडल

डॉ. आर. एन. कुंअर

डॉ. बामेश्वर सिंह

डॉ. विवेकानन्द शुक्ला

डॉ. रवीन्द्रनाथ राय

प्रो. राम अयोध्या सिंह

डॉ. लक्ष्मेश्वर ठाकुर

साज-सज्जा

मो. सलीम अंसारी

संपादकीय सम्पर्क:

120, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,

दिल्ली-110091

फोन : 011-43015270, 47541851, 64683387

e-mail : mekhalaprakashan@yahoo.com

मूल्य : रुपये 500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

Globalization is expected to be a process through which an increasingly free flow of ideas, people, goods, services and capital would lead to the integration of economies and societies. It is characterized by an accelerated flow of trade, capital, and information, as well as mobility of individuals, across geographical borders. It reflects comprehensive level of interaction than that has occurred in the past, suggesting something beyond the word "international". It implies a diminishing importance of national borders and strengthening of identities, that stretch beyond those rooted in a limited locale in terms of particular country or region. It can also be defined as the intensification of worldwide social relations which link distant localities in such a way that local happenings are shaped by events occurring at any distant place and vice versa. It is this construction of time-space compression that has given rise to popular notion of "One-World" "Global Village", etc. Globalization though has contributed for rise in living standards, improvement in health and education and Technology advancement, especially in the area of communication and computers during this period, yet in the recent past, there have been apprehensions expressed in terms of its impact, especially on the people who still live below the poverty line and the question that is being raised repeatedly is "will they also equally share the benefits?" if not equal, then "what will they get"? More than these "What is that which is typical Indian and is known to be precious and pride of the country that both the groups i.e. "haves" and "have nots" have to loose?

The thrust of Globalization is expected to push Higher Education to face far-reaching challenges. According to the Spanish sociologist, Manuel Castells, one of the leading authorities on Globalization states, "effects on the university will be more drastic than industrialization, urbanization and secularization combined. It is, the biggest challenge that the University has ever faced for more than a century and a half." Guy Neave and Frans Van Vught suggest "there was a neo-Keynesian consensus in higher education operating from the end of the war to the late seventies. This consensus saw higher education as having an economic aspect in the advancement of resource development through public investment, a political aspect in raising the overall level of education, and a social aspect in the provision of access and opportunity. This consensus has now broken down due to a greater emphasis on the need for higher education to respond to industry and ensure national economic survival." Robert Cowen makes a similar point in relation to an ideological shift in what he identifies as "the transition from modern to late-modern education systems, whereby the strong political and civic motives of the former are replaced by the dominance of global economic paradigms in the latter.

Globalization, as some argue, redistributes exclusion across countries and within the country. In their view, "society splits into two types of people: those 'at the social core' and those who hang on with their finger nails to the 'social periphery' – even in the world's richest economies. A recent estimate suggests that no more than 20 percent of students currently in higher education will be at the core of the rising Knowledge Economy. The remainder will be a 'subordinate social layer'. This is not a recipe for social cohesion." "Societies on the fringe of the global economy – 'unconnected' are the fashionable word – face exclusion even more devastating than their present difficulties."

—Editor

इस अंक में

इतिहास

बाबू कुँवर सिंह : एक महान् योद्धा – नरेन्द्र किशोर पाण्डेय	7
बिहार में लघु एवं कुटीर उद्योग – डॉ. प्रमोद कुमार सिन्हा	10
आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता: एक दृष्टि – सुजीत कुमार	13
बिहार में अगस्त क्रांति का स्वरूप : एक दृष्टि – विजय कुमार	18
मानवेन्द्र नाथ राय के समाजवाद और अंतर्राष्ट्रीयवाद की अवधारणा – डा० अमृत कुमार	22
दलित समस्या एवं निदान के प्रयास : बिहार के संदर्भ में – शम्भू कुमार रजक	26
प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति (15वीं शताब्दी ई. पू. से 10वीं शताब्दी ई.वी. तक) – लक्ष्मी कुमारी	31

दर्शन शास्त्र

धर्म की विसंगतियाँ एवं चुनौतियाँ – कुमार रमेश चन्द्र प्रसाद	38
रविन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में मोक्ष का दार्शनिक विवरण – डा. जनार्दन प्रसाद	45
गांधीजी के सर्वोदय की प्रासंगिकता – डॉ. रश्मि कुमारी सिंह	53

मनोविज्ञान

फ्रायड और टैगोर की कामदृष्टि : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण – डॉ. लक्ष्मेश्वर ठाकुर एवं श्रीमती जयती	57
व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन – डॉ. मनीषा बासल	63

गृह विज्ञान

मानव स्वास्थ्य में एनीमिया का महत्व – किरण कुमारी	69
---	----

अर्थशास्त्र

भारतीय कृषि के विकास में तकनीकी परिवर्तनों की भूमिका—डॉ० पुष्पांजलि आर्य	75
जीवन हेतु जैविक खेती – डॉ. गोखुला प्रसाद सिंह	82

हिन्दी साहित्य

बंगला भाषा एवं साहित्य तथा हिन्दी भाषा और साहित्य का अंतर्संबंध – गोपाल पाल	86
--	----

“राष्ट्रकवि दिनकर के काव्य में मानवीय जीवनमूल्य” –	
डॉ. दिलीप कुमार श्रीवास्तव	92
ब्रज लोकगीतों में अलंकार – रणविजय पासवान	95
राजनीतिक, आर्थिक बदलाव और प्रगतिशील साहित्य – विश्वजीत कुमार चौधरी	99
रामचरितमानस में ग्राम-संस्कृति – डॉ. श्याम सुंदर प्रसाद	102
सुफी साधक और कबीर के विचार साधना के क्षेत्र में – डा. शान्तनु प्रसाद	105
विचारधारा के अर्थों का विकास – वंदना भारती	109

शिक्षा शास्त्र

परंपरागत भारतीय शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का दायित्व –	
शिल्पा वी. सीदपरा एवं मेना. एम. त्राडा	114
होशंगाबाद ब्लाक के शहरी एवं ग्रामीण विद्यालयों में अध्ययनरत् बालकों	
एवं बालिकाओं के नैराश्य का अध्ययन – मेना त्राडा	118

संस्कृत

संस्कृतशिक्षकशिक्षायाः महत्त्वमावश्यकता च – डॉ० प्रसून दत्त सिंह	121
वैदिक वाङ्मय द्वारा पर्यावरण प्रदूषण समस्या का समाधान –	
डॉ. जयप्रकाश साहु	126

भूगोल

मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं का स्वास्थ्य स्तर –	
डॉ. लोकेश श्रीवास्तव एवं शाहिदा मंसूरी	129

राजनीति विज्ञान

“भारत के संघीय ढाँचे में प्रांतीय स्वायत्तता की मांग: एक मूल्यांकन” –	
डॉ. रणजीत कुमार	147
बिहार में चुनाव की राजनीति एवं दवाब समूह – डॉ. पवन कुमार सिंह	153

HISTORY

Origins of Guru-Shishya Parampara — Rajesh Prasad	157
Jain Doctrines of Relativity — Dr. Pawan Kumar	160
Jain Contribution to Art and Architecture — Amar Kumar Mishra	163
Trade and Commerce under Vijayanagara and its Offshoots —	
Dr. Kahkashan	166
The Political Economy of the Sultanate — Dr. Dayanand	169
Indian Rock-Cut Architecture — Dr. Ram Pravesh Singh	172
Land Tenure in Ancient India — Dr. Vijay Shanker Pd. Sinha	175

Marriages under Hindu Joint Family System in Ancient India — Dr. Amardeep Kumar	178
Advancement and Glory of Ancient India Medicine — Binny Patel	181
Development of Scientific Method in India — Ranjeet Kumar Keshari	184
Plastic Surgery in Ancient India — Ranjeet Kumar	187
Adivasis and the Freedom Movement — Dr. Dilip Kumar Yadav	190
Socioeconomic Profile of the Tribals During the Colonial Period — Dr. Sunil Kumar	193
PSYCHOLOGY	
Psycho-social Impact of Unemployment — S.M. Bakhteyar Fatmi and Md. Rafique Alam	196
Self-management Approaches for People with Stress: A Review — Basant Lal Sharma	203
A Study of Attitude of Hindi School Students in Some Psycho-social Problems — Sandhya Kumari	207
Concepts of Personality, Self-concept, Extraversion, Feeling of Security and Frustration; In Psychological Perspective — Sabita Kumari and Dr. Kamta Prasad Yadav	213
Impact of Socio-psychological Factors on Religious Participation among Hindu-muslim Student — Kanchan Kumar	218
ENGLISH	
Influences of Women on D.H. Lawrence—Dr. Anjani Sharma	222

बाबू कुँवर सिंह : एक महान् योद्धा

नरेन्द्र किशोर पाण्डेय

शोधकर्ता (इतिहास), बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

यह सूचित किया जाता है कि उस किसी व्यक्ति को 25,000 रुपये पुरस्कार स्वरूप दिये जाएंगे जो जगदीशपुर के विद्रोही बाबू कुँवर सिंह को जीवित रूप में किसी भी ब्रिटिश सैनिक चौकी अथवा कैम्प में सुपुर्द करेगा। आगे यह भी सूचित किया जा रहा है कि

इस पुरस्कार के अलावा पहली तारीख को जारी सरकारी घोषणा 470 में उल्लिखित बातों के अतिरिक्त किसी भी बलवाई अथवा भगोड़े सैनिक अथवा किसी भी विद्रोही को क्षमा कर दिया जाएगा जो उपर्युक्त कुँवर सिंह को सुपुर्द करेगा। यह था कुँवर सिंह का भय अंग्रेजों के अन्दर जो गर्वनर जनरल के आदेशानुसार उपर्युक्त पत्र से झलकता है।¹



Kunwar Singh

कुँवर सिंह एक ऐसी शख्सियत का नाम है जिनके भीतर देशभक्ति का जज्बा 80 साल की उम्र में भी बदस्तूर जारी था। उन्होंने अजादी की पहली गुरिल्ला लड़ाई का नेतृत्व उम्र के इसी पड़ाव में किया। कुँवर सिंह के पूर्वज उज्जैन से आकर शाहाबाद जिले में बसे परमार राजपूत थे। उनका जन्म 1782 ई. में भोजपुर जिले के जगदीशपुर गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम साहबजादा सिंह तथा माँ का नाम पंचरतन कुँवर था।² पिता साहबजादा सिंह की मृत्यु के बाद कुँवर सिंह गद्दी पर बैठे। डुमरांव राज के बाद कुँवर सिंह की सबसे बड़ी जमींदारी थी जिसमें पीरो, ननौर, निहियां, भोजपुर, सासाराम सहित कुल 781 मौजे थी। वे एक उदार प्रकृति के जमींदार थे। उनकी माली हालत खराब थी, लेकिन जनहित कार्यों के लिए धन देने में उन्होंने कंजूसी नहीं की। जगदीशपुर और आरा में उन्होंने मस्जिदें बनवाई तथा स्कूल खोले। पटना इन्डस्ट्रियल स्कूल के लिए 1100 रुपये का दान दिया तथा कई प्रशासनिक सुधार किये। 1857 की लड़ाई अंग्रेजी राज के विरुद्ध एक खुली बगावत थी। दिल्ली

पर कब्जे के एक महीने के भीतर विद्रोह लगभग सभी बड़े केन्द्रों तक फैल गया। बिहार में कुँवर सिंह ने विद्रोह का नेतृत्व किया क्योंकि कुँवर सिंह को अंग्रेजों ने दिवालियापन की कगार पर पहुँचा दिया था। अंग्रेजों ने उनकी सारी संपत्ति छीन ली, उनके महल तथा अन्य भवन बर्बाद कर दिये गए तथा गाँव के गाँव जला दिये गये। कुँवर सिंह अंग्रेजों के दुश्मन बन गये तथा जगदीशपुर के जंगलों में आजादी की पहली गुरिल्ला लड़ाई की शुरुआत की।¹

25 जुलाई, 1857 ई. को दानापुर फौजी छावनी की तीन टुकड़ियों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 26 जुलाई को विद्रोही सैनिक शाहाबाद के कुँवर सिंह से जा मिले। कुँवर सिंह के मुख्य अनुयायी उनके भाई अमर सिंह और रीत नरायण सिंह, उनके भतीजे निशान सिंह और जयकृष्ण सिंह, शाहाबाद के चार जमींदार नरहर सिंह, जोहन सिंह, ठाकुर दयाल सिंह तथा विशेश्वर सिंह थे। *इब्राहीम खाँ* और *किफायत हुसैन* सेना के उच्च पद पर स्थापित थे। 30 जुलाई 1857 को कप्तान डनवर के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना की आरा में कुँवर सिंह से हार हुई। 31 जुलाई, 1857 को कैप्टन आर. पी. हैरिसन ने सहयोगी सेनाध्यक्ष को इस संबंध में पत्र लिखा। मेजर विनसेन्ट आयर तथा कुँवर सिंह के बीच 30 अगस्त 1857 को बीबीगंज में युद्ध हुआ जिसमें कुँवर सिंह की हार हुई तथापि कुँवर सिंह हतोत्साहित नहीं हुए।² जगदीशपुर में लगातार जारी हमलों के बाद कुँवर सिंह ने सासाराम की ओर कूच किया। उनकी नजर तब जगदीशपुर के बाजाएँ दिल्ली पर थी। कुछ समय कुँवर सिंह ने नोखा में विश्राम किया तथा रोहतास की ओर बढ़े तथा बागी सेना विजयगढ़ में इकट्ठी हुई। यहाँ से कुँवर सिंह घोरावल, रूसेड़ा, नेवारी होते हुए मिर्जापुर के फुलियारी तथा टोटवा में घेरा डाला तथा अंग्रेजों को छकाते रहे। राबर्ट्सगंज के थानेदार ने लिखा है कि कुँवर सिंह ने हुक्म दे रखा था कि कोई अंग्रेज अफसर इलाके में रहने न पाए। 14 अगस्त 1857 को विद्रोहियों ने राबर्ट्सगंज कचहरी को लूटा और थाने को ध्वस्त कर दिया। वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए कुँवर सिंह सिंगरौली तथा रीवा की ओर बढ़े। रीवा के राजा रघुराज सिंह ने कुँवर सिंह को पत्र लिखा कि वे राज्य में प्रवेश न करें। रीवा में हस्मत अली और हरचंद राय ने कुँवर सिंह की मदद की। डर कर राजा महल छोड़कर भाग गया। जनता के साथ मिलकर विद्रोहियों ने लेफ्टिनेन्ट *आसबर्न* को उनके आवास में नजरबंद कर दिया। 29 सितम्बर 1857 को कुँवर सिंह बांदा पहुँचे तथा 20 अक्टूबर 1857 को काल्पी के लिए रवाना हुए तथा वहाँ से अकबरपुर होते हुए लखनऊ पहुँचे। अवध के शाह ने उन्हें सम्मानसूचक पोशाक प्रदान किया तथा हजारों रुपये एवं आजमगढ़ जिला के लिए एक फरमान भी दिया। कुँवर सिंह ने नाना साहेब के साथ दिसम्बर, 1857 में कानपुर के युद्ध में भाग लिया। हालाँकि इस युद्ध में कुँवर सिंह को अंग्रेजों के विरुद्ध सफलता नहीं मिली, लेकिन अंग्रेज भी उनकी गतिविधि पर पूर्ण विराम नहीं लगा पाए।³

कुँवर सिंह ने आजमगढ़ से लगभग 25 मील दूर अतरौलिया में कर्नल *मिनमैन* के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना को पराजित किया। तथा 26 मार्च 1858 को आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। *मिनमैन* की सहायता के लिए कर्नल *डेम्स* को भेजा गया लेकिन

वह भी पराजित हुआ। इस बीच लार्ड मार्क की भी हार हो गई। डेम्स तथा मार्क की सहायता के लिए लार्ड के अधीन एक सेना भेजी गई लेकिन तमसा के पुल पर उसकी भी हार हो गई।⁶ जबकि कुँवर सिंह आजमगढ़ छोड़कर गाजीपुर की ओर चले, सर डगलस ने 17 अप्रैल 1858 को नघाई नामक स्थान पर कुँवर सिंह पर आक्रमण किया लेकिन उसके सारे प्रयास विफल रहे। बलिया के समीप अंग्रेजों के साथ युद्ध में विजयी होने के बाद जगदीशपुर की ओर लौटने के क्रम में कुँवर सिंह ने 23 अप्रैल 1858 को कैप्टन लीग्रान्ड के नेतृत्व वाली ब्रिटिश सेना को बुरी तरह पराजित किया। इस युद्ध में कुँवर सिंह की एक बाँह जाती रही तथा जाँघ में भी गोली लगी। इस वीर सपूत को फिर भी अंग्रेज नहीं पकड़ पाए। कुँवर सिंह जगदीशपुर पहुँच गए जहाँ 25 अप्रैल 1858 को उनकी मृत्यु हो गई। 25 अप्रैल को आज भी बिहार में विजय दिवस के रूप में मनाया जाता है।⁷

कुँवर सिंह के निधनोपरान्त भी आजादी के दीवानों ने हुकूमत के विरुद्ध जंग जारी रखी तथा जगदीशपुर में एक समानान्तर भारतीय सरकार की स्थापना की।⁸

संक्षेप में, 1857 की लड़ाई में बिहार के नायक बाबू कुँवर सिंह की उपलब्धियाँ अविस्मरणीय हैं। 80 वर्ष की उम्र में एक साल से अधिक समय तक बिहार एवं उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में अंग्रेजों की सत्ता को प्रभावहीन बनाये रखने और कई युद्धों में कम्पनी की सेना को पराजित करने के पश्चात् जो शौर्य तथा वीरता का परिचय इस महान् स्वतंत्रता सेनानी ने दिया, उस पर किसी भी भारतीय को नाज होना स्वाभाविक है। इस महान् योद्धा की प्रशस्ति लोकगीतों में आज भी झलकती है—

चला गया यों कुँवर अमरपुर, साहस से सब अदिरल जीत,
उसका चित्र दिखकर अब भी, दुश्मन होते हैं भयभीत।
वीर प्रसविनी-भूमि धन्य वह, धन्य वीर वह धन्य अती
गाते थे और गावेंगे हम, हरदम उसकी जय का गीत।
स्वतंत्रता का सैनिक था, आजादी का दीवाना था,
सब कहते हैं, कुँवर सिंह भी, बड़ा वीर मरदाना था।

संदर्भ स्रोत

1. विदेश विभाग, इलहाबाद, 12 अप्रैल 1858, गोपनीय, संख्या- 16-डी., संख्या- 581, संख्या- 36
2. विजय कुमार राय, बिहार एक अवलोकन, पृष्ठ- 24
3. विपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ- 2-3
4. कौलेश्वर राय, बिहार का इतिहास, पृष्ठ- 185-186
5. हिन्दुस्तान, मुजफ्फरपुर/पटना, मंगलवार 17.10.2006, पृष्ठ- 9 एवं विजय कुमार राय, पूर्व चर्चित, पृष्ठ- 24-25
6. चन्द्रकिशोर पाण्डेय, आधुनिक भारत का इतिहास (प्रथम संस्करण, 1971) पृष्ठ- 99
7. राजेश कुमार राय, स्पर्धा बिहार अपडेट, पृष्ठ- 46
8. विरेन्द्र प्रसाद, बिहार का इतिहास एवं स्वतंत्रता आन्दोलन, पृष्ठ- 37

बिहार में लघु एवं कुटीर उद्योग

डॉ. प्रमोद कुमार सिन्हा

रीडर, इतिहास विभाग, के.सी.टी.सी. कॉलेज, रक्सौल
वी.आर.ए.वि.वि., मुजफ्फरपुर

बिहार की अर्थव्यवस्था में लघु एवं कुटीर उद्योग की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से अल्प साधन के बल पर बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसरों का सृजन कर लोगों का जीविकोपार्जन किया जा सकता है। इनके विकास से गरीबी एवं बेरोजगारी पर कुछ अंशों में नियंत्रण पाया जा सकता है। बिहार की आबादी का लगभग 86.4 प्रतिशत लोग ग्रामीण परिवेश में रहते हैं, जिनमें 73 प्रतिशत लोग केवल कृषि पर आधारित हैं। बिहार राज्य में लगभग 42.6 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करते हैं। बिहार में कुटीर उद्योग में मुख्यतः— हस्तकरघा वस्त्र उद्योग, बीड़ी, साबुन, चमड़ा, चटाई, फर्नीचर, रेशम, मधुबनी पेंटिंग, शहद, मखाना है। लघु उद्योग की संख्या बहुतायत होने के बावजूद ये उच्च उत्पादकता वाले नहीं हैं फिर भी कृषि के बाद रोजगार के अवसर प्रदान करने में इनकी महती भूमिका है। दिसम्बर 2008 में बिहार में 1,74,278 स्थायी निर्बाधित इकाइयाँ थी। इनमें 1,502 लघु इकाइयाँ, 1,02,676 अति लघु इकाइयाँ तथा 70,100 कारीगर आधारित इकाइयाँ थी। इसमें कुल सकल निवेश 1,01,17.62 करोड़ था। इन इकाइयों के द्वारा लगभग 5.68 लाख श्रमिकों को रोजगार का अवसर प्राप्त है।

यद्यपि बिहार में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास की असीम संभावनाएँ विद्यमान हैं, फिर भी कृषि पर आधारित उद्योगों का भरपूर उपयोग नहीं हो पा रहा है। इसके लिए कृषि आधारित उद्योगों में कृषि के लिए क्षेत्रफल और उत्पादन, दोनों में वर्तमान स्तर के मुकाबले वृद्धि करना आवश्यक होगा ताकि बड़ी संख्या में किसानों की आय और रोजगार में वृद्धि हो सके। रोजगार सृजन के लिए फूलों और सब्जियों के साथ मछली पालन, दुग्ध एवं अंडे के उत्पादन पर विशेष ध्यान आकृष्ट करना होगा। यद्यपि बिहार के अधिकांश जिलों में केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय बागवानी मिशन योजना एवं मनेरगा के माध्यम से बागवानी के विस्तार का भरपूर प्रयास किया जा रहा है।

रेशम उद्योग

रेशम एवं सिल्क उद्योग बिहार में कृषि पर आधारित एक प्रमुख उद्योग है। भारत में बिहार का रेशम उत्पादन के क्षेत्र में दूसरा स्थान प्राप्त है। भागलपुर एवं पूर्णिया में यह उद्योग कमजोर वर्ग के लोगों विशेषकर महिलाओं को रोजगार प्रदान करने में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। यह उद्योग जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों को रोजगार उपलब्ध कराता है, तो दूसरी ओर शहरों की ओर इनके पलायन को रोकता भी है। ग्यारहवीं योजना के अंतर्गत एक योजना भौतिक अधिसंरचना विकास की है। जिसके अंतर्गत तसर हेतु 5 पयालट परियोजना केन्द्र तथा एक विपणन केन्द्र का विकास किया जाएगा। उत्पादन बढ़ाने के लिए इस उद्योग में लगे

लोगों को यह केन्द्र तसर के कोये (ककून) उपलब्ध करायेगा और इसके विपणन में भी सहयोग करेगा। केन्द्रीय रेशम बोर्ड के द्वारा तकनीकी कर्मचारियों के प्रशिक्षण के साथ-साथ पुरस्कारों की भी योजना है। 11वीं योजना में 162.5 टन कच्चे रेशम के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया है।²

वर्ष 2009-10 में रेशम का भारत में 19,600 टन उत्पादन हुआ था, जो विश्व उत्पादन का 15.5 फीसदी है। भारत रेशम का सबसे बड़ा उपभोक्ता होने के साथ-साथ पाँच किस्मों के रेशम-मलबरी, तसर, ओक तसर, एरि और मुंगा का उत्पादन करने वाला देश है। भारत के रेशम उत्पादन में पिछले वर्ष की अपेक्षा 2009-10 में 7.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

खाद्य प्रसंस्करण

बिहार प्रदेश में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग को अगर सही ढंग से विकसित किया जाय तो लगभग 5 लाख लोगों को अतिरिक्त रोजगार मुहैया किया जा सकता है। आम, लीची, केला आदि के प्रसंस्करण से ग्रामीण आबादी की आय और रोजगार के अतिरिक्त मौसमी उपभोग, भंडारण और उनका पोषण मूल्य बनाये रखने पर ध्यान दिया जा सकेगा। राज्य के उत्तरी बिहार में लीची, आम का बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है तो उत्तरी पूर्वी भाग के 10 जिलों के 16.90 हजार हेक्टेयर क्षेत्रफल में मखाने का उत्पादन होता है। इसे विकसित करने हेतु पटना में एक मखाना प्रसंस्करण इकाई सफलता पूर्वक कार्य कर रहा है। प्रसंस्करण उद्योग के विकास की संभावनाओं को देखते हुए उद्योग विभाग ने खाद्य प्रसंस्करण अधिसंरचना तथा अन्य सुविधाओं के विकास के लिए 1.760 करोड़ की एक परियोजना बनाई है। इस परियोजना के अंतर्गत 100 ग्रामीण प्रसंस्करण केन्द्रों पर 500 करोड़ रु. खर्च किये जायेंगे। केन्द्र सरकार द्वारा खाद्य प्रसंस्करण इकाइयों की सहायता के लिए हाजीपुर के फूड पार्क की व्यवस्था की जा रही है।³

कृषि पर आधारित अन्य उद्योगों जैसे चाय उत्पादन, मत्स्य उत्पादन के लिए राज्य सरकार, लोगों को काफी प्रोत्साहित कर रही है। चाय बगान के रूप में किशनगंज को आदर्श क्षेत्र घोषित की गई है जिससे बिहार राज्य के लगभग 20 हजार मजदूरों को रोजगार मिलेगा। यद्यपि चाय बोर्ड की योजना में किशनगंज जिले को अपारंपरिक चाय क्षेत्र माना गया है। यद्यपि चाय प्रक्षेत्र का विकास मात्र दो चाय प्रसंस्करण इकाइयों के बलबूते कहां तक विकसित होगा भविष्य ही बतायेगा।

दुग्ध उत्पादन

कृषि प्रधान राज्य होने के कारण बिहार में पशुधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। गाय, भैंस और बकरी जैसे दुधारू पशु के उपलब्ध होने से यहाँ दूध और दूध से बनी चीजों का उत्पादन भरपूर पैमाने पर होता है। परिणाम स्वरूप बिहार में डेयरी उद्योग की लघु मध्यम और बृहद् स्तर पर अनेक इकाइयाँ उत्पादन कार्य में लगी है। बिहार से बड़े पैमाने पर दूध दिल्ली एवं आसपास के राज्यों में जा रहा है। दुग्ध उत्पादन बिहार में किसानों एवं ग्रामीणों का सहायक रोजगार है। अतः राज्य की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में दुग्ध उत्पादन प्रक्षेत्र को विकसित करना राज्य सरकार की

महती जिम्मेवारी है। वर्तमान समय में अनुसूचित जाति एवं पिछड़े वर्ग के लोगों ने स्वयं सहायता समूह के माध्यम से दुग्ध उत्पादन के क्षेत्र में व्यापक सफलता प्राप्त की है। बिहारशरीफ में 30 मी. टन दुग्ध निर्माण की क्षमता वाले एक संयंत्र की स्थापना की जा रही है। इस संयंत्र के चालू हो जाने पर क्षेत्र में दूध का एक बड़ा बाजार तैयार हो जायेगा। इस संयंत्र के कार्यान्वित हो जाने पर 1500 गाँवों को प्रत्यक्ष रोजगार तथा लगभग 75000 लोगों को अप्रत्यक्ष रोजगार प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त वर्ष 2007-08 में राज्य के 10 जिलों (अलवर, बाँका, जमुई, सीवान, छपरा, सुपौल, मधेपुरा, लखीसराय, नवादा और शेखपुरा) में 250 लघु दुग्ध उत्पादन इकाइयाँ स्थापित करने की एक योजना को मंजूरी दी गई है।¹

बिहार में दुग्ध उत्पादन सहकारी समिति 'काम्पेड' राज्य में पाँच दुग्ध उत्पादन संघों के द्वारा प्रतिदिन 6 लाख लीटर दूध संग्रहित कर रही है। राज्य की 5500 दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियाँ में से लगभग 85 प्रतिशत कार्यशील है। इन दुग्ध उत्पादक सहयोग समितियों से कुल 2.67 लाख सदस्य लाभान्वित हो रहे हैं। इस कार्यक्रम ने ग्रामीण आबादी के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

चर्म उत्पादन

बिहार में बड़े पैमाने पर पशुपालन के फलस्वरूप राज्य में चर्म उत्पाद संबंधी उद्योगों की काफी संभावनाएँ हैं। राज्य में अनुमानतः 212 लाख रु. से अधिक का कच्चा चमड़ा पैदा होता है। चर्म उत्पादों की मात्रा और गुणवत्ता को देखते हुए राज्य में चर्म उत्पादों से संबंधित उद्योगों की पर्याप्त संभावनाएँ हैं। यद्यपि राज्य के प. चम्पारण जिले में चर्म शोधन केन्द्र राज्य सरकार के द्वारा स्थापित किया गया था। परन्तु कुशल प्रबंधक नहीं होने के कारण देश-विदेश में चमड़ा निर्यात करने वाला यह फैक्ट्री गोदाम का शक्ल ले रहा है।

अन्य उद्योग: इन उद्योगों के अतिरिक्त बिहार में चटाई निर्माण, टोकरी बनाना, रस्सी बनाना, बेंत एवं बाँस का सामान, सीप का सजावटी सामान, मधुमक्खी पालन, लोहे के औजार निर्माण जैसे कार्य भी गृह स्तर पर किये जाते हैं।²

अतः स्पष्ट है कि बिहार के आर्थिक संपन्नता हेतु बिहार में लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास की बहुत बड़ी संभावना है। इन उद्योगों के विकास के लिए ठोस पहल की बहुत बड़ी आवश्यकता है। सरकार को चाहिए कि वित्तीय सुविधा, कच्चे माल की आपूर्ति, विपणन की व्यवस्था, तकनीकी सहायता एवं प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करें। बिहार के व्यावसायिक बैंकों को पूंजी उपलब्ध करने में विशेष रुचि लेना होगा।

संदर्भ:

1. बिहार बजट- बिहार सरकार,
2. योजना- मई 2011
3. विकास यात्रा- (रिपोर्ट कार्ड बिहार सरकार 2010)
4. दैनिक हिन्दुस्तान- समाचार पत्र
5. प्रतियोगिता दर्पण- पत्रिका।

आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता: एक दृष्टि

सुजीत कुमार

(शिक्षक), प्राथमिक विद्यालय महंथ मनियारी कन्या, मुजफ्फरपुर

आश्रम शब्द श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ होता है परिश्रम करना। तात्पर्यतः आश्रम का आशय जीवन के उन विभिन्न स्तरों से है जहाँ व्यक्ति को अनेक प्रकार का श्रम अथवा प्रयास करना होता है। लिहाजा आश्रम व्यवस्था भारतीय मनुष्य द्वारा प्रतिपादित एक ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाज एवं भारतीय मानव को प्राणवृत्त करते हुए, इस भवसागर में आगे बढ़ने की क्षमता प्रदान करते आई है।

प्राचीन भारत के हिन्दू समाज का अपरिहार्य अंग आश्रम व्यवस्था था।¹ हमारे व्यवस्थाकारों ने इंकृत सामाजिक जीवन को पुनः संगठित करने की दृष्टि से जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था को परिवर्धित स्वरूप प्रदान किया, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक जीवन को विशेष पद्धति में निरूपित करने की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था की विधिवत् आधारशीला डाली गयी।

यद्यपि आश्रमों का संकेत हमें वेदों में भी प्राप्त होता है परन्तु व्यवस्थित आश्रम संस्था इंगीकरण नहीं मिलता है। वेद एवं ब्राह्मण आदि के आश्रम व्यवस्था का परिचय हमें 'ब्रह्मचारी', 'गृहपति', 'वैरवानस' आदि शब्दों से प्राप्त होता है। उपनिषद् युग तक प्रारम्भिक तीन आश्रम कदाचित विकसित हो चुके थे, परन्तु एक सुव्यवस्थित संस्था के रूप में आश्रम व्यवस्था सूत्रकाल में ही पल्लवित हो सकी थी। सूत्रकाल वर्णाश्रम धर्म में परिवर्द्धन हो सकी थी। सूत्रकाल वर्णाश्रम धर्म में परिवर्द्धन एवं पुनर्संगठन का युग था।

भारतीय मनुषियों ने जीवन के चार विभाग किये जो चार आश्रम कहलाए। यहाँ आश्रम का तात्पर्य व्यक्तिगत सुधार और संस्कार से हैं। अर्थात् भारतीय सामाजिक जीवन में चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास- ये चार आश्रम माने जाते थे। मानव जीवन के महान पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमशः प्रारित के चारों आश्रमों का विकास हुआ था। इसी पुरुषार्थचतुष्टय के आधार पर मनुष्य अवस्थाविशेषों में अपने जीवन से सम्बंधित कार्यक्रम को निश्चित कर लेता है। जिस प्रकार दैनिकचर्या में मनुष्य प्रातःकाल से ही एक कार्य से दूसरे कार्य को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार एक-एक कालावधि में धर्म का प्रतिष्ठान करते हुए मनुष्य अपने भाग का आधार बनाता है और इसके पश्चात्

भौतिक सुखों का आस्वादन करता है। फिर सभी भौतिक सुखों को त्याग कर अपने अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ता है और अक्षय शांति हेतु अनुष्ठान में संलग्न होता है। निःसंदेह मनुष्य के इतिहास में उसके जीवन के वैज्ञानिक विभाग का यह पहला शास्त्रीय प्रयास² था न कि पलायन का।

हिन्दू धर्म का सामाजिक जीवन या व्यक्तिगत जीवन पूर्णरूपेण अध्यात्मिक रहा है। जीवन के प्रारंभिक अवस्था से ही इस अध्यात्मिक जीवन की कार्यशैली चलती रहती है। आश्रम व्यवस्था के आधार पर जीवन के प्रत्येक भाग को नियमित किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के प्रत्येक अवस्था के और हर अवसर के कर्तव्य इसके अधीन निर्धारित है जिससे वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता है। इन आश्रमों की कल्पना का आधार पर विचार करने के क्रम में यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है।³ प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों ऋषियों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरूण, अग्नि देवताओं का भी मनुष्य ऋणी होता है क्योंकि इन्हीं के कृपा से वह प्रकाश, जल उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता।⁴ अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि के द्वारा उनके ऋण को अदा करे। प्रत्येक आर्य से यह आशा की जाती है कि वह अपना सारा जीवन सांसारिक झंझटों में ही न बिता दे अपितु ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और सन्यासी होकर अपना जीवन व्यय व्यतीत करे।

आश्रम व्यवस्था को वर्तमान के संदर्भ में रखकर देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था की पुरानी पद्धति अब नहीं रही। मनुष्य के अपने प्रति और अपने समाज के प्रति कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं रहे। समाज में कई प्रकार के अमानवीय तत्वों का समायोजन हो चुका है। सामंती व्यवस्था और पूँजीवाद ने वर्ग संघर्ष को उत्पन्न कर समाज में विघटन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। ऐसा लगता है कि आज के संदर्भ में आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता को सिद्ध कर पाना एक मुश्किल कार्य लगता है। तथापि स्मृतियों की आश्रम व्यवस्था मनुष्य के अध्यात्मिक लक्ष्य को लक्षित करने वाली है। यह व्यवस्था मनुष्य के जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग निर्देशन का कार्य करती है। इस व्यवस्था में कुछ ऐसे अमानवीय मूल्यों तथा विवेचन में अनावश्यक तत्वों का समायोजन हो चुका है जिनका पूर्णरूपेण निर्वाह कर पाना वर्तमान में सम्भव नहीं दिखता है। इसके बावजूद भी यदि चारों आश्रमों के सिद्धांतों पर गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह सम्भव है कि वर्तमान में तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और सन्यासी की प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सकता है लेकिन वानप्रस्थ आश्रम व्यवस्था की सिद्धांत को आज के युग में सिद्ध करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। इसके पीछे वजह है कि प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथ भी वानप्रस्थ को स्वीकार नहीं करते हैं, जिनमें याज्ञ वल्क्यस्मृति भी शामिल है।

मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम व्यवस्था के यही चार मान्यक्रम हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे आश्रम में प्रवेश करने के लिए अपनी नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का विकास करता है जिससे नये उत्तरदायित्व की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो। जाबालोपनिषद् में यह उल्लेखित है कि ब्राह्मण प्रथम आश्रम के उपरान्त सीधे सन्यास आश्रम को ग्रहण कर सकते हैं।⁵ जबकि स्मृतिकारों के अनुसार मनुष्य जीवन का प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य का होता है और इसके बाद वह गृहस्थ, वानप्रस्थ से होते हुए जीवन से मोक्ष की प्राप्ति के लिए सन्यासी का जीवन व्यतीत करता है।

सूत्रकारों के अनुसार आश्रम व्यवस्था जीवन का नियामक रूप थी, नियमित जीवन का काल चक्र थी एवं उच्चतर ध्येय की प्राप्ति हेतु श्रृंखलागत प्रयास थी। यहाँ हम आश्रम व्यवस्था की वर्तमान के संदर्भ में प्रासंगिकता को सिद्ध करने का प्रयास सूत्रयुगीन चतुराश्रमों का क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित किया गया है। स्मृतिकारों के अनुसार ब्रह्मचर्य मानव जीवन का प्रथम आश्रम होता है।⁶ यह आश्रम अध्ययन एवं अनुशासन का काल होता है। इस काल में मनुष्य गुरुकुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करता है।⁷ शिक्षा के लिए मुख्य रूप से वेदों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। जीवन के प्रारम्भिक कोमल वर्षों में बालक एवं तरुण को आनेवाले दायित्व को निभाने की क्षमता से पूरित किया जाता था।⁸ शक्ति संचय गुण पल्लवन एवं व्यक्तित्व के विकास का समय माना जाता था। इस अवस्था में विद्याध्ययन से पूर्व उपनयन संस्कार को अनिवार्य माना जाता था। इसके बाद ही बालक ब्रह्मचारी कहलाता था एवं गुरु से शिक्षण प्राप्त करने का अधिकारी बनता था। ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था जीवन के प्रारम्भिक पच्चीस वर्ष निर्धारित किये गये थे। सूत्रों के अनुसार ब्रह्मचारी को गुरुसेवा, वाक् संयम, समिधादान, नित्य स्नान, यज्ञ, अध्ययन आदि कर्त्तव्य करने की आवश्यकता पर बल दिया गया था।⁹

आज भी हम देखते हैं कि वेदों के अलावे भी ज्ञान के अनेक शास्त्र को अपनाया गया है आज भी जीवन के प्रारम्भिक दिनों में उचित रीति से अध्ययन कर बच्चों के अच्छे चरित्र निर्माण की अभिलषा करते हैं। यह सही है कि स्मृतिकारों ने जिस तरह की व्यवस्था प्राचीन काल में बच्चों के शील निर्माण हेतु नियम बनाये वे आज भी शत-प्रतिशत प्रासंगिक हैं।

स्मृतिकारों ने गृहस्थ आश्रम के लिए जिन मौलिक कर्त्तव्यों की चर्चा है वे आज भी वर्तमान सामाजिक परिवेश में पूर्णरूपेण प्रासंगिक हैं। स्मृति ग्रंथों में मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम तीनों का समुचित रीति से उपयोग करने की सलाह दी गई है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य था कि वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें और अपने पारिवारिक दायित्व का निर्वहण करें। यह कहा गया है कि जो देवता, पितर, अतिथि, सेवक और आत्मा इन पाँचों को अन्न नहीं देता है वह जीते हुए भी मरे के समान

है।¹⁰ यह आज भी सत्य है क्योंकि ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि ये सभी कुटुम्बियों में ही आशा करते रहे हैं। लेकिन जिस पंचयज्ञ का उल्लेख स्मृति ग्रंथों में किया गया है उसकी प्रासंगिकता पर आज संदेह के घेरे में है। किन्तु माता-पिता तथा गुरु की भक्ति करने वाला गृहस्थ निश्चित रूप से उच्च आदर्शों वाला होगा। आज भी इनके आशीर्वाद से ही बच्चे मनोनुकूल फल की प्राप्ति है। गृहस्थ के लिए धर्मपूर्वक धनोपार्जन करने, सत्यवादिता तथा आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन रहने की जो बातें कही गई हैं वह आज भी उचित हैं क्योंकि मनुष्य संतोषपूर्वक अपने जीवन को संचालित कर सके और असंतोष का त्याग कर सके। गृहस्थ आश्रम में सर्वाधिक महत्व संतान प्राप्ति द्वारा समाज वृद्धि में निहित था। इस आश्रम को ही मनुष्य के यज्ञ सम्पादन और पितृऋण से उऋण होने के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती थी।¹¹ आज के संदर्भ में ये दोनों बातें प्रासंगिकता का निर्वाह करने वाली हैं। इसलिए स्मृतिकारों ने कहा है कि गृहस्थी जीवन को पूर्णता में जीनेवाला व्यक्ति ही उच्च वानप्रस्थी और संन्यासी बन सकता है।

सूत्र काल प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वृद्धावस्था के प्रारम्भ हो जाने पर वह पारिवारिक जीवन का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। सूत्रकाल में अधिकांशतः ब्राह्मण ही वानप्रस्थाश्रम गये थे ये वृक्ष के नीचे रहते।¹² मृगचर्म या वृक्षों के छाल से निर्मित आच्छादान तन पर धारण करते।¹³ एवं स्वाध्याय में लीन रहते थे।¹⁴ ये पंचमहायज्ञ का सम्पादन भी करते थे।¹⁵ यद्यपि आज के संदर्भ में वानप्रस्थ आश्रम प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है लेकिन वानप्रस्थियों के लिए जो नियम प्रतिपादित किये गए थे कि मनुष्य को तीसरे चरण में सांसारिकता से अपने आपको विमुख कर देना चाहिए यह आज के युग में किसी भी दृष्टिकोण से तार्किक प्रतीत नहीं होता है।

आज परिवार की व्यवस्था में काफी परिवर्तन हो गया है। सामाजिक स्तरों पर भी पहले की तुलना में काफी अन्तर देखने को मिलते हैं। आज संयुक्त परिवार को सही दिशा-निर्देश देने के लिए तीसरे चरण के व्यक्तियों की अति आवश्यकता होती है। ताकि अपने अतीत को ध्यान में रखकर भविष्य का मार्ग प्रशस्त किया जा सके। अतः व्यक्ति के अनुभव से लाभ प्राप्त किया जा सके।

इसी तरह संन्यास आश्रम के बारे में जो स्मृतियों में कही गई है वह आज के युग में शायद ही सम्भव हो पाये। लेकिन सभी पदार्थों के प्रति मोह का त्याग, सभी प्राणियों पर दया, क्रोध असत्य से दूर रहना आदि जो निर्देश दिए गए हैं उनका पालन आज भी मनुष्य को अपने अंतिम समय तक करना चाहिए। इस प्रकार से रहकर ही मनुष्य सुखपूर्वक और चिंतनमुक्त होकर अपना शरीर त्याग कर सकता है।

इस तरह मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतिकारों ने आश्रम व्यवस्था को जिस रूप में प्रतिपादित किया है उनमें से अधिकांश तत्वों को आज युग में कुछ बदलाव के साथ

हमारे सामाजिक जीवन में प्रासंगिक बने हुए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि स्मृति ग्रंथों में मौलिक आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी प्रकार के अनुचित कार्यों को महत्व एवं स्थान नहीं दिया गया था। स्मृतिकारों के द्वारा आश्रम व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया गया है जिससे मानव जीवन की आवश्यकताओं में संतुलन कायम रहे। संसार की किसी सभ्यता में मनुष्य के जीवन का विभाजन इतने वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया था। गृहस्थ जीवन को परिष्कृत करने के लिए सोलह संस्कारों का विधान था जो आज भी मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक क्रमागत में चलता है।

आज भूमण्डीकरण और वैश्वीकरण के दौर में मनुष्य के जीवन में काफी बदलाव आया है। वर्तमान में मनुष्य की इच्छाएँ इतनी अनंत हो गयी हैं कि वह आमरण उसकी साथ नहीं छोड़ती। धर्म और मोक्ष पर अर्थ और काम ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। अतएव पुरुषार्थ अब दो ही रह गए हैं- अर्थ और काम। अब धर्म और मोक्ष की अभिलाषा मनुष्य से अतिदूर चला गया है। अतः मनुष्य को अपनी अस्तित्व को कायम रखने के लिए जीवन को सुव्यवस्थित ढंग से चलने के लिए धर्म एवं मोक्ष की महत्व को समझने की जरूरत है इसके बिना मनुष्य को मानसिक संतुष्टि और उसकी जीवन यात्रा अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती और न ही सच्ची मानवीयता का विकास हो सकता है अतः जरूरत है कि आज भी आश्रम व्यवस्था द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन कर उसकी प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. शशीअवस्थी; प्राचीन भारतीय समाज, पृ. 180
2. राजवली पाण्डेय- प्राचीन भारत, पृ. 71
3. सत्यकेतु विद्यालंकार- प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक, और आर्थिक जीवन, पृ. 191
4. वही- पूर्वोक्त - 191
5. जाबालोपनिषद- 6.38
6. बौधायन धर्मसूत्र - 62.6
7. मनुस्मृति- 2.175
8. मनुस्मृति- 1.184
9. गौतम धर्मसूत्र- 2.108
10. मनुस्मृति- 3.72
11. बौधायन धर्मसूत्र- 2.6.29.42
12. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.9.20
13. गौतम धर्म सूत्र- 3.34
14. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.9.22.91

बिहार में अगस्त क्रांति का स्वरूप : एक दृष्टि

विजय कुमार

यू.जी.सी. नेट, एल.एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर

1942 का अगस्त आन्दोलन कोई पूर्व नियोजित आन्दोलन नहीं था। इसकी रूपरेखा और संचालन राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में नहीं था। यह एक स्वतः स्फूर्त जन आन्दोलन था जिसमें मुख्यतः स्कूल, कॉलेजों के विद्यार्थियों, कृषकों और निम्न मध्यम वर्ग के लोगों ने भाग लिया था। यह आन्दोलन मुख्य रूप से बिहार, बंगाल और उत्तरप्रदेश में अधिक उग्र एवं हिंसात्मक था। 1942 का आन्दोलन 1920 के आन्दोलन से सर्वथा भिन्न था। आन्दोलन ने एकाएक हिंसात्मक रूप धारण कर लिया जो ब्रिटिश शासन के अत्याचार का परिणाम माना जा सकता है। 1942 का आन्दोलन भारत की आजादी में एक निर्णायक रूख अख्तियार कर लिया। जिस तरह 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में भी बिहार पीछे नहीं रहा, ठीक उसी प्रकार 1942 के स्वतंत्रता संग्राम में भी बिहार ने अग्रणी भूमिका निभायी। आन्दोलन का प्रथम चरण 1942 के अगस्त से सितम्बर के मध्य कुछ सप्ताह तक चला।¹ आन्दोलन के प्रथम चरण में जनता ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया लेकिन सरकार के दमनात्मक नीति और क्रूर दमन चक्र ने इसे दबा दिया। परन्तु आन्दोलनकारियों में साहस, वीरता और सहनशीलता का अभाव नहीं था वे डटे रहे। आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। इस तरह आन्दोलन का स्वरूप बदल गया।

आन्दोलन के पहले चरण को सरकार ने आसानी से दबा दिया लेकिन आन्दोलन का दूसरा चरण पहले चरण से निकटवर्ती सम्बंध रखते हुए अपने लक्ष्य प्राप्ति की ओर बढ़ता रहा। दूसरा चरण मुख्यतः गुरिल्ला संघर्ष के रूप में होता जिस पर इतिहासकारों का ध्यान कम हो गया है।² जय प्रकाश नारायण ने अपने मार्गदर्शन में भारत के सभी राजनीतिक दलों और गुप्तों से समर्थन प्राप्त कर आजाद दस्ता के माध्यम से अंग्रेजी सरकार को परेशानी में डालकर जनमानस को आन्दोलन के लिए उत्साहित किया। बिहार में 1942 के आन्दोलन को जयप्रकाश नारायण ने भूमिगत आन्दोलन के स्वरूप में बदल कर इसका सूत्रधार किये। अंग्रेजी विरासत के विरुद्ध जयप्रकाश नारायण ने पूरे देश का दौरा किया और क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रथम चरण की असफलता की समीक्षा करते हुए विद्यार्थियों, अमेरिकी सैनिकों तथा आजादी के सेनायायकों को पत्र लिखे तथा आग्रह किया कि आजादी की आन्दोलन में सहयोग करें। अपने क्रांतिकारी विचारों को भूमिगत होकर चलाने के उद्देश्य से ही जयप्रकाश नारायण ने नेपाल की तराई के बकरी का टापू में अखिल भारतीय आजाद दस्ता तथा बिहार प्रदेश दस्ता का गठन किया। यह दस्ता का मुख्य कार्य गुरिल्ला युद्ध प्रणाली को बढ़ावा देना था। आजाद दस्ता के प्रत्येक सदस्य अपने नाम के आगे

‘आजाद’ शब्द लगते थे।⁵ मार्च 1943 में राजविलास में प्रथम गुरिल्ला प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की गई। यहाँ बिहार के 25 नवयुवकों को राइफल एवं रिवाल्वर चलाने का प्रशिक्षण दिया गया। जल्द ही इसकी शाखाएँ बिहार के अन्य जिलों और दूर दराज क्षेत्रों में खोली गयी।⁶

गाँधी जी हर प्रकार के हिंसा और गुप्त कार्यवाहियों का विरोध किया करते थे लेकिन 1942 के आन्दोलन को अपनी लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए एक सभा में कहा कि “हमें अपनी आजादी के लिए लड़ना होगा क्योंकि आजादी आकाश से नहीं टपकेगी।”⁷ इन्होंने जयप्रकाश नारायण का समर्थन करते हुए कहा कि अगर ब्रिटिश सरकार हिंसात्मक तरीकों से लोकप्रिय आन्दोलनों का दमन करती है तो फिर अगर कुछ भारतीय इन्हीं तरीकों का सहारा लेकर अपनी स्वतंत्रता संग्राम से सम्बंधित आन्दोलन करना चाहते हैं तो इसकी भर्त्सना करने का अधिकार ब्रिटिश सरकार को नहीं है।⁸ इस तरह गाँधीजी के द्वारा दिये गए अपने विचारों ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत छोड़ो प्रस्ताव ने जयप्रकाश नारायण और सोशलिस्ट पार्टी की अपेक्षाओं को पूरा करने का एक रास्ता प्रदान किया।⁹ इसके बाद बिहार और झारखंड के कई जिलों में आजाद दस्ता का गठन अत्यंत अनुशासित तरीके से तथा पदक्रम के अनुसार किया गया।¹⁰ सूरज नारायण सिंह को बिहार आजाद दस्ता का अध्यक्ष बनाया गया। खुशलाल जो कि ब्रिटिश सेना का एक भगोड़ा सिपाही था उसे आजाद दस्ता के सैन्य परीक्षण का प्रमुख बनाया गया।¹¹ आजाद दस्ता के सदस्यों को प्रशिक्षित कर कुछ उद्देश्यों को लक्ष्य बनाकर पूरा करने की नीति अपनायी गई। ये उद्देश्य थे यातायात के साधनों को क्षति पहुँचाना, विदेशी औद्योगिक प्रतिष्ठानों को नुकसान पहुँचाना, संचार साधनों को नष्ट करना। इन उद्देश्यों को प्राप्त हेतु तीन तरह के उपायों पर बल दिया गया। (क) साधारण तोड़-फोड़ के लिए हथियारों और औजारों का प्रयोग। (ख) सरकारी फाइलों को नष्ट करना (ग) विस्फोटक सामग्री से मिलों, कार्यालयों को क्षति पहुँचाना। इस तरह गुप्त ढंग से जन आन्दोलन का अंग बनकर हिंसात्मक संघर्ष को आगे बढ़ाते रहे।

इससे पूर्व 11 अगस्त 1942 को पटना सचिवालय गोली काण्ड ने इतिहास रच दिया 11 अगस्त को सम्पूर्ण भारतवासियों के लिए अविस्मरणीय बना दिया। पटना सचिवालय पर झण्डा फहराने के प्रयास में 11 अगस्त 1942 को भारत की स्वतंत्रता की बलिबेदी पर बिहार के सात नौजवानों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। इनकी शहादत ने पूरे बिहार में आग लगा दी अपने बलिदान से बिहारवासियों के मन में आजादी की अलख जगा दिया।

सचिवालय शहीद कांड से प्रेरित होकर बिहार के कोने-कोने में आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। बिहटा रेलवे स्टेशन पर छात्रों ने ट्रेन रोका। सदिसोपुर रेलवे और नौबतपुर डाक बैंगला क्षतिग्रस्त कर दिये गए। पटना में आन्दोलन दिन-प्रति दिन उग्र रूप धारण करते जा रहा था। पटना में सैनिक कार्रवाई भी तेज कर दी गई। सेना का एक ब्रिगेड राँची से पटना बुलाया गया। पटना के कई छात्रावास एवं कॉलेज छावनी के रूप तब्दील कर दिये गए। पटना के गंगा किनारे स्टीमर पर भी सैनिक तैनात किये गए।

तिरहुत के क्षेत्र प्रारम्भ से ही साम्राज्यवादी हुकूमत के खिलाफ आग उगल रही थी। चम्पारण सत्याग्रह के दौरान ही तिरहुतवासियों ने अपनी अवाज को बहरे ब्रिटिश शासकों के कानों में पहुँचा दिया था। तिरहुत के सभी जिलों की स्थिति गम्भीर थी खासकर मुजफ्फरपुर में छात्रों की उत्तेजना सबसे ज्यादा थी। छात्रों ने 14 अगस्त को मुजफ्फरपुर से कुढ़नी स्टेशनों के बीच रेल की पटरियों को उखाड़ फेंका। कुढ़नी डाकघर को क्षति पहुँचाया गया। 15 अगस्त को छात्रों ने ग्रामीणों के सहयोग से कटरा थाना पर आक्रमण कर दी दारोगा सहित कुछ स्टेशन को जला दिया गया। साहेबगंज में छात्रों के द्वारा थाना पर काग्रेसी झंडा को लगा दिया गया। आवागमन के रास्ते में पड़ने वाले सभी पुल एवं पुलियों को तोड़ दिया गया। यहाँ तक कि थाने के लोग भी इस हिंसात्मक आन्दोलन के भय से बाहरी मदद की राह देख रहे थे।¹⁰ आन्दोलनकारियों के संचार के माध्यम को भी ध्वस्त कर दिया गया था। वर्तमान में नागरिकों पर सरकार का नियंत्रण समाप्त हो गया था।¹¹

हाजीपुर के एक शिक्षक ने अपने पद से त्यागपत्र देकर आन्दोलनकारियों का नेतृत्व कर रहे थे। हाजीपुर स्टेशन गोदाम-डाकघर को लूटा गया। आन्दोलनकारियों ने एक उपकारा पर हमला कर दिया और उन्नासी कैदियों को छुड़ा लिया। हाजीपुर के कई थाना ने काम करना बंद कर दिया। सीतामढ़ी रेलवे स्टेशन पर आन्दोलनकारियों ने तिरंगा झंडा फहरा दिया। सीतामढ़ी नगर थाने तथा सुरसंड एवं बेलसंड थाने के भवनों पर भी तिरंगा झंडा फहरा दिया गया। अंग्रेज सैनिकों ने बेलसंड थाना के अंतर्गत ग्राम छपरा में गोली चला कर सात छात्रों की हत्या कर दी जिसमें मंगल सिंह, भूपन सिंह, सहदेव सिंह, नौजत सिंह, बंशी ततमा, प्रसाद साह, सुन्दर महारा को मार दिया और इसमें 18 लोग घायल हुए।¹²

तिरहुत प्रमंडल में कई महीनों तक एक तरह जन राज्य चलाता रहा। चम्पारण जिला के अंतर्गत गोविंदगंज थाना में 'ऋषि दल' का संगठन किया और अपना राज्य कायम किया। इसका संगठन करने में श्री रामाश्रय दूबे का हाथ था। दूबे इस संगठन के अध्यक्ष थे। डाक व्यवस्था श्री नरसिंह दूबे और प्रचार विभाग श्री पारस नाथ वर्मा के हाथों में था। मोहम्मद ताहिर तोड़-फोड़ करने वाले दल का नेतृत्व करते थे।

दरभंगा अनुमंडल के विरौल थाना के रसियारी केन्द्र अगस्त के मध्य से सितम्बर तक जनता के नियंत्रण में रहा। 16 अगस्त को कुछ अन्य लोगों के साथ श्री लघुमन झा ने रसियारी के राजग्रुप को अपने नियंत्रण में ले लिया और उनका प्रशासन चलाने के लिए एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की। लगभग हर गाँव में पंचायतें एवं रक्षादल गठित किये गए, हर गाँव से केन्द्रीय समिति के लिए दो प्रतिनिधि भेजे जाते थे। पंचायतें एवं रक्षा दलों के द्वारा सिंधिया थाना में 17 अगस्त से 10 सितम्बर तक जनता ने अपने नेतृत्व में शासन चलाया।

सरकार द्वारा आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार कर जेल में डाला गया था लेकिन जो जेल से बाहर रह गये थे उनकी संख्या भी कम नहीं थी। इनके दो गिरोह थे, एक गिरोह था फरारों दूसरा गुप्त आन्दोलनकारियों का। फरार प्रायः वही थे जिसपर वारंट था। ये छिपे रूप में अपने गतिविधियों को संचालित करते थे। ये अपना नाम

बदलकर, स्थान बदलकर जनता के बीच उम्मीद की किरण को जगाकर उन्हें अपने संगठन में जोड़कर आजादी की लक्ष्य को प्राप्त करने का काम करते थे। मुंगेर तथा भागलपुर जिलों के बीच 'परशुराम दल' फरारों की मदद करता था तथा अंग्रेजों के विरुद्ध मोर्चाबंदी करता था। ये दल सरकार के तमाम क्रियाकलापों को स्थिर नहीं रहने देते थे। भागलपुर का 'सियाराम दल' धन एकत्र करना, हथियार की व्यवस्था करना, जनता को हथियार चलाने का ट्रेनिंग का काम करती थी।

अगस्त क्रांति अपने शुरूआती दौर में केवल शहरों तक सिमटा रहा किन्तु मध्य अगस्त तक यह गाँवों तक छा गया और धीरे-धीरे इसने ब्रिटिश सरकार के विरोध में तीव्र किसान विद्रोह का स्वरूप धारण का लिया। इस तरह आन्दोलन में भाग लेने वाले विद्रोहियों में कई वर्ग के लोग थे जो राष्ट्रीय भावना के उफान के साथ मिलकर लड़ रहे थे। अतः आन्दोलन एक ही धारा में आगे बढ़ रही थी। हेनिंघम जिस विश्लेषण की तलाश कर रहे थे वह आन्दोलन का आंतरिक पहलू है जो कई आयामों में बैठकर जटिल स्वरूप को धारण कर रहा था।

यह कहा जा सकता है कि 1942 का अगस्त क्रांति ने बिहार में मध्यवर्गी जनता, छात्र तथा किसानों ने आन्दोलन को तीव्रता प्रदान की, साथ ही साथ आन्दोलन को शहर से गाँव की ओर ले जाने में अहम् भूमिका निभाई। जय प्रकाश नारायण के आजाद दस्ता ने आन्दोलन को भूमिगत आंदोलन का स्वरूप प्रदान कर लम्बे समय तक आन्दोलन को चलाया। इस संघर्ष में हुई जनभागीदारी ने विश्व भर में भारत की स्वतंत्रता के लिए सकारात्मक जनमत तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस क्रम में बिहारवासियों की भूमिका महत्वपूर्ण और स्मरणीय है। बिहार तो जग चुका था लेकिन अन्य कई राज्यों अथवा अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी सत्ता के प्रति ऐसा विरोध इस काल में देखने को नहीं मिला।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. बिहार राज्य अभिलेखागार, बिहार गर्वन्मेंट सर्कुलर रिगार्डिंग सिविल डिसओबिडियंस - पृ. 37-39
2. विनीता दामोदरन, ब्रोकेन प्रामिस : पॉपुलर प्राटेस्ट इंडियन नेशनलिज्म एण्ड द कांग्रेस पार्टी इन बिहार पृ. 245-83
3. अरूण भुयन; द क्विट इंडिया मुवमेंट, नई दिल्ली 1975, पृ. 118
4. वही- पृ. 119
5. भी. बी. कार्तिक; द इंडियन ट्राइयूमफ़्ट : ए पॉलिटिक्स बायोग्राफी ऑफ गाँधी, नेहरू, पटेल 1959-पृ. 175
6. मार्टिन रीव्यू 1941- पृ. 431
7. बी. पट्टाभिरमैयूया, द हिस्ट्री ऑफ़ द इंडियन नेशनल कांग्रेस वा. 1- पृ. 46 364
8. होम पोलिटिकल, नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया, फाइल नं. 5.64.43
9. विनीता दामोदरन; पूर्वोक्त पृ. 263-69
10. के.के.दत्ता; हिस्ट्री ऑफ़ फ़्रीडम मुवमेंट इन बिहार वा. 3, पृ. 186
11. मुजफ्फरपुर के पुलिस अधीक्षक का रिपोर्ट।
12. के.के.दत्ता- पूर्वोक्त पृ. 187।

मानवेन्द्र नाथ राय के समाजवाद और अंतर्राष्ट्रीयवाद की अवधारणा

डा० अमृत कुमार

ग्राम-करचोलियाँ, पो०-वृत्त भगवानपुर, जिला-छपरा (सारण)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम भारत के महान सपूतों के त्याग एवं बलिदान की अमर गाथा है। गाँधी, नेहरू के अलावे एम.एन. राय जैसे व्यक्तियों ने अपने अथक प्रयासों से जनमानस को उद्वेलित किया और राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता को अपना ध्येय बनाया। वस्तुतः राय के राजनीतिक क्रियाकलापों एवं राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मुद्दों पर उनके चिंतन एवं विचार काफी अभिभूत करने वाले थे। भारत एवं भारत से बाहर विदेशों में इनके इतना विस्तृत एवं विशद कार्य बहुत कम नेताओं ने किया था। एम०एन० राय आधुनिक भारत के मौलिक चिंतकों में से एक हैं। इन्होंने भारतीय इतिहास, यूरोपीय इतिहास, पाश्चात्य विचारों, मार्क्सवाद, समकालीन भारतीय और विश्व की विविध समस्याओं का अध्ययन किया था साथ ही साथ इन्होंने उन विन्दुओं पर अपने वेबाक विचार भी व्यक्त किये थे। अपने स्वतंत्र चिंतन शैली के कारण यद्यपि कभी-कभी इन्हें अपने सहयोगियों की नाराजगी तक झेलनी पड़ी। इनके चिंतन पर मेकाइवर एवं लास्की के विचारों का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

एम०एन० राय का समाजवाद

एम०एन० राय ने प्रारम्भ में अपना सारा ध्यान नागरिकों के कर्तव्य की ओर लगाया। समाजवादी विचारधारा के अंतर्गत व्यक्ति सर्वप्रथम नागरिक होता है इसके बाद ही कुछ और। यही कारण है कि राय ने राष्ट्र के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों को प्रथम स्थान में रखा। राय के अनुसार जब व्यक्ति अपने नागरिक कर्तव्यों को पूरा करता है तभी उसके दूसरे अधिकार भी बनते हैं।¹ एम. एन. राय आर्थिक शोषण, सामाजिक, सांस्कृतिक पिछड़ेपन और आध्यात्मिक पतन के खात्मे के लिए वैज्ञानिक राजनीतिक पद्धति की स्थापना कराना चाहते थे।² इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने समाजवाद को सबसे उपयुक्त साधन माना। इन्होंने महसूस किया कि पूँजीवाद एक विकासशील एवं तर्कसंगत समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहा है।³ उनका मानना था कि पूँजीवाद ने मनुष्य को अत्यंत ही बिलासी और गम्भीर स्थिति में पहुँचा दिया है दूसरी तरफ किसी भी प्रकार का अधिनायकतंत्र आविर्छित और खतरनाक है अर्थात् ये मानव की स्वतंत्रता का हरण कर लेंगे तथा मानव समुदाय को दासता की ओर धकेल देंगे।

समाजवाद के प्रति उनका लगाव मैक्सिको के समाजवादी पार्टी से निकटता का प्रतिफल था।⁴ समाजवाद के प्रति अपने लगाव के कारण राय मार्क्सवादियों के निकट भी आए। उस समय तक राय ने समाजवाद और मार्क्सवाद को एक ही माना। परन्तु कुछ समय के बाद ही उन्होंने दोनों के बीच भारी अंतर पाया। जनसमस्याओं को दूर करने हेतु जिस समाजवाद की कल्पना की गई थी उसने नैतिक एवं बुद्धिजीवी जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी थी। मनुष्य सिर्फ रोटी के सहारे ही नहीं रह सकता। यह विचार कुछ समय के बाद राय के जेहन में आया।⁵ राय ने समाजवाद के पूर्व विकसित अन्य प्रकार के विचारों के इतिहास का अवलोकन किया। इस अवलोकन के उपरांत उन्होंने पाया कि कई विचार खास मानसिक दृष्टिकोणों की उपज थी। कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनके दिमाग में एक ही प्रकार के सोच को विकसित करने की आदत होती है जिन्होंने आचारशास्त्र, नैतिकता और सामाजिक व्यवहार की पूर्णरूपेण अवहेलना की।⁶ उन्होंने साधन और परिणाम के सम्बंध में भ्रांतियाँ उत्पन्न की।⁷ राय ने अपने समाजवादी व्यवस्था में मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था अर्थात् प्रचलित समाजवादी विचारों से सहमत नहीं थे वे ऐसा समाजवाद का विकास करना चाहते थे जिसमें व्यक्ति को समाज की एक स्वतंत्र इकाई माना गया हो। उन्होंने कहा कि जमीन और उद्योग-धन्धों पर शिकंजा जमाये बैठे निहित स्वार्थों को और साथ ही समिति व्यवस्था तथा निरंकुशवादी भारतीय रजवाड़ों की व्यवस्था को खत्म कर मुनाफे खड़े करने वाली मौजूदा व्यवस्था की जगह सहकारी सेवा के उच्चतर आदर्श को स्थापित करना होगा, राय ने इसे सहकारी समाजवाद का नाम दिया। सहकारी समाजवाद का सिद्धांत 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी' के सिद्धांत पर आधारित है। यदि किसी मनुष्य को ज्योंहि यह जानकारी होगी कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के क्षेत्रों में पड़ोसियों के साथ सहयोग से उसकी आय श्रम के अनुपात में बढ़ेगी ज्योंही वह सहकारी समाजवाद को प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार कर लेगा।

दूसरी तरफ मार्क्स या अन्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित समाजवाद मनुष्य को किसी भी क्षेत्र में स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता। सिर्फ आर्थिक स्वतंत्रता का एक पहलू कि रोटी की समस्या नहीं रहेगी का वचन देते हैं। लेकिन राय के सहकारी राष्ट्रमंडल में व्यक्ति को रोटी स्वतंत्रता की कीमत पर नहीं बल्कि इसलिए उपलब्ध होगी कि वह इसके लिए अन्य लोगों के साथ मिलकर प्रयास करता है। मनुष्य एक स्वतंत्रता प्रेमी, प्रेम साधक और सृजनकारी प्राणी है। वह किसी भी प्रभुत्व बंधन और आदेश के आगे समर्पण नहीं कर सकता। अतः राष्ट्रमंडल का यह दायित्व होगा कि वह प्रत्येक नागरिक को पंचायत के माध्यम से शासन में भागीदारी दे।⁸ राय यह कभी नहीं चाहते थे कि मनुष्य अपने विचारों को गिरवी रख कर आर्थिक स्वतंत्रता के लिए समझौता करें। इस प्रकार राय एक उदारवादी दर्शन और संगठित समाज की तमाम अच्छाइयों के साथ सहकारी समाजवाद का महल खड़ा करना चाहते थे। विश्व के इतिहास में समाजवाद का यह नया रूप था।⁹ राय को विश्वास था कि सहकारी समाजवाद एक तरफ तो साम्यवाद के पूरक के रूप में कार्य करेगा दूसरी तरफ यह पूँजीवाद का विकल्प सिद्ध होगा तथा सहकारी की सहायता से वर्तमान राजनीतिक संकट भी दूर होगा। व्यक्तिगत हित एवं सामूहिक हित के बीच टकराव को समाप्त

कर एक तार्किक समाज की स्थापना की जा सकेगी, जहाँ मनुष्य एवं मानव समुदाय को लाभ ही लाभ होगा।¹⁰ अतः एम.एन. राय इस क्षेत्र में विश्व के महान समाजवादियों की श्रेणियों में रखे जाते हैं।

एम० एन० राय का अंतर्राष्ट्रवाद

एम०एन०राय अंतर्राष्ट्रवाद के प्रबल पक्षधर एवं विश्व शांति के पुजारी थे। वर्तमान विश्व ज्वलंत राष्ट्रवाद की समस्या से पीड़ित है कोई भी मानवजाति की समस्याओं के प्रति चिंतित नहीं है विश्व छोटे-छोटे राष्ट्रीय सीमाओं में बँट चुका है और विश्व के एक इकाई का रूप धारण करने की कोई सम्भावना नहीं आती। परन्तु राय राष्ट्रवाद के विरुद्ध थे। उन्होंने चेतावनी दी कि राष्ट्रीयता के साथ चलना सच्चे अर्थों में मानव समुदाय द्वारा आत्महत्या का प्रयास है। लेकिन आज का यह अवधारणा व्यक्तिगत राष्ट्र को तो संकटग्रस्त बनाएगा ही साथ ही पूरे मानव जाति के भविष्य को भी तहस-नहस कर देगा।¹¹ राय के राष्ट्रवाद का विरोध एवं अंतर्राष्ट्रवाद का समर्थन के पिछे उनका तर्क था कि अंतर्राष्ट्रवाद, आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न प्रतिस्पर्द्धाओं को समाप्त कर देगा। राष्ट्रीय भावना का जब आर्थिक क्षेत्र में घुसपैठ करता है तो साम्राज्यवाद का विकास होता है। यह इतिहास के सर्वाधिक दुर्भाग्यशाली घटनाओं में से एक है। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को रोकने के लिए राष्ट्रीयता की भावना को रोकना आवश्यक है और समग्र विश्व के विकास के लिए आवश्यक है प्रत्येक राष्ट्र का मानव समुदाय को भी अपनी जिम्मेदारियों को समझना होगा।¹²

राय का मानना था कि अंतर्राष्ट्रीय समाज जब अपनी एकता को सुदृढ़ कर लेगी और अपनी विचारों को आर्थिक क्षेत्र में फैलायी तब राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के सामने समर्पण करना होगा। इस अविकसित और विकासशील देशों का साम्राज्यवादी शासकों द्वारा शोषक नहीं हो सकेगा। अंतर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना हो जाने से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में जो प्रतिस्पर्द्धा होती है उस पर अंकुश लगाया जा सकता है और आर्थिक मंदी की स्थिति और भंडारण के कारण जो भुखमरी उत्पन्न होती है उसे समाप्त किया जा सकता है। राय का विश्वास था कि विश्व गरीबी एवं बेरोजगारी पर पूर्णतया नियंत्रण पा सकता है या समग्र विश्व को एक इकाई माना जाए तथा राष्ट्रों को विघटित कर दिया जाए। उन्होंने राष्ट्र एवं राष्ट्रों के बीच के अंतर को नकारा तथा राष्ट्रीय कारणों से राष्ट्रों के बीच की दुर्भावना का विरोध किया। वे स्वयं को राष्ट्र का दुश्मन तक मानने को तैयार थे।¹³ राय का अंतर्राष्ट्रवाद उनकी आसाधारण प्रतिभा की महान् उत्पत्ति है। एक तरफ मनुष्य एवं दूसरी तरफ मानव समुदाय के बीच उनके अनुसार कोई दूसरा समझौता नहीं हो सकता है। उन्होंने व्यक्ति एवं अंतर्राष्ट्रीय समाज के विकास पर जोर दिया तथा उन्होंने कहा कि व्यक्ति ही मानव समुदाय का बीज है।

एम०एन० राय ने मानव और मानव समुदाय के बीच रंगभेद, जाति अथवा राष्ट्र के आधार पर किसी विभेद को नहीं माना। उनका कहना था कि लोग जिस शांति और एकता की खोज कर रहे हैं उसकी प्राप्ति राष्ट्रीय या भौगोलिक सीमा के अन्दर नहीं हो सकती। विश्व एकता के रास्ते में आनेवाली समस्याओं से वे अनभिज्ञ नहीं

थे। उन्होंने स्पष्टरूपेण यह महसूस किया था कि जनमानस एक होने के बदले विश्व के अधिकांश भागों में आंतरिक संघर्ष बढ़ते ही जा रहे हैं। राजनीतिक विकास तो हो रहे लेकिन ऐसी परिस्थितियों का निर्माण नहीं हो रहा जिससे वैश्विक एकता कायम किया जा सके। साम्यवाद भी मानव समुदाय को एक करने के लिए विकसित हुआ था लेकिन यह भी मानव समुदाय को बाँट रहा है। विभिन्न राष्ट्रों के मजदूर पूँजीवादी शासक के विरुद्ध एक नहीं हो रहे हैं। इसके बदले एक राष्ट्र के मजदूर एवं पूँजीपति दूसरे राष्ट्र के जनमानस एवं मजदूरों के विरुद्ध युद्ध करने हेतु हाथ मिला रहे हैं। राय साम्यवाद से इस बात को लेकर काफी दुःखी थे कि यह उपदेश तो अंतर्राष्ट्रवाद का देता है लेकिन व्यवहार में यह राष्ट्रवाद को बढ़ावा दे रहा था। राय का लेनिन से इन्हीं बातों के लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया था। वस्तुतः राय अंतर्राष्ट्रवाद से स्नेह रखते थे और सम्पूर्ण मानव समुदाय को एक परिवार के रूप में देखना चाहते थे। यहाँ हम स्पष्ट रूप से यह बताने का प्रयास करेंगे कि एम.एन. राय अपने चिन्तन धारा के अंतर्गत समाजवाद और अंतर्राष्ट्रवाद को धर्मनिरपेक्ष धरातल पर उपस्थित करना चाहते। उन्होंने जीवन एवं जगत से सम्बंधित सभी समस्याओं को वैज्ञानिक, तार्किक तथा बौद्धिक धरातल पर स्पष्ट करने की चेष्टा की। आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक संरचना में एम.एन. राय व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा को संकट की स्थिति में देखते हैं। इनके अनुसार अधिनायकतंत्र तथा संसदीय प्रजातंत्र ऐसी संकटपूर्ण स्थिति को प्रश्रय देने में समर्थ है। राजनीतिक अधिनायक तंत्र के अधीनस्थ पनपती हुई नियंत्रित आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक प्रगति, सामूहिक प्रगति तथा निपुणता के नाम पर वैचारिक स्वतंत्रता की अवहेलना करती है, यही कारण है कि समाजवादी व्यवस्था ने प्रजातंत्र में उच्च रूप की समानता समाप्त हो जाती है और ऐसी व्यवस्था में पलने वाली अधिनायक तंत्र, समाजवाद और अंतर्राष्ट्रवाद को नुकसान पहुँचाती है। अतः सम्पूर्ण विश्व के जनमानस के कल्याण तथा मानवता के अस्तित्व को कायम रखने के लिए एम.एन.राय के समाजवाद और अंतर्राष्ट्रवाद से सीख लेने की जरूरत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. के. सी. जेना; कॉन्ट्रीब्यूशन ऑफ मानवेन्द्र नाथ राय टू पॉलिटिकल फिलॉसफी- 1968, पृ. 64
2. एस. एन. राय; रायज मेमोरिज, पृ.-217-18
3. हग सेटॉन वाटसन, फ्राम लेनिन टू मेलागकॉम, न्यूयार्क 1954, पृ. 18-19
4. जी.पी. भट्टाचार्या; एम.एन.राय एण्ड रेडिकल ह्यूमनिज्म 1961, पृ. 5-8
5. एम.एन.राय; ए न्यू ओरिएंटेशन कलकत्ता, पृ. 2
6. एम.एन.राय; साइंटिफिक पॉलिटिक्स, पृ. 10-15
7. एस. एन. राय; रायज मेमोरिज, पृ. 120
8. के.सी. जेना; पूर्वोक्त पृ. 113
9. एम.एन. राय; रिजन रोमांटिसिज्म एण्ड रेभुलेशन कलकत्ता पृ. 66-69
10. एम.एन. राय; पॉलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टिज पृ. 22-23
11. के.सी.जेना, पूर्वोक्त पृ. 87
12. एम.एन. राय; नेशनल गर्वन्मेन्ट कलकत्ता-1946- पृ. 6
13. के.सी. जेना; पूर्वोक्त पृ. 92।

दलित समस्या एवं निदान के प्रयास : बिहार के संदर्भ में

शम्भू कुमार रजक

शिक्षक, मीनापुर, मुजफ्फरपुर

शोधार्थी, बी.आर.ए.बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारतीय धर्मशास्त्रों में वर्णित वर्णव्यवस्था भारतीय इतिहास की विशिष्टतम और विलक्षण सामाजिक संस्था है जिसके ताकत के बल पर आध्यात्मिक जगत के अग्रणी व्यक्ति एवं ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग, आर्य-अनार्य के मध्य श्रेणीकरण श्रम विभाजन करके समाज को श्रेणीबद्ध या दूसरे शब्दों में विघटित करने में सफल हुए। वर्ण एवं जाति भेद के कारण ही अस्पृश्य जनित गरीब, अशिक्षा, भुखमरी, बिमारी को नियति मानते हुए इसे पूर्वजन्म के दुष्कर्म के साथ जोड़ दिया और रही सही कसर शुद्र-दलित जाति के नियंत्रण के लिए कठोर नियम बनाकर मनु ने मनुस्मृति में पूरी कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति विभाजन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों तक पहुँच गया जिसके कारण दलित न सिर्फ मंदिरों बल्कि हर मानवीय सुविधाओं के प्रत्येक अवसर से वंचित हो गये।

दलित¹ शब्द वर्तमान में राजनीतिक अवधारणा बन गई है इस शब्द का सर्वप्रथम 1910 ई० में स्वामी अछूतानंद ने किया था जो 1960 के दशक से हरिजनों के लिए लगातार किया जा रहा है। 'दलित' से समाज के सबसे निम्नतम एवं पिछड़े लोगों का बोध होता है। समाज में इस वर्ग के सामाजिक कल्याण और उत्थान का धारणा का इतिहास दीर्घकालीन और अनवरत रहा है। वस्तुतः भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही विभिन्न समाज सुधारकों और समाज संस्थाओं ने दलित प्रश्नों को उठाना प्रारम्भ किया।

दलितों की गुलामी की शुरुआत हिन्दू समाज की उत्पत्ति के साथ ही हुई²। जिस पर आधुनिकीकरण का आज तक विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। आजादी के उपरांत संविधान के हस्तक्षेप के बावजूद भी दलितों पर अत्याचार के प्रतिवेदन प्राप्त होते रहते हैं।³ अभी भी दलितों के अवास, व्यवसाय, शैक्षणिक उन्नति, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था सामान्य आबादी से अलग रहे हैं। इनके बीच की खाई अभी तक पूर्णरूपेण पटी नहीं है।

लाख कोशिशों के बावजूद भी दलितों की अभिवृद्धि में उतनी कमी नहीं आई। हजारों वर्षों से दलित शोषण और उत्पीड़न के शिकार होते आ रहे हैं। इसके लिए दलित भी कम जिम्मेवार नहीं है। सारी पिछड़ी एवं दलित जातियों की शायद एकमात्र

कुंठा यह है कि इन्हें सामाजिक सम्मान पाने का अधिक से अधिक मनुवादी होने या ब्राह्मणीकरण में ही दिखाई देता है इन्हें कट्टर हिन्दू तत्व में शामिल हो जाना दलितों को सम्मान एवं समानता का भ्रम होता है। इस प्रक्रिया में ये अपनों से कट ही जाते हैं, स्वयं ऊँचे में भी स्वीकार्य नहीं हो पाते हैं। अपने भीतर के जातिवाद, ब्राह्मणवाद एवं मर्दवाद का विश्लेषण और उन्मूलन अगर दलित आन्दोलन नहीं करता तो इसकी सार्थकता में संदेह होने लगता है। लड़ाई भी सरकारी या गैर सरकारी संस्थाओं में नौकरी पाने की नहीं समाज के हर स्तर पर विशेषकर अपने समाज के भीतर लड़ी जाने वाली प्रक्रिया से भी है।⁴

प्राचीन काल से वर्तमान काल तक बिहार के दलितों की जीवन यात्रा पर अगर दृष्टिपात करें तो ऐसा ज्ञात होता है कि दलितों को अनेकानेक सामाजिक बंधनों, बर्बर अत्याचारों, हिन्दु शास्त्रों एवं धर्माचारों द्वारा खोदी गयी गहरी खाइयों से गुजरना पड़ा है। 21वीं शताब्दी में प्रवेश करने के बावजूद भी बिहारी दलित गुलामी की बेड़ियों से मुक्त नहीं हो पाये हैं। आजादी के 64 वर्षों के उपरान्त भी दलितों की समस्याएँ आज भी हिमालय की तरह अडिग हैं। स्वतंत्रता के बाद से ही सरकार द्वारा सभी क्षेत्रों में सुधार कार्य करने का प्रयास किया गया है परन्तु सफलता वहीं 'ढाक के तीन पात'। इसका मुख्य कारण है गरीबी और शिक्षा का अभाव।

आजादी के बाद बिहार में दलितों के जितने नेता उभरे उन्होंने सम्पूर्ण समुदाय को नहीं उठाकर सिर्फ अपने परिवार और रक्त संबंधी समूह तक ही केन्द्रीत रहे। फलतः लोकसभा और विधान सभा के चुनावों में इन दलित नेताओं ने अपने पुत्र-पुत्रियों और नजदीकी संगे संबंधियों को ही टिकट प्रदान किया। प्रदेश के दलित जातियों में दुसाध और रविदास जाति के ज्यादातर लोग लोकसभा और विधानसभा में चयनित होकर सत्ता पर काबिज हुए फिर भी इन दोनों जातियों का उत्थान संतोषजनक न होकर पूर्व की तरह ही यथावत् है।

आज हम दलित वर्ग संदर्भ में सामाजिक न्याय और राजनीतिक अधिकार पर विचार करें तो यह केवल आरक्षण तक सीमित हो गया है। सामाजिक न्याय और राजनीतिक अधिकार को प्राप्त करने की आरक्षण नीति एक शुरुआत हो सकती है परन्तु दलितों के सम्पूर्ण उत्थान इससे नहीं हो सकता। यदि हम दलितों का उत्थान चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि समाज में सामाजिक न्याय के साथ-साथ राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकार की स्थापना में मौलिक तत्वों को निःस्वार्थ भाव से इसकी रचनात्मक शुरुआत करनी होगी तथा समानता एवं भाईचारे की भावना को विकसित करनी होगी। साथ ही दलितों के भीतर उनकी अपनी अस्मिता के प्रति एहसास पैदा करने की जरूरत है तभी हम उनके लिए समूचित न्याय की बात कर सकेंगे।

आज भी समाज में व्यक्ति की पहचान उसकी जाति से हो रही है भारतीय के रूप में नहीं। देश में क्षेत्रीयतावाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकतावाद में वृद्धि के कारण

हमारा लोकतंत्र मूलतः जाति सम्प्रदाय में सिमटता जा रहा है। दलित आन्दोलन की एक बाधा में हमारे राजनीतिक दलों की भूमिका भी है। अनेक राजनीतिक दलों ने जाति, धर्म के आधार पर चुनावों को संचालित करके बिहार की समाज को एक जातिगत समाज बनाये रखने और दलित आन्दोलन की सफलता को संदिग्ध करके भारतीयता की जगह जातीयता को आगे लादकर भेद-भाव की खाई को और अधिक गहरा कर दिया है। वर्तमान में दलित आन्दोलन के नाम पर एक ऐसा आन्दोलन चलाया जा रहा है जिसका उद्देश्य कुछ विशेष नेताओं द्वारा अपने राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं और व्यक्तिगत लाभ को पूरा करना भर है।

यहाँ हम इस बात को स्पष्ट करते हुए दलितों के संदर्भ में यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि दलित समाज में केवल खामियाँ ही नहीं थी बल्कि इस वर्ग में कुछ विशिष्ट लक्षण भी थे जिसे आज के समाज इसे सहज रूप में अनुकरण करता दिखाई दे रहा है जैसे इनके बीच प्रचलित पर्दा प्रथा का न होना, सामूहिक श्रम करना, विधवा पुनर्विवाह, जनकल्याणकारी भावना, सामुहिकता में विश्वास करना इत्यादि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो सामाजिक रूप से उन्नत वर्गों में प्रचलित नहीं थे। आधुनिकता के दौर में महिलाओं में इसकी अहमियत बढ़ती जा रही है और इससे प्रेरणा लेकर सदियों से इनकी उपर लदी हुई सामाजिक कुरीतियों को तोड़ने में सफल रही है।

यद्यपि दलितों की दयनीय दशा को दूर करने का प्रयास समय-समय पर होते रहे किन्तु बुद्ध से लेकर नानक और दयानंद तक को इस विन्दू पर सम्पूर्ण सफलता नहीं मिली फिर भी अनेकों वर्षों के प्रयासों से इनमें जागरूकता एवं राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि हुई। 18वीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने आधुनिक भारत में सोचने-विचारने का एक नया मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने दलितों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य आपसी सौहार्द आदि पर बल दिया परन्तु इसका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार था।⁶ आज भी अविभाजित बिहार के (झारखंड के) कई जिलों में ऐसे मिशनरियों के द्वारा दलितों के उत्थान सम्बंधी कार्य संचालित किये जा रहे।

19वीं शताब्दी में राजाराम मोहन राय पहले आधुनिक सुधारक थे जिन्होंने जाति प्रथा और जाति भेदभाव के उन्मूलन के लिए ब्रह्म समाज⁷ के माध्यम से कार्य किये परन्तु परिणाम उत्साहवर्द्धक नहीं निकला। आर्य समाज के माध्यम से दयानंद सरस्वती ने भी दलितों की समस्याओं के उन्मूलन के काफी काम किये गए। परन्तु इनका प्रयास भी अपेक्षित परिणाम नहीं दे सका। 20वीं शताब्दी में कई मानवीय एवं विवेकशील परम्पराएँ शुरू हुई जिसके परिणामस्वरूप बिहार में भी दलित सुधार आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ।

1917 ई० दलितोत्थान के एक महत्वपूर्ण पुरोधा के रूप में महात्मा गाँधी का आगमन चम्पारण की धरती से आर्विभाव हुआ। चम्पारण का दलित आन्दोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में अद्वितीय महत्व रखता है यहीं से गाँधी जी

ने आर्थिक समानता को समाप्त करने और समाज के शुद्धिकरण के लिए कार्य करना शुरू किया। चम्पारण में ही गाँधी जी ने दलितों से कहा कि अपना खुद बनाना चाहिए जैसा ऊँची जाति के लोगों ने बनाया है।⁹

1927 के गाँधी के बिहार दौरे पर भी महिलाओं ने हरिजन फंड में दान दिये इसी वर्ष जब गाँधीजी ने हरिजन उद्धार कार्यक्रम में गोपालगंज जिले में आए तो महेन्द्र सिंह की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन किया गया था तथा इस सभा में लोगों से अपील की गई थी कि हरिजनों के सेवा के लिए दान देने की; तभी महेन्द्र सिंह की पुत्री रामसवारी देवी, और पुत्रवधु ने अपने बहुमूल्य गहने गाँधीजी को दान स्वरूप दे दिए।¹⁰ इस तरह गाँधी जी ने 1934 में भी हरिजनों के उद्धार सम्बंधी कार्यक्रम में शामिल होने के लिए बिहार का दौरा किया।

सरकारी स्तर पर भी दलितों में सुधार के लिए 1937 में श्रीकृष्ण सिंह के नेतृत्व में गठित बिहार मंत्रिमंडल ने दलितोत्थान के लिए कई रचनात्मक कदम और कई सुधारात्मक कानून लागू करने की चेष्टा की।¹¹ कांग्रेस ने बिहार सेफ्टी अधिनियम तथा मंत्री परिषद में व्यवस्थापिका और कार्यपालिक सम्बंधी कानून पारित कर दलितों एवं पिछड़ों की सामाजिक आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए प्रयास किया। सरकार द्वारा दलितों में शिक्षा के प्रचार प्रसार के साथ निःशुल्क कृषि प्रशिक्षण के लिए महाविद्यालयों में दलित छात्रों को प्राथमिकता दी गई। सरकार ने मधुमक्खी पालन, लाह उद्योग के माध्यम से दलितों के उत्थान का प्रयास किया।¹²

26 जनवरी 1950 को देश में नया संविधान लागू किया गया। इसमें दलितों के हितों की सुरक्षा के लिए कई अधिनियम बनाए गए। धारा 330 के अनुसार निश्चित वर्ग के लिए विशेष व्यवस्था की गई तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जन जातियों के लिए लोकसभा में स्थान आरक्षित किये गए। धारा 332 के अधीन राज्य विधान सभाओं में स्थान आरक्षित किये गए। इसी प्रकार धारा 335 के अंतर्गत सरकारी नौकरियों में भी इनके लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई।

बिहार का दलित समुदाय भारत के दलित समुदाय के समान कई छोटे-छोटे समूहों में बँटा है। बिहार के दलित 23 उपजातियों या समूहों में बँटे हैं जिससे संयुक्त रूप से कार्य योजना बनाना संघर्षशील होना आदि नामुमकिन है। कई जिलों में दलितों, खास-खास दलितों को जागरूक करने के लिए अलग-अलग स्वयंसेवी संगठन कार्य कर रहे हैं। जैसे मुसहर समुदाय को जागरूक करने के लिए मुसहर सेवा संघ कार्य कर रहा है।

बिहार देश का पहला राज्य है जहाँ दलित समाज से वंचित वर्ग को महादलित का नाम देकर मुख्य धारा में जोड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार ने महादलित आयोग¹³ का गठन कर इन्हें विशेष आर्थिक सुविधा देने यथा जमीन आवंटित करने, आवास देने, कम ब्याज पर ऋण देने तथा इनके बच्चों को शिक्षा प्राप्ति के लिए जागरूक करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इनमें राष्ट्रीयता के भावना के संचार हेतु

पिछले वर्ष स्वाधीनता दिवस के अवसर पर पटना जिले 45 महादलित टोले-मोहल्ले में 15 अगस्त 2011 को प्रशासनिक पदाधिकारियों की देख-रेख में वरिष्ठ महादलित व्यक्तियों से झंडा फहराया गया एवं आजादी के महत्व से इनका परिचय करवाया गया।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के पश्चात् संवैधानिक संरक्षण एवं आर्थिक विकास के महत्वाकांक्षी कार्यक्रमों के साकारात्मक परिणाम तो सामने आये हैं लेकिन आजादी के 64 वर्षों के बाद भी भारतीय लोकतंत्र में जातिभेद समाप्त नहीं हो सका। इस परिपेक्ष्य में बिहार भी पीछे नहीं है। सरकारी प्रयासों के परिणामस्वरूप काफी संख्या में दलितों ने तो अपनी स्थिति सुधारने में सफलता पायी लेकिन अभी भी अधिकांश दलित सरकारी संरक्षण से वंचित है तथा सरकारी अवसर का लाभ वे ही दलित बार-बार उठा रहे हैं जो पहले से ही लाभान्वित हैं।¹⁴

हमें लगता है कि दलित मुक्ति आन्दोलन का मूल्यांकन उपर्युक्त तथ्यों की ऐतिहासिकता और सामाजिक भूमिका के आधार पर समग्रता से किया जाना चाहिए। इसलिए दलितों के समग्र मुक्ति के लिए इतिहास और भूगोल, अतीत और वर्तमान विस्तार एवं गहराई के सभी मोर्चा पर लड़ने की आवश्यकता है। हमें सुनना उन्हें है जिनकी आवाज कभी और कहीं सूनी ही नहीं गई- इसलिए प्राथमिकता में दलितों को ही अपनी मुक्ति के लिए आगे आना होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. राजेन्द्र यादव; हंस, सत्ता विमर्श और दलित, नई दिल्ली, अगस्त 2004
2. आर. एस. शर्मा; शूद्राज इन एशियेंट इंडिया, पृ० 27
3. आर.सी.अग्रवाल; भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन- पृ. 33
4. राजेन्द्र यादव; पूर्वोक्त पृ. 08
5. परिषद दृष्टि विधान परिषद बिहार अंक-2 1990- पृ. 22
6. जे. आर. काम्बले; राइज एण्ड अवेकनिकिंग ऑफ डिप्रेस क्लासेज इन इंडिया नई दिल्ली 1979-पृ. 124
7. बी.एल.ग्रोवर एण्ड यशपाल; आधुनिक भारत का इतिहास- पृ. 271
8. वही- पृ. 273
9. के.के.दत्त; फ्रीडम मुवमेंट इन बिहार, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी- पटना भाग-2 पृ. 324
10. उमानाथ : महान सेवक महेन्द्र नाथ सिंह 1985-पृ.12
11. योगेश्वर पासवान; इकनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ सिडुल कास्ट इन बिहार - दरभंगा भाग-1, 1955 पृ. 79
12. वही- पृ. 98
13. बिहार सरकार रिपोर्ट कार्ड-2007, पृ. 8
14. प्रसन्न कुमार चौधरी एवं श्रीकांत- बिहार के सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम- वाणी प्रकाशन।

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति

(15वीं शताब्दी ई. पू. से 10वीं शताब्दी ई.वी. तक)

लक्ष्मी कुमारी

शोधकर्ता

किसी भी सभ्यता के आत्मा को समझने तथा उसकी उपलब्धि एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने का सर्वोत्तम आधार उसमें स्त्रियों की दशा का अध्ययन करना है। स्त्रियों की स्थिति किसी भी देश की संस्कृति का मानदंड मानी जाती है। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को जानने के लिए हमें इन कालों के साक्ष्यों, साहित्यों आदि का अवलोकन करना पड़ता है। जिसके अध्ययन करने के फलस्वरूप हम यह पाते हैं कि प्रारंभिक अवस्था में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थी, उन्हें पूजनीय माना जाता था, परंतु बाद के कालों में अर्थात् जिस तरह कालों की अवस्था में परिवर्तन आता गया ठीक उसी तरह से स्त्रियों की दशा में भी परिवर्तन आता गया और हम देखते हैं कि आगे के अवस्था में स्त्रियों की स्थिति में सुधार की जगह गिरावट आती जा रही है। वैदिक काल में उनकी स्थिति परवर्ती काल के सापेक्ष काफी अच्छी थी। इन बिन्दुओं पर प्रकाश डालने के लिए हमें विभिन्न पहलुओं को देखना होगा।

प्रारंभिक दशा

अनेक साहित्यों के अध्ययन के फलस्वरूप हम पाते हैं कि प्राचीन अवस्था में हिन्दु सभ्यता में स्त्रियों को अत्यंत गरिमापूर्ण और आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भारत की प्राचीनतम सभ्यता (सैधव सभ्यता) में धर्म में माता को देवी के समान सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है, उस समय के समाज में इसे उन्नत स्त्री दशा का सूचक माना जा सकता है। ऋग्वैदिक काल में भी समाज ने स्त्रियों को आदरपूर्ण स्थान दिया है। उस समय में स्त्रियों को पुरुषों के समान धार्मिक और सामाजिक अधिकार दिये गये हैं। वैदिक काल में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता था। दंपति घर के संयुक्त अधिकारी होते थे। भले ही वैदिक काल में समाज पितृसत्तात्मक था, फिर भी स्त्रियों की जितनी प्रतिष्ठा उस समय थी, उतनी बाद के किसी भी समय में नहीं रही। बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन में उसे पत्नी, पुत्री (दुहिता) तथा माता के रूप में सम्मान दिया जाता था। इस समय कन्याओं को समान रूप से उच्च शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि अध्ययन के

फलस्वरूप हम यह पाते हैं कि कहीं-कहीं कन्या के नाम पर चिंता व्यक्त की गयी है, तथापि कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ पिता विदुषी एवं योग्य कन्याओं की प्राप्ति के लिए विशेष धार्मिक अनुष्ठान करते थे। कन्याओं का उपनयन संस्कार भी होता था और वे भी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थी। वैदिक काल में अनेक ऐसी विदुषी और दार्शनिक थी, जिन्होंने कई मंत्रों और ऋचाओं की रचना भी की है।

विश्वरा को “ब्रह्मवादिनी” तथा “मंत्रद्रष्ट्री” कहा गया है, जिसने ऋग्वेद के एक स्तोत्र की रचना की थी। घोषा लोपा, मुद्रा, शाश्वती, अपाला, इंद्राणी, सिकता आदि ऐसे विदुषी स्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है जो वैदिक मंत्रों तथा स्तोत्रों की रचयिता हैं। इस काल में कन्याओं का विवाह प्रायः 15-16 वर्ष की आयु में होता था और इस प्रकार उन्हें अध्ययन का प्रयाप्त अवकाश मिल जाता था। इस समय समाज में सती तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था, परंतु कुछ दृष्टियों में स्त्रियों को अनुपयुक्त माना गया है, जैसे- उन्हें संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया है और वे शासन के योग्य भी नहीं थी।

वैदिक काल में स्त्रियों को संपत्ति और शासन के अधिकारों से वंचित रखने के लिए कुछ विशेष कारण को उत्तरदायी माना गया था। संपत्ति के अधिकार में उन्हें भू-संपत्ति और धन संबंधी अधिकार दोनों से वंचित रखा गया है। उन्हें उस समय भू-संपत्ति के अधिकार से इसलिए वंचित रखा गया, क्योंकि भू-स्वामित्व बलपूर्वक प्राप्त किये जाते थे और प्राप्त किये हुए भू-स्वामित्व को शत्रुओं से बचाकर रखना होता था। चूँकि यह कार्य स्त्री के वश का नहीं था। अतः उन्हें भू-संपत्ति के अधिकारों की मान्यता नहीं मिली। इसके साथ-साथ उन्हें धन-संबंधी अधिकारों से भी वंचित रखा गया, क्योंकि लोगों का यह मानना था कि स्त्रियाँ बलपूर्वक कोई कार्य नहीं कर सकती हैं। अतः वे धनों की रक्षा किस प्रकार करेंगी। अतः इन सब कारणों से उन्हें धन संबंधी अधिकार नहीं प्राप्त हुए। इसी प्रकार की असमर्थता शासन के क्षेत्र में भी थी, चूँकि उस समय आर्य एक विदेशी भूमि में क्रमशः अपने राज्य को स्थापित कर रहे थे और उनके शत्रुओं की संख्या भी अधिक थी। अतः ऐसी स्थिति में शासन संबंधी अधिकार स्त्री को देना, उनके नवगठित राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त नहीं था।

इस तरह से हम देखते हैं कि वैदिक काल में स्त्रियों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी, सिवाय संपत्ति एवं शासन संबंधी अधिकारों के। लेकिन राजपूत काल तक आते-आते उनकी स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका था। समय के प्रवाह के साथ देखते हैं कि स्त्री की शिक्षा में कुछ गिरावट आती है। कन्याओं को गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने की जो प्रथा थी वह समाप्त हो जाती है और वे घर पर ही अपने पिता, भाई या चाचा से शिक्षा ग्रहण करती थी। ऐसी स्थिति में केवल कुलीन परिवार की

स्त्रियाँ ही शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। इसी तरह की स्थिति उनकी वैवाहिक संबंधी अधिकारों में भी देखा जाता है। पहले जैसे व्यस्क होने पर कन्या का विवाह होता था और कभी-कभी वे स्वयं अपने इच्छानुसार पति को चुनती थी। क्षत्रिय समाज में जो स्वयंवर की प्रथा थी और इस समय जो सती प्रथा का अभाव था और विधवा विवाह होते थे तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन भी नहीं था, अब इन सब के स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है।

अब इनका विवाह यौवनावस्था से पूर्व होने लगता है। अनेक प्रकार के विवाहों में केवल चार प्रकार के विवाह ही मान्य रह जाते हैं- **ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य विवाह**। स्त्रियों का अब उपनयन संस्कार भी बंद हो जाता है और विवाह के अतिरिक्त उनसे संबंधित अन्य संस्कारों में वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं होता था। कन्याओं की विवाह की आयु भी घटा दी जाती है जिसके कारण उन्हें शिक्षा ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। ईसवी सन् के प्रथमार्ध तक अधिकांश कन्याओं का विधिवत् उपनयन औपचारिकता मात्र रह गया तथा इसे विवाह के कुछ पूर्व संपादित कर दिया जाता था। आगे के कालों में देखा जाता है कि इसे पूर्णतया बंद कर दिया गया तथा अब विवाह को ही उपनयन का विकल्प मान लिया गया। अब कन्याओं के विवाह के आयु में कमी हो जाती है पहले जो कन्याओं का विवाह व्यस्क होने पर होता था, अब कन्याओं का विवाह नौ से बारह वर्ष तक की आयु में किया जाने लगा। उपनयन संस्कारों के अभाव में कन्या की स्थिति शूद्रों की श्रेणी में की जाने लगी। देखा जाता है कि संपूर्ण प्राचीनकाल में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती है, लगातार उनकी स्थिति में गिरावट आती जाती है।

सूत्रों के काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। वशिष्ठ के अनुसार “स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है। बचपन में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र उनकी रक्षा करते हैं।” मनु आदि कुछ अन्य स्मृतिकारों ने भी इस मत का समर्थन किया है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि पति के दुराचारी तथा चरित्रहीन होने की दशा में भी पत्नी का कर्तव्य है कि वह देवता के समान उसकी पूजा करे।

ईसा पूर्व दुसरी शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी तक का समय उत्तरी भारत में विदेशी आक्रमणों का काल रहा जिससे समाज में भारी अव्यवस्था फैल गयी। इसने स्त्रियों की स्थिति को प्रभावित किया। नियोग तथा पुनर्विवाह की प्रथायें बंद हो गयी। प्रारंभिक काल में नियोग प्रथा मातृत्वसुख के लिए एक अनोखी प्रथा थी। अगर आधुनिक दृष्टि या फिर उसके बाद के कालों की दृष्टि से देखा जाये तो इस प्रथा को हेय की दृष्टि से देखा जाता है और स्त्री के चरित्र पर उँगली उठाता है। परन्तु मातृत्व सुख की दृष्टि से देखा जाये तो शायद यह प्रथा कुछ गलत नहीं थी और उस समय के कालों के लिए यह प्रथा स्त्रियों के लिए जरूरी भी था। संपत्तियों

पर स्त्रियों का आधिपत्य नहीं था और इसके साथ-साथ उस समय का समाज पुरुष प्रधान था। अतः जिस स्त्री को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती थी और जो विधवा होती थी, उन स्त्रियों का इन चीजों के अभाव में जीवन यापन करना बहुत ही कठिन होता था। नियोग प्रथा के द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार की गई। अतः यह प्रथा शायद उस समय के लिए उचित थी, परंतु बाद के कालों में इन प्रथाओं को बंद कर दिया गया। स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह करने के स्थान पर संन्यास द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया, जिससे समाज में सती प्रथा का भी प्रचलन हो गया और इसे एक महान धार्मिक यज्ञ बताया गया। इससे स्त्रियों की दशा और खराब हो गयी, किंतु एक दिशा में स्त्री की दशा में सुधार हुआ, वह है संपत्ति का अधिकार। वैदिक काल में उसे संपत्ति अधिकार प्रदान नहीं किये गये थे। अब पुनर्विवाहों के अभाव में विधवा एवं पुत्रहीन स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। अतः उनके धन संबंधी अधिकारों को मान्यता देना प्रारंभ किया एवं क्रमशः उनका यह अधिकार मान्य हो गया। अतः देखते हैं कि आगे के कालों में स्त्रियों की दशा निरंतर पतनोमुख होती गयी। एक मात्र उसके धन संबंधी अधिकारों को ही समाज में मान्यता प्रदान की गयी। 12वीं शदी तक आते-आते संपूर्ण देश में विधवा के मृत पति का उत्तराधिकारी होने का सिद्धांत व्यवहारिक रूपों से स्वीकार कर लिया गया। स्त्री की स्वयं की संपत्ति जिसके ऊपर उसका पूरा अधिकार होता था “स्त्री धन” कहा गया। किंतु जीवन के अन्य क्षेत्रों में उनकी दशा पूर्ववत् दयनीय बनी रही। उपनयन की समाप्ति एवं बाल विवाह के प्रचलन ने उसे समाज में अत्यंत निम्न स्थिति में ला दिया। विधवा विवाह बंद हो गया तथा सती प्रथा का राजपूत कुलों में विशेष प्रचलन हो गया। राजपूत वंशों के कन्याओं का विवाह 14 या 15 वर्ष की आयु में होता था। कई कन्याओं को संरक्षिका के रूप में शासन भार भी ग्रहण करना पड़ता था, अतः उन्हें प्रशासनिक एवं सैनिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इससे उनके विवाहों की आयु में कुछ वृद्धि हुई, किंतु अशासकीय परिवारों की कन्याओं का विवाह अल्पायु में ही होता था।

सती प्रथा

सती प्रथा का प्रारंभ भारतीय समाज में चतुर्थ शदी ईसा पूर्व के बाद किसी समय हुआ होगा। वैदिक समाज में सती प्रथा प्रचलित नहीं थी तथा विधवा विवाह द्वारा स्त्रियाँ अपना घर बसाती थी। ब्राह्मण साहित्य तथा गृह सूत्रों में भी इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। धर्म सूत्रों तथा प्रारंभिक स्मृतियों से भी सती प्रथा के प्रचलित होने का संकेत नहीं मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चतुर्थ शदी तक सती प्रथा का प्रचलन भारतीय समाज में नहीं था। पुराणों में कुछ स्त्री के सती होने का उल्लेख मिलता है। इससे यह पता चलता है कि चतुर्थ शदी ईसवी के लगभग जब पुराणों का वर्तमान स्वरूप निर्धारित हो रहा था, तो सती प्रथा समाज में आधार प्राप्त कर रही थी। ऐसे सती प्रथा के प्रचलन का प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य गुप्तकाल का 510 ई०

के ऐरण लेख में मिलता है। इससे यह पता चलता है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त का मित्र गोपराज हूणों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया तथा उसकी पत्नी अग्नि में जल मरी थी। **हर्षचरित** से भी पता चलता है कि प्रभाकर वर्धन की पत्नी यशोमती अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही सती हो गयी थी। इसी तरह से और अन्य कई ऐसे साक्ष्य हैं जिससे यह पता चलता है कि सती प्रथा उस समय उच्च वर्ग से संबंधित थी। यह कुप्रथा प्राचीन काल में कभी भी आम जन जीवन को प्रभावित नहीं कर सका। सातवीं से ग्यारहवीं शदी तक के काल में उत्तरी भारत में यह प्रथा काफी प्रचलित हो गयी। कश्मीर में इसका काफी प्रचार-प्रसार हुआ। **कल्हण** की राजतरंगिणी से सती प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राजकुल में इसका व्यापक प्रचलन था। यहाँ तक की शासकों के रखैल तथा वेश्यायें तक सती होती थी। इस प्रथा को ब्राह्मण परिवारों के लिए निषिद्ध बताया गया, किंतु दसवीं शदी से हम ब्राह्मणों में भी इस प्रथा का प्रचलन पाते हैं।

बारहवीं शदी के बाद राजपूत कुलों में सती प्रथा का अत्याधिक प्रचलन शुरू हो गया। जिसे बाद के कालों में अर्थात् मुगल शासक अकबर ने इसे रोकने का प्रयास किया किंतु उसे सफलता नहीं मिली। अंततः 19वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के दौरान राजाराम मोहन राय के प्रयास से लॉर्ड विलियम बेंटिक के समय में 1829 में कानून बनाकर इस कुप्रथा को बंद कर दिया गया।

पर्दा प्रथा

इस प्रथा का प्रचलन भारत में कब से शुरू हुआ, यह विद्वानों में प्रायः विवाद का विषय रहा है, परंतु यह स्पष्ट है कि वैदिक युग के समय पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। उस समय स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक सार्वजनिक स्थानों में विचरण करती थी तथा पुरुषों के समान शिक्षायें भी प्राप्त करती थी। स्त्री के लिए इस समय **सभावती** शब्द का भी प्रयोग किया गया है जो इस बात का सूचक है कि समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। अनुमानतः हिन्दु समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन मौर्योत्तर काल के समय से प्रचलित होती हुई दिखाई पड़ती है। राजकुलों में हमें इसका विशेष चलन देखने को मिलता है, जहाँ महिलाओं को सार्वजनिक दृष्टि से बचाने के लिए पर्दा प्रथा धारण करने की संस्तुति की गई। भास की रचना **स्वपनवासवदत्ता** को इस प्रथा का प्रथम साहित्यिक प्रमाण माना गया। जिसमें बार-बार पर्दा शब्द का उल्लेख किया गया है। इस नाटक के अनुसार राजा उद्ययन की पत्नी पद्मावती राज दरबार में उपस्थित राजदूतों के समक्ष आने से ऐतराज कर रही थी, लेकिन शासक ने अपनी पत्नी को समझाया की आमलोगों के लिए पर्दा है। आप शासक की पत्नी हैं, राजनीति की जरूरत है, आप मेरे साथ स्वागत को चलेगी। आप बाकई पर्दा करेगी तो लोग खराब मानेंगे, यह अन्यों के लिए पर्दा है। अतः स्वपनवासवदत्ता में बार-बार उल्लेखित पर्दा प्रथा को ठोस साक्ष्य माना गया और यह माना गया कि मौर्योत्तर

काल के दौर से हिन्दुओं में पर्दा प्रथा था। भवभूति तथा माघ की रचनाओं से भी पर्दा प्रथा के प्रचलित होने की सूचना मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तीसरी शदी के लगभग से समाज के कुलीन या राजकूल की स्त्रियाँ में पर्दा का प्रचलन था और इसका अनुकरण समाज के सामान्य परिवार में भी किया जाने लगा। कभी-कभी इस समय कन्याओं के द्वारा पर्दा धारण करने का विरोध करते हुए पाया गया है। **ललितविस्तार** से पता चलता है कि बुद्ध की पत्नी गोपा ने अपने मुँह पर घुँघट डालने का यह कहते हुए विरोध किया कि शुद्ध विचार वालों के लिए बाहरी आवरण की आवश्यकता नहीं होती है। अतः इन विचारों के कारण पर्दा प्रथा का प्रचलन व्यापक रूप से नहीं हो पाया तथा यह कुछ परिवारों तक ही सीमित के रह गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारहवीं शदी के पूर्व हिन्दु समाज में पर्दे का व्यापक रूप से प्रचलन नहीं हो सका। वस्तुतः इसका प्रचलन इसके बाद भी हुआ।

ऐसा लगता है कि पर्दा प्रथा का व्यापक रूप से प्रचलन मुस्लिम आक्रमण के प्रभाव से हुआ, जिसका कड़ाई से पालन मुस्लिम समाज में किया जाता था। इस प्रथा को ग्रहण करने के पीछे इनके प्रति सुरक्षा की भावना थी। इस समय बड़े संख्याओं में विदेशी लोगों का प्रवेश हुआ था जो मुस्लिम शासक एवं सैनिक हिन्दु स्त्रियों पर बुरी नजर रखते थे। अतः इन्हें इनसे बचाने के लिए पर्दे का उपयोग हुआ। इस काल की हिन्दु महिलाओं ने भी इसका विरोध नहीं किया। बारहवीं शदी के उपरोक्त हिन्दु समाज में पर्दा प्रथा का व्यापक रूप से प्रचलन हो गया।

देवदासी प्रथा

प्राचीन भारतीय समाज में देवदासी प्रथा का भी प्रचलन था। इस प्रथा का प्रचलन गुप्तोत्तर काल से शुरू हुआ। देवदासियों का कार्य देव मंदिर को भव्यता एवं आकर्षण प्रदान करना, महत्वपूर्ण अवसर पर एवं उत्सव पर सामुदायिक रूप से देवताओं के सम्मुख अपनी कला को प्रस्तुत करना अर्थात् नृत्य और गायन प्रस्तुत करना था। चूँकि मंदिरों के निर्माण का साक्ष्य गुप्तकाल से मिलता है और गुप्तोत्तर काल में मंदिर निर्माण में और तेजी आयी। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि देवदासी के उभरने की गुंजाईस गुप्ता के बाद हुई होगी।

धार्मिक स्थिति

प्राचीन ग्रंथों में स्त्रियों को काफी प्रतिष्ठित किया गया है। यद्यपि कुछ ग्रंथ तथा लेखक उनके चरित्र के दोष देखते हुए उनकी कटु आलोचना करते हैं तथापि शास्त्रों और महाकाव्यों में स्त्री के महत्वपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा मिलती है। वैदिक काल में उसे पुरुषों के साथ ही सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा मिली। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी बताया गया है। महाभारत के अनुसार गृहिणी की वस्तुतः गृह कही जाती है। गृहिणी के बिना गृह अरण्य के समान है। स्त्रियों की सदा पूजा करनी

चाहिए। जहाँ स्त्रियों का सम्मान है वहाँ सभी देवता प्रसन्न रहते हैं तथा जहाँ उसका अपमान है वहाँ सभी क्रियायें निरर्थक हो जाती हैं। माता के रूप में स्त्री को भूमि से भी गुरुत्तर बताया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दु समाज में स्त्रियों के प्रति सामान्यतः उदार एवं आदरपूर्ण विचार अपनाये गये। माता के रूप में उसकी महिमा अति महान थी। मनु के अनुसार “माता का पद पिता से भी बढ़कर होता है”। महाभारत में पत्नी को त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम का मूल कहा गया है। हिन्दु समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा इसी तथ्य से स्पष्ट है कि देव समूह में देवियों की उपासना सर्व प्रचलित है तथा अनेक प्रसिद्ध देवताओं के नाम के पूर्व देवियों के नाम संयुक्त मिलते हैं, जैसे-लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि।

अतः अंततः हम देखते हैं कि पूरे प्राचीन भारत में अर्थात् वैदिक काल से लेकर राजपूत काल तक स्त्री की स्थिति में लगातार उतार-चढ़ाव आते रहे हैं, जिस तरह प्रकृति के स्वरूप में परिवर्तन होते रहते हैं ठीक उसी तरह से स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन हो रहे थे। हाँ, यह अलग बात है कि स्त्रियों की स्थिति प्रारंभिक कालों की अपेक्षा बाद के काल में सुधरने के जगह उनकी स्थिति में गिरावट आ रही थी। बस एक ही चीज में उनकी स्थिति अच्छी थी और वह थी संपत्ति का अधिकार, बाकि बाद के चीजों में उनकी स्थिति खराब होती जा रही थी। उन्हें हर सुख-सुविधाओं से वंचित कर दिया गया था। बस उन्हें घर के सजावट के रूप में उपयोग किया जा रहा था और उनका अस्तित्व तभी तक था जब तक उसके पति जीवित रहते थे। पति के मृत्यु प्राप्त करने के साथ उसे भी उनके साथ सती होना पड़ता था। उनकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी। अगर कोई इच्छा उत्पन्न होती थी तो उन्हें दबा दिया जाता था। अतः पूरी बारिकी से अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष यही निकलता है कि स्त्रियों की स्थिति सामान्यतः शूद्रों के समान हो गई थी। बस उनका काम शूद्रों के समान सेवा करना था, जो देखा जाये तो उचित नहीं था।

संदर्भ

1. प्राचीन भारत का परिचय- राम शरण शर्मा
2. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति- राम शरण शर्मा
3. प्राचीन भारत का इतिहास- झा एण्ड श्री माली
4. मौर्य साम्राज्य का इतिहास- सत्यकेतु विद्यालंकार
5. प्राचीन भारत- एल.पी. शर्मा
6. प्राचीन भारत का इतिहास- त्रिपाठी
7. नंद मौर्ययुगीन भारत- शास्त्री नीलकण्ठ
8. द कैब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया- ई.आर.रैप्सन संपादित
9. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास- पाण्डेय बी.सी.
10. भारतीय दर्शन- चट्टोपाध्याय एवं दत्त।

धर्म की विसंगतियाँ एवं चुनौतियाँ

कुमार रमेश चन्द्र प्रसाद

विभागाध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, सुमित्रा महिला महाविद्यालय
डुमराँव (बक्सर)

स्वभावतः धर्म सर्व कालावच्छिन्न सर्वदेशावच्छिन्न किन्तु सर्व भूतहितैरताः से व्युत्पन्न प्रकाश स्वरूप अनंत सम्पूर्णता से पूर्ण अस्तित्व है। इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न असंगत सा प्रतीत होता है कि यह विसंगतियों एवम् चुनौतियों से ग्रस्त है। इसका कारण तथाकथित धर्म के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि प्रथमतः धर्म को सम्प्रदाय मान लिया गया, द्वितीयतः किसी व्यक्ति विशेष द्वारा स्थापित या स्वीकृत हो गया, तृतीयतः, सामाजिक नियमों में रूढ़ हो गया इत्यादि। धर्म की चर्चा के क्रम में यह स्पष्ट हो चुका है कि धर्म अस्तित्व का प्रकाशमान विस्तार है। इसलिए इसके साथ किसी विसंगति या चुनौती का प्रश्न नहीं है, किन्तु तथाकथित हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, इसाई धर्म, राष्ट्र धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म के लम्बे इतिहास में गतिरोध की व्यथित रेखायें यह सोचने के लिए विवश करती हैं कि कहीं-कहीं धर्म में विसंगतियाँ हैं।

संसार जैसा कि हम जानते हैं, विभिन्न तत्वों के विशेष कालावधि में मिलने से निसर्पन्न हुआ है। वैदिक काल से लेकर समकालीन तक क्रमशः एक से छब्बीस तत्व तक की गणना सृष्टि सम्पादन में की जाती है। कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि इन तत्वों से निसर्पन्न संसार अनंत अज्ञेय कैसे हो जाता है? प्रश्न यह होना चाहिए कि मनुष्य उस अनन्त परमात्मा से बिछुड़ा हुआ जीव है और वह उसकी खोज में प्रारम्भ काल से ही प्रयासरत है। वैदिक एवम् औपनिषदिक ऋषियों ने मनुष्य के इस प्रयास को स्वभाविक धार्मिक प्रश्न कहा है। वैदिक ऋषियों ने इस प्रयास को और इस प्रयास से प्राप्त होने वाले देदिव्यमान प्रकाश को धर्म की संज्ञा दी है। यह धर्म इन्द्रियों, बुद्धि, मन से अज्ञात और अज्ञेय है। इसलिए इसको मानवीय ज्ञानावित प्रयास से ज्ञात किया जाता है। मानव का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदिकाल से मनुष्य इस प्रयास में लगा हुआ है।

उपर्युक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म मनुष्य की आभ्यान्तरिक उर्जा का रूपान्तरण है और मनुष्य किसी भी परिस्थिति में चाहकर भी धर्म का त्याग नहीं कर सकता है। काम्टे के अनुसार- “सम्पूर्ण अस्तित्व धर्म के अन्तर्गत है तथा धर्म का इतिहास मानव विकास के सम्पूर्ण इतिहास को चित्रित करता है।” मनुष्य की चिंतनशीलता उसको धर्म की स्वाभाविक लक्षणों से समयानुसार अवगत कराते रहेगी। धर्म से संबंधित सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि अगर धर्म सृष्टि के प्रारम्भ काल से विद्यमान है तो फिर यह संसार इतना विकृत क्यों हुआ? शोध प्रबंध के इस अध्याय में विसंगतियों एवं चुनौतियों को देखने का शैशव प्रयास किया जा रहा है। दार्शनिक भाषा में कहा जाता है कि यह व्यक्त वर्तमान अव्यक्त का एक अंश मात्र है। इसलिए धर्म को विभिन्न प्रक्षेपित भूमिकाओं से निकलने का प्रयास विभिन्न कालों में हुआ

है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म अपने स्वाभाविक गति से क्रियाशील रहता है। व्यवहारिक जीवन, उपयोग, सदुपयोग, भोग एवं उपयोग का बहुआयामी रेखांकित है। उपयोगिता ही व्यवहारिक जीवन का प्रमाण पत्र है। लेकिन धर्म जो शाश्वतता का प्रतीक है क्या इसके व्यवहारिक प्रमाण की आवश्यकता है? धर्म के नाम पर जो साम्प्रदायिक धर्म खड़े हुए उनकी व्यवहारिक उपयोगिता की चर्चा की जा सकती है। धर्म स्वयम् में पूर्ण एवं सम्पूर्ण है। इसलिए इसका व्यवहारिक सदुपयोग मायावी आँखों से दिखलाई नहीं पड़ सकता है। करोड़ों वर्षों तक सामाजिक संरचना के पश्चात् इसे विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने सुख सुविधा के अनेकानेक साधनों की उपलब्धता की है। लेकिन क्या वर्षों पहले मनुष्य जितना सुखी था, क्या वह आज उतना है? अट्टालिकाएँ बताती हैं कि कहीं न कहीं खाई खुदी है। सुखोपभोग प्रतिद्वन्द्विता के सिद्धान्त पर आश्रित है। धर्म सम्पूर्णता एवं सहभागिता के सिद्धान्त का चिराग है। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि उर्जा की मात्रा में वृद्धि नहीं होती। इसलिए साधनों के बढ़ने से सुख बढ़ेगा यह जरूरी नहीं है। इस समस्या के निदान के लिए हमारे वैदिककालीन ऋषियों ने धर्म तत्व का अन्वेषण किया। उनका मानना है कि धर्म यदि अपने स्वाभाविक रूप में उपस्थित हो जाय तो विश्वमानव कल्याण से पूरित हो जायेगा।

प्रश्न यह है कि धर्म की स्थापना का लक्ष्य क्या है? क्या यह इर्ष्या, द्वेष, मोह, माया, मत्सर इत्यादि को दूर कर सकता है? सबसे बड़ा प्रश्न जो प्रायः पूछा जाता है कि क्या धर्म हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। दर्शन देखने की विशिष्ट विधि का नाम भी है। यदि हम पक्षपात रहित एवम् सत्य दृष्टि से विचार करें तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि धर्म मानवता की स्थापना का ही दूसरा नाम है। प्रत्यक्षतः धर्म रोटी, कपड़ा और मकान नहीं दे सकता, लेकिन यह मनुष्य को शाश्वत जीवन प्रदान तो कर ही सकता है। इन्द्रिय सुख मानवता का लक्ष्य नहीं हो सकता। मानव का लक्ष्य सत्य की खोज रहा है और इस सत्य की खोज में वह सदैव से क्रियाशील है और वह धर्म का साक्षात्कार करने में भी सफल हुआ है। हाँ, इतना जरूर है कि इस परिधि में उदाहरणास्वरूप कुछ नाम ही स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

धर्म के लिए सबसे बड़ा चुनौतीपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रायः लोग कहते हैं कि उन्हें दैवीय प्रेरणा मिली है। हिन्दू सन्तों, महात्माओं, ऋषियों, मुस्लिम धर्म के संस्थापक पैगम्बर साहब, इसाई धर्म के प्रवर्तक जीसस क्राइस्ट, कन्फ्यूसीयस, महात्मा बुद्ध, महावीर, गुरु गोरखनाथ, स्वामी परमहंस, महर्षि रमण आदि अनेक ऐतिहासिक नाम हैं जिन्हें दैवीय प्रेरणा मिली है। किसी विशेष धर्म की स्थापना के लिए इसे क्या कहा जाएगा। दैवीय प्रेरणा के नाम पर छोटी-छोटी घटनाएँ भी सुनने में आती हैं मनोविज्ञान एवं पारामनोविज्ञान के आधुनिक अन्वेषणों पर विचार करें तो उपयुक्त तथ्यों में कुछ स्पष्टता होती है मनोवैज्ञानिक यह आविष्कार करते हैं कि यह एक जन्मजात प्रकृति है और दूसरा दिव्य स्फूर्ण। कुछ ऐसी असमान्य मनोदशाएँ होती हैं, जो दिव्यस्फूर्ण जैसा प्रतीत होती है लेकिन उनके साथ ऐसा नहीं है। इसी दिव्य स्फूर्ण के साथ एक और चुनौतीपूर्ण प्रश्न है। वैदिक ऋषियों को दिव्य वाणी, देवभाषा संस्कृत में प्राप्त

होती है जो जीसस क्राइस्ट को आंग्ल-भाषा में, पैगम्बर साहब को आरबी भाषा में इलहाम होता है, ऐसा क्यों? धर्म के समक्ष कुछ ऐसी चुनौतियाँ हैं जिसपर विचार करने का प्रयास किया जाएगा।

धर्म के मूल स्रोत अंतः स्फूर्ण है, लेकिन इस अंतः स्फूर्ण की संवेदना में आध्यात्मिक उलझन है। इसलिए ऐसी स्थितियों में सबसे बड़ा खतरा धर्म के साथ सम्भावित है। कुछ ऐसे लोग मिल जाते हैं जो कहते हैं कि उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है। ऐसे कथनों को तर्क की कसौटी पर कैसे कसा जाएगा? दर्शनशास्त्र या अध्यात्मशास्त्र इस बात को स्वीकार करता है कि कोई भी क्रिया विश्व में सर्वत्र होती है। क्योंकि विश्व सामंजस्यपूर्ण है। इसलिए दैवीय प्रेरणा या आकाशवाणी जैसी आपातित संभावनाएँ धर्म के लिए चुनौतीपूर्ण हैं। यहाँ पर सद्ग्रन्थ के सिद्धान्त सफल नहीं हो पाते और पुनः हमें धर्म के मूल तत्व व्यक्तिगत अनुभव अर्थात् आत्मानुभूति का सहारा लेना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि धर्म जीवन की वस्तु है यह वर्तमान है, यह न अतीत है न भविष्य, वर्तमानता धर्म का तार्किक लक्ष्य है। दिव्य-स्फूर्ण धार्मिकता का मूलभूत तत्व है। यह धर्मस्थलों या सद्ग्रन्थों से प्राप्त नहीं होता बल्कि मानव आत्मा से इसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

धर्म के सहज स्वभाविक यथार्थ स्वरूप को समझना अति आवश्यक है। इन्हीं भ्रांतियों के कारण धर्म कुछ विचारकों एवं विद्वानों के द्वारा अनर्थ का कारण बन जाता है। भारत के प्रसिद्ध भौतिकवादी दार्शनिक चार्वाक ने धर्म को शोषण का आधार बतलाया और कहा कि वैदिक ब्राह्मणवाद पुरोहितों के स्वार्थ साधन का मार्ग है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड इसे मनोवैज्ञानिक विचलन मानते हुए भ्रान्त की संज्ञा देता है। उनका मानना है कि मनुष्य अपने दरिद्रता, दुर्बलता एवम् असहाय अवस्था की पूर्ति के लिए धर्म की शरण में जाता है। साम्यवादी विचारक कार्ल मार्क्स इसे अफिम की संज्ञा देते हैं और इसे यथास्थित वाद को बनाये रखने का साधन बतलाते हैं। मार्क्स के अनुसार- “धर्म सताए हुए प्राणी की सिसकी है, निर्दयी विश्व का हृदय है, नितान्त ही अध्यात्म विरोधी परिस्थितियों की भावना हैं यह गरीबों की अफीम है।” प्रो. ओ. जेम्स के अनुसार- “प्रत्येक संगठन के समय में धर्म की वह शक्ति है जो व्यक्तिगत या सामूहिक स्तर पर उत्पन्न असंगठन और विरोध को दूर करके एकता तथा सहयोग की भावना उत्पन्न करती है तथा मानव जीवन और रचित्र को पवित्र करती है।”² समकालीन भारतीय विचारक प्रो. डी. पी. चट्टोपाध्याय का मानना है कि धर्म म्यान की तरह है, जो सामाजिक संगठन और विज्ञान के निर्माण को अवरुद्ध करता है। वह ऐसा भ्रम पैदा करता है जिससे वास्तविक निर्माण को खतरा पैदा होता है। इन्हीं के शब्दों में “विज्ञान के द्वारा सम्भव हुई शहरी क्रान्ति का दुरुपयोग अन्धविश्वास ने किया। किसानों और कारीगरों के उपलब्धियों का असली लाभ पुरोहितों एवं राजाओं ने उठाया।”³

धर्म के लम्बे इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह विभिन्न प्रकार के अनर्थों का जड़ है। हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ अयोध्या और मथुरा जो भगवान श्रीराम एवं भगवान श्रीकृष्ण की जन्म स्थली है के नाम पर समय-समय पर हत्यायें,

दंगे और संघर्ष होते रहते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक रसेल ने भी यह माना है कि धर्म के नाम पर हत्याएँ और दंगे होते हैं। यह धर्म के सामने बहुत विसंगतिपूर्ण और चुनौती भरा प्रसंग है। यदि हम शान्तचित् एवं मनोयोगपूर्ण ढंग से विचार करें तो धर्म का सम्बन्ध इन तथ्यों से नहीं है। धर्म शब्द की व्याख्या प्रथम अध्याय में की गई है और यह बतलाया गया है कि धर्म योग्यता को धारण करने का नाम है। यह सामंजस्यता एवं एकत्व की प्रतिमूर्ति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म व्यक्ति समाज और राष्ट्र में सद्गुणों के विकास को कहा जाता है। इसलिए धर्म या धर्म तत्व को विसंगतियों और चुनौतियों का सामना तो करना है, लेकिन कमलवत्। इसीलिए कहा गया है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' इससे यह स्पष्ट होता है कि वास्तविक धर्म उच्चतर कर्म भावना एवम् ज्ञान का प्रतीक है। अर्थात् उच्चतम सत्ता के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण ही धर्म का आन्तरिक लक्ष्य है और यहीं पर धर्म के अन्तर्गत कुछ ऐसे तत्व प्रवेश करते हैं जो धर्म के लिए चुनौती बन जाते हैं। मानवीय जीवन का यह वृहत्तर एवं उच्च पक्ष है, जब वह असीम के प्रति समर्पित होता है। समर्पण के इस दौर में अंधविश्वास, रूढ़ीवादिता, दूसरे धर्मों के प्रति अनास्था का बीजारोपण होता है। इस संबंध में राधाकृष्णन का विचार उल्लेखनीय है राधाकृष्णन के अनुसार— "हिन्दू धर्म किसी एक धर्म विश्वास या एक धर्मग्रन्थ या एक पैगम्बर या एक संस्थापक के साथ जुड़ा हुआ नहीं है अपितु यह तो एक निरन्तर नवीन होते हुए अनुभव के आधार पर सत्ता की निरन्तर और आग्रहपूर्ण खोज है। हिन्दू धर्म परमात्मा के विषय में निरन्तर विकासमान मानवीय विचार है। प्रकाश चाहे किसी भी दीप से क्यों न निकल रहा हो अच्छा है। जैसे गुलाब सुन्दर ही होता है चाहे किसी भी उद्यान में क्यों न खिला हुआ हो।"⁴ प्रत्येक जीव में शीवत्व या देवत्व या ईश्वरत्व का वास है, उसी का प्रकाशन या अभिव्यक्ति धर्म का मूल स्वरूप है। अगर इस यथार्थ का परिपालन एवं अनुप्राणन दैनन्दिनी जीवन में होता रहे तो भ्रम शंका एवम् चुनौती का प्रश्न कहाँ उठता है। इसलिए धर्म में विसंगतियाँ एवं चुनौतियाँ बाह्य व्यवहारों के गलत आरोपण से होती हैं।

धर्म के इतिहास पर दृष्टि निक्षेप करने से यह प्रतीत होता है कि विभिन्न विद्वानों एवं विचारकों ने इसे विभिन्न प्रकार से देखने का प्रयास किया है। धर्म का प्राचीनतम लिखित रूप जादू, टोना, अंधविश्वास की संकीर्णताओं से होता है। विश्व के विभिन्न धर्मों में वह विभिन्न प्रकार से निरूपित होते रहा है। लेकिन वास्तविक तथ्य तो यह है कि धर्म के दो पक्ष दृष्टिगत होते हैं एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक पक्ष मानव के उच्चतम संस्कृति अर्थात् आत्मोपलब्धि से संबंधित है और बाह्य पक्ष इस आत्मोपलब्धि के विभिन्न प्रकार के साधन एवं कर्मों से। इस बाह्य स्वरूप के रूप में कर्मकाण्ड को सम्मिलित करने के कारण इसमें विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कर्मकाण्ड के विभिन्न तौर तरीके हैं। यह धर्म का आकस्मिक पक्ष है हालांकि मीमांसा दर्शन इसका पक्षपाती है। मीमांसा के दार्शनिक कर्मकाण्डीय दार्शनिक पक्ष का मैं विरोध नहीं कर रहा हूँ किन्तु इतना ध्यान दिया जाना चाहिए कि आकस्मिकता, वास्तविकता न बन जाए। इसे सौभाग्य नहीं समझा जाना चाहिए कि कोई भूमी को

दाना समझ लो। धर्म में बहुत सारी भ्रान्तियाँ मेरी समझ में इसी कारण प्रतीत होती हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि धर्म के वास्तविक स्वरूप को सम्पूर्णतः कोई कर्मकाण्ड दूषित नहीं कर सकता लेकिन इसका आश्रय लेकर अराजक तत्वों द्वारा समाज में संघर्ष, दंगा, हत्या का जो नंगानृत्य प्रस्तुत किया जा सकता है। क्या वह धर्म का दोष है, कतई नहीं वह तो धर्म का दुरुपयोग है। इसलिए सबका प्रयास होना चाहिए कि धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझें और उसके अनुकूल आचरण करें।

समाज व्यक्तियों का समूह है। व्यक्ति महत्वाकांक्षी होते हैं। महत्वाकांक्षा का दामन जब आकाश को चुमने लगता है तो विभिन्न प्रकार के उपद्रव शुरू होते हैं। महत्वाकांक्षा एवं वर्चस्व की गंगोत्री धर्म के नाम पर बहाई जाने लगती है। इसमें अगुआ होते हैं कभी राजनैतिक नेता तो कभी धार्मिक नेता तो कभी अन्य। ये तथाकथित नेतागण अपनी रोटि सेकने के लिए धर्म का चीरहरण करते हैं। लेकिन इस भारत में महाभारत के श्रीकृष्ण तो उपस्थित नहीं होंगे और धर्म का विकृत रूप समाज के सामने उपस्थित होता है। इसी कारण धार्मिक एकता, धार्मिक सहिष्णुता, सर्वधर्म समभाव की विस्तृत चर्चा समकालीन दार्शनिकों ने की है जिसमें प्रमुख हैं स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, डॉ. राधाकृष्णन आदि।

विश्व में विभिन्न प्रकार के धर्म विश्व धर्म के रूप में स्वीकृत हैं। उनके मानने वालों में बहुत प्रकार के धार्मिक भाषागत एवं अन्य अन्तर हैं। लेकिन सभी धर्मों में मानवता का बीज मन्त्र उपलब्ध है। हिन्दू धर्मशास्त्र यह मानता है कि मनुष्य गर्भावस्था से लेकर श्मशान तक धर्म के साये में जीता है। विज्ञान अतीत में भी था आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। विज्ञान की अपनी सीमा रेखा है जबकि धर्म सम्पूर्णतया विस्तारित है। हाँ विज्ञान अन्धविश्वास को दूर करने में धर्म की मदद कर सकता है। लेकिन धर्म सम्पूर्णतया विस्तारित है। धर्म के वास्तविक रूप को समझने वाले व्यक्ति के लिए अन्धविश्वास के जगह कहाँ है। इसलिए विभिन्न धर्म ज्ञाताओं ने धर्म को अपना स्वअस्तित्व स्वीकार करने में कोई असंगति बात प्रतीत नहीं होती है। अगर विज्ञान के एकांगी विचारों को अपना कर धर्म की व्याख्या की जाएगी तो बौद्धिक विसंगतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। विज्ञान हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लिए बहुत उपयोगी है। विज्ञान के उपयोगी पक्ष को भौतिक जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है, यह आवश्यक है भी लेकिन वह इसका बाह्य पक्ष है यह हमेशा स्मरण होना चाहिए। विज्ञान हमें सुविधा भोगी या सुखवादी बना सकता है। उसमें धार्मिक मूल्यों की जगह नहीं है। इसलिए जीवन को चैतन्य एवं स्वचैतन्य बनाने के लिए धर्म के आध्यात्मिक पक्ष को अनुभूति करना आवश्यक है। ऐसा नहीं होने के कारण ही धार्मिक मूल्यों का संकट उत्पन्न होता है जो वस्तुतः जीवन मूल्यों का संकट है, धर्म का नहीं। जीवन से धर्म नहीं चलता धर्म से जीवन चलता है। जीवन के उदात्त मूल्य धर्म से आते हैं, विज्ञान से नहीं। इसलिए जीवन मूल्य के संकट को धर्म की चुनौती नहीं समझा जाना चाहिए।

विज्ञान की अत्यधिक प्रगति ने धार्मिक मूल्यों को भौतिक आवरण प्रदान कर दिया है। जिससे सद्गुण का अस्तित्व प्रश्नचिन्ह बन गया है। सद्गुण सहः अस्तित्व

एवं विश्वबन्धुत्व का प्रकाशन है। इसलिए हम देखते हैं कि भौतिकता के उस धरातल पर मनुष्य या राष्ट्र भी कभी-कभी पंगु हो जाते हैं। विश्व विजेता महान सिकंदर भी नंगे फकीर, दण्डायन के समक्ष आत्मग्लानि महसूस करता है। इसलिए यह युक्ति “धर्म की महत्ता इससे भी स्पष्ट विदित होती है कि मानवीय इतिहास में किसी न किसी रूप में धर्म की मान्यता प्रत्येक काल, स्थान व समाज में रही है। आज भी ऐसा बताया जा रहा है कि मानव समाज की आर्थिक राजनैतिक व अन्य बुराइयों का कारण धर्म की उपेक्षा है। यह कहा जाता है कि वर्तमान यात्रिक युग में मनुष्य स्वयं यंत्रवत हो गया है और वह अपने धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन को भूल रहा है। धर्म की मानवीय व्यवहार का ऐसा अंग है कि जिसमें साम्प्रदायिक भेद होते हुए भी मनुष्य को एक ऊँचे आदर्शमय जीवन का भान होता है, जिसके द्वारा वह अमरता प्राप्त कर सकता है।”

धर्म अपने यथार्थ स्वरूप में किसी भी विसंगति एवं चुनौती का शिकार नहीं है। ऐतिहासिकता अर्थात् देश-काल, परिस्थितियाँ एवं तत्कालीन समय में आने वाले तथाकथित नेत्र वर्ग इस प्रकार की विसंगतियों का भ्रम पैदा करते हैं। इसलिए प्रस्तुत शोध प्रबंध में इस अध्याय का महत्व इस तथ्यगत महत्व में है कि धर्म आरोपित विसंगतियों से ग्रस्त है।

धर्म सनातन एवं शाश्वत तथ्य है जिसका बाह्य रूप समयानुसार परिवर्तित होते रहता है। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है कि धर्म व्यक्ति विशेष, समाज विशेष, राष्ट्र विशेष का धरोहर नहीं है, बल्कि यह मानव का सनातन मूल्य है। धर्म तर्क, बुद्धि का विरोधी नहीं लेकिन इनसे परे अवश्य है। इसलिए मनुष्य का धर्म विश्वजनित होना चाहिए। इसमें शाश्वत नैतिक मूल्य एवं सदगुणों का अनुशीलन आवश्यक है। इसलिए दार्शनिकों ने नैतिकता को धर्म का प्राण कहा है। नैतिकता धर्म का बाह्य पक्ष है जिसका परिपालन आवश्यक है। इसलिए धर्म केवल बाह्य विधि नहीं बल्कि बाह्य और अंतरंग दोनों का समन्वित विकास रूप है, जिसे मानव लक्ष्य के रूप में साधित कर सकता है। धर्म में व्यक्तिगत साधना और व्यक्तिगत अनुभूति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति का आचरण व्यक्तिगत साधना से ही पुनीत हो सकता है। लेकिन यह व्यक्तिगत साधना आत्मकेन्द्रीत की भावना से परे होनी चाहिए। बुद्ध ने आत्मज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् आजीवन मानवहित में लगे रहे। गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानस में स्पष्ट लिखा है:

“परहित सरिस धरम नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहीं अधमाई”॥

आज भूमण्डलीकरण का दौर है। इस भूमण्डलीकरण को भौतिक साधनों द्वारा सम्भव बनाने का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन भौतिक भूमण्डलीकरण मानवीय मूल्यों के जागृत नहीं कर सकता। इसके लिए ‘आत्मवत् सर्व भूतेसु’ के मंत्र को आत्मसात करना होगा। यह ‘आत्मवत् सर्व भूतेसु’ वेदान्त का धर्म है। इस पर हम एक ऐसा धर्म बना सकते हैं जिसमें विश्व के सभी आत्म चेतन प्राणी एवं जड़ कहे जाने वाले पदार्थों को सम्मिलित किया जा सकता है। इसलिए धर्म श्रद्धा, आस्था एवम्

विश्वास पर आधारित हो इसमें विवाद की आवश्यकता नहीं है। लेकिन अगर धर्म को अनुभूति का विषय बना दिया जाय तो विवाद स्वतः समाप्त हो जायेगा। धर्म एक उच्चस्तरीय मानसिक यथार्थ कल्पना है। इसे अनंत की संज्ञा दी गई है। यह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में परिव्याप्त है। इसलिए मानव जीवन का लक्ष्य सत्य की खोज है और सत्य की खोज धर्म के मार्ग पर चलकर की जा सकती है। यह इन्द्रियों से परे जाने का विज्ञान है। यह अज्ञेय को भी ज्ञात कराता है। ऐसे विषय को विसंगतियों से कैसे जोड़ा जा सकता है।

धर्म को विभिन्न आरोप प्रत्यारोप का सामना वस्तुतः परम्परा और सत्य में भ्रम की उपस्थिति के कारण भी करना पड़ा है। किन्तु हम जानते हैं कि कोई भी धर्म मानवीय मूल्यों का विकास क्रम है। इसका अभिष्ट मानवता की उपलब्धि है। इसलिए परम्पराएँ त्याज्य या दूषित नहीं हैं। अगर उनमें सत्य की संस्कृति विद्यमान है तो वे अनुकरणीय हैं। ईश्वर केवल सत्य और सत्य है। इसलिए जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ धर्म है। इसलिए धर्म को परम्परा कहकर त्याग देना उचित नहीं है। धर्म न जाति है न रंग है बल्कि वह यथार्थ की अनुभूति है। यह बौद्धिक व्याख्यान भी नहीं है। इसीलिए धार्मिक अनुभूति को धार्मिक ज्ञान द्वारा व्यक्त किया जाता है आधुनिक विकसित धर्मों पर आदिम धर्म की परम्परा के प्रभाव को डॉ. राधाकृष्णन ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है “मानव शास्त्र हमें बताता है कि धर्म के नाम पर हमें प्राचीन काल से प्राप्त हुई कुछ परम्पराएँ वास्तव में आदिम युगीन कर्मकांडों से ही प्रारम्भ हुई थी। आदिम युगीन लोग अपने देवताओं को खाया करत थे ताकि उससे रक्त को पीने की जो प्रथा प्रचलित है वह भी इस पुरानी प्रथा से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। धार्मिक साहित्य में दी गई कहानियाँ ईश्वर द्वारा सुनाई हुई नहीं हैं और यदि हम आज भी उन्हें ईश्वरीय कहानियाँ मानकर ही उनसे चिपटे हुये हैं तो इससे यह सिद्ध होता है कि गलतियों का उन्मूलन बहुत कठिनाई से ही हो पाता है।‘यथापिंडेतथाब्रह्माण्डे’ के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को ही ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप मानने के दयनीय विश्वास ने सर्वात्मवाद के लिए ऐसे-ऐसे विचित्र सिद्धान्तों को जन्म दिया जिनके कारण प्रायः प्रत्येक चेतन और अचेतन वस्तु में मानवीय गुणों को आरोपित कर दिया गया। हमने पत्थरों को सजीव और वृक्षों को संवेदनशील माना। यहाँ तक कि जब हमारे मन में मानवीय व्यक्तित्व की धारणा अधिक स्पष्ट हो गई तब भी सब वस्तुओं को मनुष्य के समान मानने की इस प्रवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा।”⁵

संदर्भ सूची

1. Marx : Sixth Thesis on Feuerbach
2. E.O. James : History of Religions.
3. गोर्डन चाइल्ड, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा उद्धृत, ‘दर्शनशास्त्र और भविष्य’, पृ. 36 (राज कमल प्रकाशन)।
4. डॉ. एस. राधाकृष्णन- Religion & Society, P. 53
5. डॉ. एस. राधाकृष्णन- ‘आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ’- अध्याय 1, खंड 4।

रविन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में मोक्ष का दार्शनिक विवरण

डा. जनार्दन प्रसाद

एम.ए. (स्वर्णपदक प्राप्त), पीएच. डी., सहायक प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग
पी.सी. विज्ञान कॉलेज, जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा (सारण)

भूमिका

रविन्द्रनाथ टैगोर एक धार्मिक कवि थे। उनकी कविताओं से ही हमें उनके दर्शन का ज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि टैगोर ने अपने दर्शन को परम्परागत विधि से प्रस्तुत नहीं किया है। उनका दार्शनिक विचार उनके साहित्य में यंत्र-तंत्र पाया जाता है। इसलिए उनके दार्शनिक विचार को प्राप्त करने के लिए हमें उनके काव्यों में विखरे विचारों को सुव्यवस्थित करना पड़ता है और उसी के आधार पर एक निश्चित धारणा विकसित करनी होती है।

“Edward J. Thomson कहते हैं- There goes a certain mental laziness about him. We often feel that there is a slackness somewhere probably at the very spring of thought and conception he has been embroidering the margins of truth.”¹

मानव जाति के उद्भव के विवरण में दो तथ्य प्रकाश में आते हैं। पहला मानव स्वरूप का एक अंश उसका भौतिक एवं जैविक अंश है जो उसे विकास प्रक्रिया से प्राप्त होता है। मानव स्वरूप का दूसरा अंश आध्यात्मिक है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है तथा जिसके कारण उसमें मोक्ष प्राप्ति का भाव उत्पन्न होता है। मानव स्वरूप के भौतिक अंश को ससीम तथा उसके आध्यात्मिक अंश को असीम आत्मा कहा जाता है। इसी कारण टैगोर मनुष्य को ससीम-असीम कहते हैं। मानव जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर के साथ एकात्मकता की प्राप्ति करना है। अपने असीम पक्ष के कारण मनुष्य इस लक्ष्य की प्राप्ति करता है। ईश्वर के साथ मनुष्य की एकात्मकता को ही टैगोर के दर्शन में मोक्ष कहा जाता है। लेकिन मोक्ष के संबंध में टैगोर का विचार अद्वैत वेदान्त के विचार से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म में विलीन होने की अवस्था को मोक्ष कहते हैं। इससे भिन्न टैगोर कहते हैं कि मोक्ष की अवस्था में मनुष्य और ईश्वर के बीच द्वैत बना रहता है। मनुष्य और ईश्वर कभी एक नहीं हो सकता है। मोक्ष प्राप्ति के मार्ग के संबंध में टैगोर कहते हैं कि मनुष्य प्रेम भक्ति, समर्पण तथा संगीत के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

मोक्ष का दार्शनिक विवरण

मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है जिसे कुछ भारतीय दार्शनिकों ने सांसारिक अनस्तित्व की अवस्था बतलाया है। उनके अनुसार आत्मा ईश्वर के साथ एकता की प्राप्ति करती है, जिसके फलस्वरूप उसका सांसारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। मुक्त आत्मा इस जगत का त्याग नहीं करता है तथा निष्क्रिय रूप से अनिवर्चनीय निराकार, निर्गुण, विश्वातीत एवं शाश्वत ब्रह्म साथ एकाकार हो जाती है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा के ब्रह्म में विलीन होने की अवस्था को मोक्ष माना गया है, जिसके फलस्वरूप शरीर, जीवन तथा मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। मुक्त आत्मायें सदैव के लिए इस संसार के परे चले जाते हैं और ब्रह्म में शाश्वत विश्रान्ति को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत टैगोर किसी ऐसे आध्यात्मिक जगत की कल्पना नहीं करते हैं जहाँ आत्मायें ईश्वर के साथ तादात्म्य की प्राप्ति करती हैं। उनके अनुसार मोक्ष इस पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन की एक स्थिति है। आत्म-ज्ञान का तात्पर्य ईश्वर के साथ प्रेम में अवैधय व्यक्ति का आध्यात्मिक जीवन है।

आध्यात्मिक अस्तित्व के सर्वोच्च अवस्था में भी आत्मायें अपनी स्वतंत्रता एवं व्यैक्तिकता को बनाये रखती हैं। आत्माएँ इस पृथ्वी पर दिव्य जीवन की प्राप्ति करते हैं तथा ईश्वर के साथ एक हो जाते हैं। इस जगत से भिन्न किसी दूसरे लोक में ईश्वर के साथ-सामीप्य की प्राप्ति की संभावना को टैगोर स्वीकार नहीं करते हैं। टैगोर के अनुसार मोक्ष के फलस्वरूप न तो आत्मा पुनर्जन्म से मुक्त हो जाती है और न ही इस जगत से स्वतंत्र होती है टैगोर के अनुसार सांसारिक बंधन की सृष्टि ईश्वर के द्वारा की गयी है। अतः हमें इसी जगत में मोक्ष को प्राप्त करना पड़ता है। टैगोर कहते हैं-

*“Deliverance? Where is this deliverance to be found? Our master himself has joyfully taken upon himself the bonds of creation, he is bound with us all forever.”*²

ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि मनुष्य के साथ प्रेमपूर्ण संबंध बनाये रखने के लिए किया है। अतः मनुष्य के लिए यह उचित नहीं है कि वह इससे दूर भागे। सत्य, आनन्द एवं ईश्वर की उपस्थिति को इस जगत में ही प्राप्त करना है। इन्द्रियाँ के द्वारा हम जिस आनन्द को प्राप्त करते हैं, वह प्रकृति में ईश्वर की अभिव्यक्ति के कारण है। टैगोर कहते हैं कि

*“Deliverance is not for me in renunciation. I feel the embrace of freedom in a thousand bonds of delight. Thou ever pourest for me the fresh draught of thy wine of various colours and fragrance filling this earthen vessel to the brim.”*³

प्रकृति ईश्वर की मूर्त एवं भावात्मक अभिव्यक्ति है। ईश्वर इन्द्रियों के माध्यम से हमारे अन्दर व्याप्त होता है। अतः हमें अपनी इन्द्रियों का द्वार बन्द नहीं करना चाहिए तथा ईश्वर के द्वारा प्रदत्त सुखों से अपने को वंचित नहीं करना चाहिए। इन्द्रियों के द्वारा हम ईश्वर के आनन्द और सौन्दर्य को प्राप्त करते हैं। टैगोर कहते हैं कि-

*“No, I shall never shut the door of my senses. The delight of sight and hearing and touch will bear. Thy delight. Yes, all my illusions will burn into illumination of joy and all my desires ripen into fruits of love.”*⁴

यदि ईश्वर हमारे लिए बंधन की सृष्टि करता है, तो प्रश्न उठता है कि हम स्वतंत्रता के लिए प्रयास क्यों करें? टैगोर के अनुसार ईश्वर के साथ एकता की प्राप्ति करना और उससे आबद्ध रहना, उस पर निर्भर रहना स्वतंत्र होने के अपेक्षा अधिक आनन्ददायी है। ईश्वर के ऊपर निर्भरता, उसके प्रति प्रेम एवं उसके साथ बँधकर ही व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है। वस्तुतः मनुष्य स्वतंत्रता नहीं चाहता है। वह ईश्वर के साथ प्रेम एवं आसक्तिपूर्ण बंधन में बंधा रहना चाहता है। टैगोर कहते हैं,

*“In freedom he wants bondage. He is trying to be in bondage to that which will cause him endless bondage.”*⁵

टैगोर के अनुसार इस पृथ्वी पर ईश्वर के साथ समागम की प्राप्ति की अवस्था ही मोक्ष है। यह उस सार्वभौम सत्ता को अपने अन्दर अनुभव करना है। प्रश्न उठता है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात क्या मनुष्य पहले से पूर्णतया भिन्न बन जाता है? क्या वह सार्वभौम सत्ता में पूर्णतः विलीन हो जाता है? टैगोर के अनुसार मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। उसे जीवन का निषेध भी नहीं कहा जा सकता है। यह जीवन का भावात्मक पक्ष है। जीवनो को महत्व प्रदान करता है। मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है क्योंकि वह उसके वास्तविक अर्थों को समझ पाने में असमर्थ रहता है। किंतु यदि मृत्यु को सही दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह एक ऐसी अवस्था प्रतीत होती है जो जीवन को अग्रगामी दिशा प्रदान करती है।

टैगोर के अनुसार मृत्यु चेतना के विस्तार की आध्यात्मिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आत्मा मृत्यु के बाद भी अस्तित्वान रहती है और इस तरह टैगोर पुनर्जन्म की प्रक्रिया में विश्वास करते हैं। यद्यपि वे स्पष्ट रूप से इस पर प्रकाश नहीं डालते हैं। मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य अमरता की प्राप्ति है। इस अवस्था की प्राप्ति के बाद हमारे सामान्य जीवन के सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं तथा एक सामंजसपूर्ण अस्तित्व का आविर्भाव होता है। मानव जीवन में ज्ञान, प्रेम तथा क्रिया परस्पर विरोधी नहीं रहते हैं उनके बीच एक पूर्ण आन्तरिक संगति पायी जाती है। इस अवस्था में मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन से उपर उठ जाता है और सभी वस्तुओं के साथ तात्त्विक एकता की प्राप्ति करता है, जिसके फलस्वरूप सुख-दुख, शुभ-अशुभ मैं तथा तुम, मेरा तथा तुम्हारा का भेद समाप्त हो जाता है। वह सर्वत्र उस परम सत्ता की

उपस्थिति को अनुभव करता है। इसे ही देवत्व की प्राप्ति कहते हैं। यही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति से मनुष्य अपने को एक पूर्णतया भिन्न जगत में नहीं पाता है। जब वह ईश्वर को अपने अन्दर देखता है तो उसमें होने वाले परिवर्तन मुख्यतः आन्तरिक होते हैं। मानव प्रकृति एवं अन्य प्राणियों को देखने का दृष्टिकोण बदल जाता है। उसके आत्म-केन्द्रित विचारों का स्थान प्रेम एवं उल्लास ले लेता है। वह आनन्द के समुद्र में प्रवेश करता है जो सीमारहित है। टैगोर कहते हैं,

*"Where is the further shore? It is it something else than what we have? Is it somewhere are than where we are? Is it to take rest from all our works to be relieved, of all the responsibilities of life. No, in the very heart of our activities we are seeking for our end. We are crying for across, even where we stand."*⁶

टैगोर के अनुसार मनुष्य कितना भी आध्यात्मिक एवं दिव्य क्यों न हो जाय, फिर भी आध्यात्मिकता की परम अवस्था में भी मनुष्य अपूर्ण, ससीम एवं सीमित रहता है। निरपेक्ष पूर्णता सिर्फ ईश्वर के लिए ही संभव है। मनुष्य के लिए मोक्ष एक शाश्वत प्रक्रिया है। मनुष्य ईश्वर की निकटता को प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता। वैयक्तिक आत्मा कभी भी ईश्वर में विलीन नहीं होता है। टैगोर कहते हैं:-

*"The finite is not dissolved in the Absolute. Man remains ever imperfect. Man ever approaches but never merges into God."*⁷

टैगोर के अनुसार आत्मा तथा ब्रह्म के बीच पूर्ण तादात्म्य संभव नहीं है। वे कहते हैं कि कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो एक गुण एवं परिभाषारहित अव्यैक्त सत्ता में अपने व्यैक्तिक आत्मा को पूर्णरूपेण विलीन कर देने का प्रयत्न करते हैं। उसका प्रयास एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करना है जहाँ मन पूर्णतः रिक्त हो जाता है। जो सिर्फ आनन्दमय है तथा सभी प्रकार के विषय-वस्तु से रहित है। इसे योग का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। जिसके अनुसार सभी प्रकार के विचार तथा शब्दों के परे अनन्त सत्ता के साथ अपने को एकाकार कर देना ही सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता है। टैगोर कहते हैं कि इसकी सत्यता में अविश्वास नहीं करते हुए मेरा विचार है कि एक महान मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में यह मूल्यवान हो सकता है, किन्तु यह धर्म नहीं हो सकता है। मौलिक या आरम्भिक अनिश्चितता में अपने को विलीन करने की अपेक्षा मनुष्य एक रूप में अधिक पूर्ण है।

टैगोर इस बात को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं अनुभव करते हैं कि मोक्ष के फलस्वरूप आत्मा-जन्म या पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है। सामान्यतः भारतीय दार्शनिकों का विचार है कि मोक्ष पुनर्जन्म से मुक्ति की अवस्था है। टैगोर के अनुसार इस प्रकार का विचार मानव व्यक्तित्व की पृथक्ता या भिन्नता को

प्रभावित कर सकता है अतएव उनके अनुसार मोक्ष की अवस्था में ईश्वर तथा मनुष्य के बीच क्रीड़ा की अनवरतता के लिए पुनर्जन्म लेना आवश्यक हो जाय तो वह पुनर्जन्म धारण करेगा। अतः इसे पहले से निश्चित नहीं किया जा सकता है कि ईश्वर के सामीप्य की प्राप्ति की अवस्था में दोनों के बीच यह आनन्दपूर्ण खेल किस प्रकार खेला जायगा। किन्तु इतना स्पष्ट है कि आत्मा और ईश्वर के बीच द्वैत समाप्त नहीं होता। ईश्वर से आत्मा की पृथक्ता एवं इसकी विलक्षणता सदैव बनी रहती है। टैगोर कहते हैं:-

*Salvation is "the eternal bond of union between the Infinite and finite soul from which there can be no mukti, because love is ultimate, because it is an interrelation which make truth complete, because absolute independence is the blankness of utter servility."*⁸

धार्मिक-चेतना में ईश्वर तथा वैयक्तिक-आत्मा के बीच प्रेम के संबंध की अनुभूति के अतिरिक्त एक ओर पृथक्ता तथा दूसरी ओर एकता, एक ओर बंधन तथा दूसरी ओर मुक्ति पायी जाती है। प्रेम में हम सीमित तथा सीमारहित, शक्ति तथा सौंदर्य, रूप तथा रस के बीच एक संश्लेषण पाते हैं। जब हमारा अहम् हमें अपने अधिकार में कर लेता है तब हम स्वार्थी, अज्ञानी तथा संकीर्ण मन बाले बन जाते हैं। हम अपनी सच्ची आत्मा को भूल जाते हैं। अहम् एक छाया की तरह हमारा अनुसरण करता है। हमें इस अहम् से मुक्त होना पड़ता है जिससे की सच्ची आत्मा को प्रकाशित कर सके। टैगोर कहते हैं,

*"Wherever I go, I find that this lower self follows me like I blank shadow. I wish to tame it under to foot. I can realise the Infinite only when I have got rid off the lower self."*⁹

व्यक्ति का अहम् ही अज्ञान एवं बंधन का कारण है। यह उसका वास्तविक व्यक्तित्व नहीं है। उसके अन्दर विद्यमान वास्तविक आत्मा ही उसका वास्तविक व्यक्तित्व है। यह आत्मा अन्तर्व्याप्त होते हुए भी अनुभवाति है। वास्तविक आत्मा की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपने अहं के परे जाना पड़ता है। जब मन, शरीर और जीवन पर वास्तविक आत्मा का नियंत्रण हो जाता है तभी व्यक्ति अपने अस्तित्व की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करता है और वह दिव्य आत्मा मनुष्य के तर्क, बुद्धि, संकल्प तथा संवेग को निर्देशित करती है और इसे शरीर में ही मोक्ष की प्राप्ति करता है। अतएव मोक्ष का तात्पर्य दिव्य व्यक्तित्व की प्राप्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक जीवन में दिव्य-आत्मा को अभिव्यक्त कर सकता है। हम ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर सकते हैं जिसमें ईश्वर के सामीप्य की प्राप्ति हो सके।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य किस प्रकार अपनी चेतना का विस्तार कर आत्मा-चेतना तक पहुँच सकता है। टैगोर के अनुसार बुद्धि के प्रयोग के द्वारा आत्मा-चेतना की प्राप्ति संभव नहीं है। क्योंकि यह यथार्थ सत्ता का ज्ञान खण्डों में बंटा हुआ ज्ञान प्रदान

करती है। वस्तु का सर्वग्राही ज्ञान या एक समष्टि के रूप में ज्ञान अन्तर्दृष्टि द्वारा होता है। जिसे टैगोर टपेपवद कहते हैं। इसे उन्होंने मनुष्य के अन्दर से एक आकस्मिक, आध्यात्मिक प्रेम द्वारा परस्फुटन (A Sudden spiritual outburst from within) के रूप में परिभाषित किया है। यह वस्तु का एक समष्टि के रूप में ज्ञान प्रदान करता है। प्रश्न उठता है अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति किस प्रकार होती है? टैगोर ने इस अन्तर्दृष्टि का आधार प्रेम को माना है। प्रेम के द्वारा ही हमारी चेतना का विस्तार होता है। प्रेम आदर्शपूर्ण आनन्द की अवस्था है। इसके लिए अहं वादी प्रवृत्तियों के परे जाना आवश्यक है। जबतक मनुष्य में “मैं और मेरा की भावना रहती है वह प्रेम नहीं कर सकता है, प्रेम और आसक्ति में अन्तर है। आसक्ति अहम् के चारों ओर केंद्रित रहती है। इसके पीछे सदैव एक उद्देश्य रहता है। किन्तु प्रेम के पीछे उद्देश्य किसी अहंवादी इच्छा को संतुष्ट करना नहीं होता है। प्रेम के लिए त्याग आवश्यक है। अपनी आध्यात्मिक यात्रा के आरम्भ में मनुष्य का पहला सोपान प्रेम है, जो सभी प्रकार के वैयक्तिक इच्छाओं के त्याग की अपेक्षा करती है। यह प्रेम का सैद्धान्तिक पक्ष है। टैगोर ने इसके व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख किया है।

प्रेम अपने निकटतम सम्बन्धियों से आरम्भ हो सकता है। किन्तु इसका विस्तार अन्य लोगों तक भी किया जाना चाहिए। प्रेम के विस्तार के साथ ही आत्म-त्याग की प्रवृत्तियाँ भी तीव्रतर हो जाती हैं। आरम्भ में आत्मत्याग की प्रक्रिया कष्टदायक प्रतीत हो सकती है किन्तु बाद में यह मनुष्य के लिए आदत बन जाता है और उसके लिए आनन्द का स्रोत बन जाती है। टैगोर के अनुसार हमें प्रेम और त्याग का सदैव विस्तार करते रहना चाहिए। टैगोर प्रेम और त्याग को तात्त्विक आधार प्रदान करते हैं तथा उपयोगितावादी दृष्टिकोण से उसे भिन्न करते हैं दूसरों के लिए उपयोगितावादी का प्रेम व्यक्तिगत विचार पर आधारित होता है जब कि टैगोर के अनुसार इसके पीछे सभी व्यक्तियों की तात्त्विक एकता का विचार विद्यमान रहता है और तब व्यक्ति का जीवन ससीम नहीं रह जाता अपितु असीम बन जाता है। टैगोर अनुभव करते हैं कि प्रत्येक क्रिया जो व्यक्ति को अपनी चेतना का विस्तार कर अपने अहं के परे जाने में सक्षम बनाती है, मोक्ष का मार्ग है। दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करने को टैगोर ने कर्म के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति कहा है। कर्म के ऊपर जोर देने का कारण यह है कि टैगोर ने कर्म को आनन्द का स्रोत माना है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति दूसरों के लिए त्याग करता है।

टैगोर ने इस बात को अपने व्यक्तिगत जीवन में स्वीकार किया है कि साहित्यिक रचना का एकान्तिक आनन्द जब उन्हें संतुष्ट नहीं कर सका तब उन्होंने मानव जाति की सेवा में अपने को नियोजित कर दिया। क्योंकि उन्होंने अनुभव किया है कि सिर्फ मानव जाति की सेवा द्वारा ही आत्म-ज्ञान की प्राप्ति संभव है। टैगोर कहते हैं,

“The solitary enjoyment of the Infinite in meditation no longer satisfied me and the texts which I used in my silent worship lost their inspiration

without my knowing it. I am sure I vaguely felt that my need was spiritual self realisation in the life of man through some disinterested service.”¹⁰

टैगोर ने प्रेम तथा निःस्वार्थ कर्म के द्वारा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के अतिरिक्त सौंदर्य को भी असीम सत्ता की प्राप्ति का एक मार्ग माना है। सौंदर्य सर्वत्र विद्यमान है। करुणता हमारे जीवन में तथा हमारी कला में सौंदर्य की विकृत अभिव्यक्ति है। जिसका कारण सत्य का अपूर्ण ज्ञान है। अतएव सौंदर्य की चेतना सत्य की चेतना पर आधारित है। इसी कारण टैगोर सौंदर्य बोध का उल्लेख करते हैं और कलात्मक संवेदन-शीलता को विकसित करने की बात करते हैं।

उनके अनुसार संगीत, कला का शुद्धतम रूप है तथा सौंदर्य की सर्वाधिक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। टैगोर अनुभव करते हैं कि सृष्टि के ससीम रूपों में असीम सत्ता की अभिव्यक्ति अपने आप में एक मूक संगीत है। यह जगत संगीतमय है जो कभी संगीतज्ञ से पृथक् नहीं हो सकता है। इसका कारण है कि विश्व का प्रत्येक पहलू उस असीम सत्ता को प्रतिबिम्बित करता है। कला, संगीत तथा सौंदर्य बोध के विकास द्वारा मनुष्य उस असीम सत्ता तक पहुँच सकता है।

टैगोर आध्यात्मिक योग की भी चर्चा करते हैं। उनके अनुसार योग का तात्पर्य एक ऐसा अनुशासन है जिसके लिए त्याग की आवश्यकता है। त्याग का तात्पर्य अपनी अधिकृत वस्तुओं तथा अहम्वादी प्रवृत्तियों का त्याग करना है। इसका तात्पर्य मनुष्य की निम्नतर आत्मा को नष्ट कर देना नहीं है अपितु इसे अधिक पूर्ण एवं उच्चतर स्थिति में लाना है। टैगोर कहते हैं कि:-

“The renunciation is not in the negation of the self, but in the dedication of it.”¹¹

पुनः टैगोर कहते हैं कि [Yoga] is the daily process of surrendering ourselves, removing all obstacles to Union and extending our consciousness of him in devotion and service, in goodness and in love.”¹²

रविन्द्रनाथ टैगोर के मोक्ष की अवधारणा का समीक्षा

मोक्ष के संबंध में टैगोर का विचार प्रेरणादायक है। यदि मनुष्य शाश्वत रूप से मनुष्य ही रहता है तो उसके लिए मोक्ष की क्या उपादेयता है? यदि मनुष्य मोक्ष के फलस्वरूप अतिमानव या दिव्य प्राणी नहीं बन पाता है तो उसके लिए मोक्ष में कोई आकर्षण नहीं रहता है। टैगोर के दर्शन में न तो अपूर्ण प्रकृति, दिव्य या अतिप्रकृति में रूपान्तरित होती है और न जागतिक मोक्ष की कोई संभावना है। टैगोर के दर्शन में एक दिव्य-कृत मानवता का विचार नहीं है। मोक्ष का तात्पर्य सिर्फ ईश्वर के सामीप्य की प्राप्ति है। आत्मा मोक्ष की स्थिति में निरपेक्ष, पूर्णता आनन्द एवं सत्य को प्राप्त नहीं करता। इस तरह टैगोर का मोक्ष सम्बन्धी विचार संतोषजनक नहीं है।

निष्कर्ष

टैगोर के दर्शन में मानव स्वरूप का दो अंश का वर्णन है ससीम तथा असीम। ससीम अंश उसका भौतिक एवं जैविक अंश है जो उसे विकास की प्रक्रिया से प्राप्त होता है मानव स्वरूप का दूसरा (असीम) अंश अध्यात्मिक है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है तथा जिसके कारण उसमें मोक्ष प्राप्ति का भाव उत्पन्न होता है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर के साथ एकात्मता की प्राप्ति करना है। टैगोर के अनुसार मोक्ष इस पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन की एक स्थिति है। मोक्ष के फलस्वरूप न तो आत्मा पुनर्जन्म से मुक्त होती है और न ही इस जगत से स्वतंत्र होती है। इस पृथ्वी पर ईश्वर के साथ समागम की प्राप्ति की अवस्था ही मोक्ष है। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। आत्मा मृत्यु के बाद भी अस्तित्ववान रहता है और टैगोर पुनर्जन्म की प्रक्रिया में विश्वास करते हैं। मनुष्य कितना भी आध्यात्मिक एवं दिव्य क्यों न हो जाय, फिर भी आध्यात्मिकता की परम अवस्था में भी मनुष्य अपूर्ण तथा सीमित रहता है। मनुष्य प्रेम भक्ति, समर्पण तथा संगीत के माध्यम से ईश्वर की निकटता को प्राप्त कर सकता है किन्तु वह कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता है। टैगोर का मोक्ष सम्बन्धी विचार प्रेरणादायक है। क्योंकि उनके दर्शन में दिव्यकृत मानवता का विचार नहीं है। टैगोर के अनुसार ईश्वर के समीप्य की चेतना मन की एकाग्रचितता की एक क्रिया मात्र नहीं है। इसे हमारे सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। हमें अपने समस्त विचारों एवं कार्यों में असीम सत्ता की चेतना रहनी चाहिए। अपने प्रत्येक कार्य में हमें असीम शक्ति की प्रेरणा का अनुभव करना चाहिए। इसे ही उन्होंने Realisation of infinite कहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

<i>Name of Author</i>	<i>Name of Book & Publication</i>
1. Rabindranath Tagore	- His life and works, introduction.
2. —	- Gitanjali Verse XI
3. —	- Gitanjali Verse LXVIII
4. —	- Gitanjali Verse LXXIII
5. —	- Santiniketan Fourth series
6. —	- Sadhana. Page-162
7. —	- Sadhana 8 th series
8. —	- Atma Paricaya. Page- 78.
9. —	- Gitanjali No. 141
10. —	- The Calcutta Review, Oct 1941, Page-8
11. —	- The Religion of Man. 3 rd impression. George Allen and Lenwin London, 1949. Page-182.
12. —	- Sadhana, Page-149.

गांधीजी के सर्वोदय की प्रासंगिकता

डॉ. रश्मि कुमारी सिंह

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र, जे.जे. गांधी इंटर मेमोरियल कॉलेज, जमशेदपुर

सामाजिक व्यवस्था से संबंधित गांधी के विचार जानने से पहले सभी विभिन्न सामाजिक आंदोलनों एवं समस्याओं का ऐतिहासिक दृष्टि एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करना आवश्यक है। जिन्होंने उस समाज व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें गांधीजी रहते थे। और जिसे परिवर्तित करने के लिए वे प्रयासरत थे। यह कहना सर्वथा उचित है कि महात्मा गांधी के विचारों में एक मौलिकता है। नवीनता तथा ताजगी है फिर भी यह सच है कि उनके विचारों ने कुछ प्रभावों के अंतर्गत ही अपना रूप लिया है।

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में हम एक महात्मा को पाते हैं जिन्होंने न केवल विदेशी शासन से देश को मुक्त किया, बल्कि इतिहास के आदिकाल से मनुष्य को पीड़ित करती रहने वाली युगों पुरानी समस्या के समाधान के अनुरूप मार्ग भी दिखाया। एक तरफ उन्होंने अभीष्ट समाज व्यवस्था के स्पष्ट चित्र का प्रस्तुतीकरण किया वहीं दूसरी तरफ मनुष्य के पुनर्निर्माण के लिए आचार नीति की रचना की और इन कर्मियों को पूर्ण करने और विसंगतियों को दूर करने का प्रयास किया। गांधीजी की दृष्टि में समाज बिल्कुल परिवार के समान है और इसलिए व्यक्तियों और समाज का बहुत घनिष्ठ संबंध है। वे ऐसे आदर्श सामाजिक संगठन के निर्माण करने का प्रस्ताव प्रतिपादित करते हैं, जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर भी पाये तथा संपूर्ण समाज के कल्याण के लिए स्वच्छ सामाजिक विश्लेषण भी स्वीकारे।

गांधीजी ने वर्ण की मूल उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए लिखा कि मेरा विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य में मेरा विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य में जन्म से कुछ प्राकृतिक प्रवृत्तियां होती हैं। प्रत्येक के सामने जन्म से कुछ निश्चित सीमाएं होती हैं जिनमें वह विजय नहीं पा सकता। इन सीमाओं के सतर्क अवलोकन से वर्ण के नियमों को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार गांधीजी के अनुसार मनुष्य कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियां को लेकर जन्म लेता है और प्रत्येक व्यक्ति की कुछ निश्चित सीमाएं होती हैं इन्हीं नियमों से वर्ण-व्यवस्था का नियम प्रतिपादित हुआ है।

गांधी दर्शन पूर्णतः एक राजनैतिक दर्शन नहीं है, वरन् इससे कुछ और अधिक व्यापक है। वास्तव में राज्य के विषय में अपने विचारों को एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने की न तो उनकी इच्छा थी और न ही उन्हें अवकाश था। इसीलिए राज्य की पारिभाषिक विवेचना जो कि पाश्चात्य-राजनीतिक चिंतकों की

रचनाओं में मिलती है, गांधीजी के विचारों में नहीं मिलती और न ही उनकी राजनीतिक विचारधारा किसी क्रमबद्ध राजनीतिक चिंतन का प्रतिपादन करती है।

राज्य में एक आदर्श सरकार कैसे स्थापित हो इस पर गांधीजी ने बहुत विचार किया तथा इसके स्वरूप की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न किया है। आदर्श राज्य वही है जहां सभी व्यक्तियों को समान अवसर तथा सुविधा मिलती रहे। तथा जहां सुख, शांति तथा आनंद का वास हो, अतः गांधीजी कहते हैं कि सर्वमान्य मूल लक्ष्य के अनुरूप आदर्श राज्य के स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न हो।

गांधीजी का आदर्श राज्य ग्रामीण गणतंत्रों का राज्य है उनके अनुसार आत्म-निर्भर ग्रामों से संरचित राज्य ही उपर्युक्त राज्य हैं। आदर्श राज्य की कल्पना के पीछे गांधी का सर्वोदय विचार है। 'सर्वोदय' का शाब्दिक अर्थ है सबों का 'उदय', सबों का शुभ। गांधीजी के सर्वोदय विचार की तुलना नैतिकता के उपयोगितावाद के साथ की जाती है। सामाजिक विकास के इतिहास की प्रत्येक दिशा में परिणति समाधानों में नहीं समस्याओं में होती है, उन्होंने अपनी स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबंध लगा दी और अपने कुछ अधिकार मुखिया को सौंप दिये। इस प्रकार उसे सर्वाधिक शक्तिशाली बनायें तो अन्य सबों को नियंत्रित करने में सफल होगा। और इस प्रकार हिंसा राजतंत्र का उद्भव हुआ और एक केंद्रीय मनुष्य का निर्माण किया गया।

आरंभ में यह केंद्रीय मनुष्य भी अपने सहयोगी के समान ही अपनी जीविका के लिए परिश्रम करता था किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे वह अन्यो से कुछ विशिष्ट बन गया।

इस प्रकार गांधीजी प्रचलित राज्यों के दोषों को देखकर राज्य की एक नवीन रूपरेखा प्रस्तुत की जिसे उन्होंने 'राम-राज्य' कहा। यह एक आदर्श-राज्य की रूपरेखा है, गांधीजी के राजनैतिक आदर्शों का अंतिम रूप था राम-राज्य और सामाजिक क्षेत्र का अंतिम लक्ष्य था सर्वोदय। अतः सर्वोदय राम-राज्य की आधारशिला है। सर्वोदय का दूसरा रूप ग्राम प्रधान अर्थ व्यवस्था है जिसमें राष्ट्रीय जीवन का आधार छोटा समाज ग्राम या करन्दा है। गांधीजी का यह विचार था कि समाज में राजनीति का रूप यदि स्थानीय है तो व्यक्ति पूर्ण राजनैतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता का लाभ उठा सकता है।

समाज के इस पुनर्निर्माण के लिए नागरिकों को शिक्षित बनाना पहली शर्त होगी, शिक्षा से सामान्य प्रगति तथा समृद्धि को सहायता मिलेगी साथ ही व्यक्ति की स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण बनी रहेगी। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित शासन हेतु किसी वर्ग विशेष को हाथों का साधन न होगा, जिसमें अन्य लोगों का दमन हो, केवल आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही सत्ता में आकर दासता की बेड़ियों को तोड़ सकते हैं तथा सबके लिए स्वतंत्रता उपलब्ध करा सकते हैं। गांधीजी के अनुसार राज्य के निर्णायक इकाई व्यक्ति हैं। व्यक्ति की स्वाधीनता ही इस प्रकार के राज्य का

सर्वोत्तम उद्देश्य है। ऐसे राज्य का आधार, पारस्परिक सहयोग है और जीवन की राह दिखाने वाले नैतिक शक्ति है।

गांधीजी ने विकेंद्रित अर्थ व्यवस्था को ऐसे राज्य के लिए प्रस्तुत किया है इसीलिए मशीनों के उपयोग को गांधीजी ने समर्थन नहीं किया। यंत्रों का उस सीमा तक गांधीजी ने विरोध किया है जिस सीमा तक ये व्यक्ति के ऊपर शासन करते हैं वे चाहते थे कि मशीनों का प्रयोग, वहीं तक संगत है जहां तक कि ये व्यक्ति की महत्ता तथा उसके नैतिक मूल्यों का विघटन नहीं करते हैं।

गांधीजी के राज्य संबंधी विचार कोई नई नहीं हैं बल्कि ग्राम गणराज्य भारत में स्मरणातीत काल से चले आ रहे हैं। यह दावा किया जाता है कि इस पद्धति का प्रवर्तन गंगा और यमुना के दो आपे में बस्तियां बनाते समय राजा पृथु ने किया था। आरंभिक वैदिक काल में भी ग्रामों को निगमित राजनीतिक इकाई माना जाता था। सर चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा, ग्रामीण समाज छोटे-छोटे गणराज्यों के सदृश हैं, अपनी आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुओं के उत्पादन एवं विदेशी संबंधों से प्रायः स्वतंत्र राजवंशों के बाद राजवंशों का पतन होता रहा, क्रांतियां होती रहीं...किन्तु ग्रामीण समाज वैसा ही बना रहा।

मेरी धारणा है कि अपने में छोटे से पृथक राज्य के सदृश ग्रामीण समाज की पंचायत ने भारत में होने वाले समस्त परिवर्तनों एवं क्रांतियों के मध्य भी भारतीय जनता के परिष्करण में अन्य किसी भी तत्त्व की तुलना में अधिक योगदान दिया। पंचायत उनके सुख-दुख साधन स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता के उपयोग में बहुत अधिक सहायक रही। गांधीजी का विचार था कि राज्य शक्ति संपूर्ण राष्ट्रीय इकाइयों में इस प्रकार विभक्त रहनी चाहिए जिसमें सबसे बुनियादी इकाई के पास सबसे अधिक शक्ति हो और केंद्रीय स्तर पर इकाई के पास सबसे कम शक्ति हो। राज्य में व्यक्तित्व के विकास के लिए बाधक था इसका उल्लेख करते हुए गांधीजी ने लिखा है कि “मैं राज्य की शीघ्र वृद्धि को अत्यंत भयावह मानता हूं, क्योंकि यद्यपि शोषण को न्यूनतम करने के फलस्वरूप प्रत्यक्षतः वह कल्याणकारी प्रतीत होता है तथापि समस्त प्रगति के मूल में निहित “व्यक्तित्व” को नष्ट कर मानवता को सबसे बड़ी हानि पहुंचाता है।

गांधीजी राज्य को पंचायती राज्य के रूप में देखना पसंद करते हैं। इस व्यवस्था के अंदर ग्रामों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। गांधीजी का विश्वास था कि प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होगी जो कि राज्य की बुनियादी इकाई होगी और उसके हाथ में पूर्ण शक्ति होगी। ग्राम एक ओर तो राज्य की एक इकाई होगी तो दूसरी ओर प्रत्येक ग्राम स्वावलंबी होगा। उसकी अपनी जरूरतें ग्राम के अंदर ही पूरी हो जायेगी। अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के लिए एक ग्राम को दूसरे पर आश्रित नहीं होना पड़ेगा। प्रत्येक ग्राम के अंदर इतनी शक्ति होगी कि प्रत्येक बाह्य मुसीबत का वह स्वयं

सामना करेगा। यह काम शक्ति के द्वारा पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार गांधीजी व्यक्ति को राज्य की बुनियाद माना है। ऐसे समाज में व्यक्ति स्वतंत्र होगा, उसके ऊपर बाह्य नियंत्रण नहीं होंगे। उसकी नैतिकता ही उसका नियंत्रण करेगी। गांधीजी का यह मत है कि ऐसे समाज की रचना सत्य तथा अहिंसा के आधार पर की जा सकती है। उनका मत है कि इस प्रकार के अहिंसक समाज की स्थापना विभिन्न ग्रामीण इकाई द्वारा होगी, जिसके अंदर ऐच्छिक सहयोग होगा। गांधीजी के शब्दों में—“अहिंसा पर आधारित समाज में ग्रामों में आवास करने वाले समूह होंगे जिसमें ऐच्छिक सहयोग प्रतिष्ठापूर्ण अस्तित्व की शर्त होगी।”

इस तरह हम देखते हैं कि गांधीजी का ‘सर्वोदय’ सबों का उदय करना था जिससे एक नवीन समाज एवं राज्य की उत्पत्ति हो। जहां न कोई गरीब हो न कोई अमीर हो, न कोई बड़ा हो और न कोई अछूत हो। सभी को समाज समान दृष्टि से देखा देखा एवं सभी सुखी एवं शांति से रहे कहीं भी अराजकता नहीं हो एक नया एवं खुशहाल राज्य का निर्माण हो जहां सिर्फ शांति और शुभत्व ही हो।

अतः भारत वर्तमान समय में गांधीजी के ‘सर्वोदय’ की प्रासंगिकता महत्वपूर्ण हो गई है, क्योंकि सर्वोदय की परिकल्पना एक व्यापक परिकल्पना है, जो मनुष्य को मनुष्य में सद्विचार, सद्गुण को जागृत करता है। यदि इस विचार को हम सभी जीवन में अनुसरण अनुपालन, ईमानदारी पूर्वक करेंगे तो निश्चित ही समाज में भाईचारे और खुशहाली का माहौल कायम होगा।

फ्रायड और टैगोर की कामदृष्टि : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. लक्ष्मेश्वर ठाकुर¹ एवं श्रीमती जयती²

1. उपाचार्य, मनोविज्ञान विभाग, जे.वी.एस.डी. कॉलेज, बकुची

2. शोध छात्रा, गृह विज्ञान विभाग

जिन लोगों को फ्रायड और टैगोर पूरब और पश्चिम की तरह विरोधी क्षितिज जान पड़ते हैं। उन्हें शायद इसमें शर्म होगा कि आकाश एक ही है। बाहरी संसार में आदमी कितने नाते और रिश्तों में बंटा रहता है। लेकिन मन के भीतर संसार में वह बंटवारा नहीं है। मन के संसार में बसने वाले अविभाजित मनुष्य की वास्तविकता की खोज फ्रायड को भी थी, रवीन्द्र को भी। फ्रायड में जिस मनुष्य के Id, ego तथा superego के विस्तार में ढूँढ़ा, उसे ही एक अर्थ में टैगोर भी ढूँढ़ना चाहते थे तो उन्होंने कहा “मनेर मानुष मक्ये अन्वेषण”- मन के मनुष्य को मन में खोजना है। इसलिए काम भावना और प्रेम जो मन के सूत्रधार हैं। दोनों के ही विषय बन गये। फ्रायड का काम-भावना जीवन की प्रेरणा-शक्ति के रूप में है तो टैगोर का प्रेम तत्व भी उतना ही व्यापक और शुद्ध है। सच्चे प्रेम की श्रेय उच्चता को फ्रायड जिस प्रकार आदमी के व्यक्ति का सबसे मग्न हुआ प्रमाण मानता है उसी प्रकार उच्च कोटि के प्रेम का श्रेय टैगोर उस दृष्टि में मानते हैं जिसमें सौन्दर्य के प्रति भोग का भाव समाप्त हो हर दिव्य वासना का हो जाता है। प्रमाण में टैगोर की “विज्ञाणिनी” शीर्षक कविता को याद करें जिसमें कामदेव वन देवी की अभी-अभी नहाई हुई और वस्त्रहीन रूपराशि को देखकर वासना के वाण उस पर छोड़ना चाहता है किन्तु देखते ही देखते उसके चरणों पर अपना धनुष वाण समर्पित कर देता है। मनुष्य के काम भाव की श्रेष्ठता का शायद यही प्रेम भरा स्वप्न फ्रायड ने भी देखा होगा जिसमें योग्य संसार के विरले ही आदमी सिद्ध हो सकते थे। अधिक तो उसके मनो विश्लेषण के विषय बनकर रह गये।

जोन ब्योर ने रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्बन्ध में कहा था – “He is India bringing to Europe a new symbol not the cross but the lotus.” और वस्तुतः यह परिवर्तनकारी प्रतीक जो टैगोर द्वारा प्रस्तुत किया गया वह सार्वभौम महत्ता का अधिकारी भी हुआ है। वे सौन्दर्योपासक थे। अपने इस नवीन अनुसंधान के बल पर उन्होंने बौद्धिक पृथक्ता की दीवार को तोड़ने में सफलता प्राप्त की जो राष्ट्रों को पृथक्-पृथक् रखती थी। उन्होंने भारत के लिए सौन्दर्य की नई वाइबिल दी। जैसे-जैसे उनकी कृतियों को स्तवन बढ़ता गया वैसे-वैसे लोगों ने अनुभव किया कि वे अपने में अद्वितीय थे। वे वस्तुतः ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सम्मिलित भूमि थे और

प्रमुखतः एक कलाकार थे। उन्होंने विचार के क्षेत्र में एक पूर्णतः नवीन युग का शुभारम्भ किया।

प्राथ्य के लिए टैगोर ने जितना किया फ्रायड ने बहुत अंशों में पाश्चात्य के लिए भी उतना ही किया। फ्रायड ने विज्ञान का तथा विचार के सभी अंगों का निर्देशन एक नई दिशा की ओर किया है और उसकी इस महत्ता के कारण ही मनोविज्ञान में फ्रायड का एक अलग युग ही मानते हैं। फ्रायड ने मन को Id के साथ ही Ego तथा Superego का सम्मिश्रण माना है और किसी भी प्रकार ही आधुनिक विचारधारा को पूर्णतः समझने के लिए उसकी बहुत ही आवश्यकता प्रतीत होती है। फ्रायड का यह संदेश जिस प्रकार सिद्धान्त के क्षेत्र में अत्यन्त ग्राह्य है वैसे ही व्यवहार के क्षेत्र में अत्यन्त क्रान्तिकारी भी। वास्तव में यह बहुत ही मनोरंजक है कि एक समय के इन दो महान विचारकों को करीब-करीब एक ही चीज कहती है- हाँ दोनों की अभिव्यक्ति का रूप अलग-अलग है दोनों ही अपने विचारों में क्रान्तिकारी हैं।

वास्तव में बहुत ही यांत्रिक प्रक्रिया होगी अगर यह बतलाया जाय कि फ्रायड तथा टैगोर दोनों किन-किन बातों पर एक दम एक प्रकार का विचार रखते हैं। टैगोर तथा फ्रायड का एक दूसरे से सम्बन्धित अध्ययन किया गया और यह देखने का प्रयास किया गया कि उनके विचारों में समता है या नहीं। मगर क्या अपने इस दुस्साहस में पहली सीढ़ी पर ही हमें दिक्कत नहीं होगी। हाँ सचमुच किसी महान् कवि को तथा एक महान् दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक को एक ही साँस में उल्लिखित करने में थोड़ा आश्चर्य अवश्यभावी है।

टैगोर एक कवि है। कभी-कभी तो उन्होंने दार्शनिक की खिल्ली भी उड़ाई है। उनकी कविता "Cycle of Spring" में जब राजा कवि से पूछता है कि उसकी कला का क्या अर्थ है। तब कवि ईश्वर को धन्यवाद देते हुए उत्तर देता है कि उसकी कविता को कोई दार्शनिक शिक्षा नहीं देनी है। यह सिर्फ अपने अस्तित्व का सूचना देती है। टैगोर एक स्वप्न द्रष्टा है मगर फ्रायड विचार के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक हैं। एक वैज्ञानिक के नाते फ्रायड का कर्तव्य श्रृंगारिक की वहिस्मृति तथा विवेकशीलता तथा वास्तविकता की अभिव्यक्ति है। टैगोर एक कलाकार होने के कारण कहीं भी मनोभ्रमण कर सकते हैं। फ्रायड को वैज्ञानिक बन्धनों की रक्षा करनी है उसके पाँव कुछ नियमों में बंधे हुए हैं जिन्हें वह तोड़ नहीं सकता। तब फिर किसी भी प्रकार की समता की बात सोचें तो कैसे।

मगर वास्तविकता वैसी नहीं। टैगोर एवं फ्रायड दोनों को ही एक सी चीज कहनी है। एक ही संगीत में दोनों गाते हैं एक राग, दोनों की आवाजें भिन्न-भिन्न हैं। दोनों की लयें भिन्न हैं। दोनों के ताल भिन्न हैं।

सिर्फ टैगोर के साथ ही नहीं बल्कि पूरे भारतीय विचार के साथ न तो कभी दर्शन तथा मनोविज्ञान में पूर्ण अन्तर रहा है और न सम्भव ही है भारतीय विचार का मौलिक

सिद्धान्त यह है कि परमार्थ सत्ता एवं हमारी आन्तरिक सत्ता दोनों समान है और यह सत्य जिसका दिग्दर्शन टैगोर के द्वारा भी हुआ है, मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।

फ्रायड ने कला की एक अलग ही परिभाषा दी है। सर्वप्रथम वह कलाकार का विश्लेषण करता है और देखता है कि चूँकि कोई भी कलाकार कुछ सीमाओं का अनुभव करता है कुछ बन्धनों तथा व्यवधानों को मानता है और उसका अतिक्रमण करने में भी वह अपने को पूर्णतः असमर्थ पाता है, वह कल्पना लोक में चला जाता है। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति की असंख्य सामाजिक तथा असामाजिक इच्छाएँ होती हैं। कुछ की पूर्ति में उस समाज के नियमों द्वारा बाधा पड़ती है वह वैसी इच्छाएँ दमित हो जाती है और अचतेन में चली जाती है। मगर यथा संभव वे अपनी संतुष्टि चाहती है और उसके लिए कोई कलाकार कल्पना लोक का सहारा लेता है। उनकी भावनाओं की पूर्ति कविताओं, कहानियों, उपन्यासों तथा कला के अन्य अंगों में होती है।

टैगोर में भी हम इसी तत्व को पाते हैं। वे भी इसी चीज का अनुभव करते हैं और कभी दूर तक इसे मानते हैं कि कला असंतुष्ट दमित इच्छाओं के कारण ही उत्पन्न होती है। उन्होंने अपनी पुस्तक personality में कहा है- “In our life we have one side which is finite where we exhaust ourselves at every step, and we have another side where our aspirations enjoyments and sacrifices are infinite. This infinite side of man must have its revelations and satisfactions in some symbols..... it builds for its dwelling a paradise where only those materials are used that have transcended that earth's morality.” अतः उनके अनुसार भी कलाकृति के द्वारा ऐसे संसार की रचना की जाती है जहाँ हमारी बहुत सी आशाओं इच्छाओं तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा संतुष्टि है। फ्रायड को भी करीब-करीब वही कहना है। फ्रायड के साथ टैगोर भी यह मानते हैं कि व्यक्ति की कुछ भावनाएँ असामाजिक होती हैं, और इसलिए उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति संभव नहीं। टैगोर मानते हैं- There is another division in man.... it is the dualism in his consciousness of what is and what ought to be in man that conflict is between what is desired and what ought to be desired.”

फ्रायड और टैगोर दोनों ही इस बात पर एक मत हैं कि समाज में आचार के नियम हैं जो हमारी इच्छाओं की जाँच करते हैं, क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए? यह सत्य है कि टैगोर उन आचार के नियमों का एक दूसरा ही रूप देते हैं उनके अनुसार हमारी जो इच्छा होती है वह हमारे प्राकृतिक जीवन के हृदय में निवास करती है, जिसके कारण हम पशुओं से समता रखते हैं और हमारी जो इच्छा होनी चाहिए वह हमारे जीवन के अभ्यन्तर पक्ष में तथा इस जीवन के परे की अवस्था में निवास करती है।

फ्रायड के अनुसार धर्म सम्पूर्ण मानव जाति का एक मानसिक बीमारी है। अतः इसे एक दिन अवश्य ही लुप्त हो जाना चाहिए। यह एक भ्रम है किन्तु यह भ्रम विश्व व्यापक भ्रम है। ऐसा कहा जाता है कि कोई स्वप्न जिसे सभी देखते हैं और निश्चित रूप से देखते हैं स्वप्न नहीं सत्य बन जाता है। अतः यह भ्रम ही यथार्थ या वास्तविक हो गया है। किन्तु इस धर्म का भविष्य क्या होगा? क्या उसका भी चरम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष ही रहेगा।

मुक्ति की अवस्था में न दुःख रहता है न दर्द, न प्रेम रहता है, न घृणा। किसी भी तरह की इच्छा या मानसिक भावना नहीं रहती। मगर फ्रायड के लिए यह स्थिति मान्य नहीं हो सकती क्योंकि वह मानता है कि मानसिक अवस्थाएँ जैसे चेतन, उपचेतन, अचेतन फिर Id, ego और superego कभी भी लुप्त नहीं होती। जीवन के साथ ही उसकी समाप्ति होती है दूसरी ओर जब हम टैगोर को देखते हैं वे भी उसी स्थिति को मानते हैं। वे भी ऐसी मुक्ति की आशा नहीं रखते जो किसी भी प्रकार की मानसिक अवस्था संवेग तथा भावना से परे हो। बल्कि वे ऐसी मुक्ति की कल्पना करते हैं जो मानव जीवन की असंख्य सीमाओं तथा मानसिक अवस्थाओं के अनगिनत व्यवधानों से धिरे होने पर किसे वे मानते हैं-

वैराग्य-साधन में मुक्ति से आधार नय,

असंख्य बन्धन माझे, महानन्दमय लभिवो मुक्ति स्वाद।

फ्रायड और टैगोर दोनों ही जीवन की सम्भावनाओं में कट्टर विश्वास रखते हैं फ्रायड अचेतन की कल्पना करता है। जो विश्व का संचालक है। टैगोर अपने सभी साहित्य को जीवन-देवता की वेदी पर चढ़ा देता है। दोनों के लिए जीवन रचनात्मक तथा शाश्वत है। फ्रायड के लिए भी वस्तुओं के पिछे अचेतन है जो सर्वशक्तिमान है और शाश्वतः जीवन अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति उसे माध्यम से पाता है। टैगोर की सभी चीजें जीवन देवता पर आखिर निर्भर करती है जो सभी तरह के जीवन का जनक है।

फ्रायड पर एक सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि उसने यौन मनोविज्ञान पर सर्वाधिक जोर दिया है मगर ऐसी बात नहीं। Sex शब्द फ्रायड के द्वारा उसी रूप में व्यूहृत नहीं हुआ है जिस रूप में उसे हम अपने प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत करते हैं। फ्रायड उसका व्यवहार शुद्ध, श्रेष्ठतर क्षेत्र में करता है। Sex के सम्बन्ध में फ्रायड कहता है कि किसी भी प्रकार का आनन्द जो शारीरिक स्पर्श से मिलता है वही सेक्स कहलाता है। सुख, सिद्धान्त तथा यथार्थ सिद्धान्त से बने हुए उसके libido को प्रायः सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विचारकों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मान लिया है। टैगोर भी ऐसा मानते हैं कि वासना के प्रति सबको आकर्षण है और सभी व्यक्तियों का मार्ग उससे निर्धारित होता है। अपनी किसी कविताओं में ईश्वर से ऐसी शिकायत करते हैं कि संसार के दूसरे लोग मुझे वासना के आकर्षण से खींच रहे हैं।

“तब नर नारी सबे दिग्विदिके मोरे हेने निएजाय
कत वेदनगर डोरे वास नार होने”

और फ्रायड की तरह वे भी प्रेम की भावना पर आक्षेप नहीं करते और उसे मानव जीवन का एक आवश्यक अंग मानते हैं। टैगोर भी सभी तरह के प्रेम को सांसारिक या संसार से परे पवित्र मानते हैं।

अपने एक वर्णन में उन्होंने एक युवक की तस्वीर आंकी है। जिसका सारा जीवन अपनी प्रेयसी के प्रेम में ही बीत जाता है। न्याय के दिन देखता है कि उसका सारा प्रेम गुणों की पुस्तिका में लिखा हुआ है। वह आश्चर्यचकित रह जाता है किन्तु तभी चित्रगुप्त उसे समझाते हैं कि प्रेम और पूजा दोनों एक ही चीज है।

“साधु महारंगे वसे यौवनेर पात
एत पुण्य केन लेखे देव पूज्य खाते?
चित्रगुप्त हेरे बले बड शकू कू इस
यारे वले माल बांसा तारे बले पूज्य।”

इस तरह प्रेम और पूजा को समान मान कर टैगोर ने फ्रायड का समर्थन किया है।

टैगोर के समर्थक उनकी इन प्रेम कविताओं को किसी ऊँची तरह के प्रेम को बतलाने वाली कविता कहकर व्याख्या करेंगे। उसे विश्वस्तरीय प्रेम मानेंगे। इस स्थल पर टैगोर की कुछ ऐसी पंक्तियों का उल्लेख कर रहा हूँ जो शारीरिक प्रेम की आवश्यकता दिखलाती है।

आत्मा का आत्मा से प्रेम नहीं बल्कि शरीर का शरीर से प्रेम। अपनी कविता “दे हेर मिलन” में उन्होंने कहा है। मेरा प्रत्येक अंग तुम्हारे प्रत्येक अंग के निकट जाना चाहता है।..... और अब आत्माओं की एकता शरीरों की एकता माँगती है। हृदय से आच्छल मेरा शरीर हृदय ही के भय से तुम्हारे शरीर पर मूर्छित होकर गिर जाना चाहता है।

“प्रति अंग काँपे, तब प्रति अंग तरे
प्रामेर मिलन माँगे दे हेर मिलन
हृदय आच्छन्न देह हृदयेर मयें
मूरूछि पड़िते चाय तब देह परे।”

अब यह कविता प्रेम के सिर्फ उसी रूप को दिखाना चाहते हैं जिसे फ्रायड ने आवश्यक माना है। इस प्रकार टैगोर फ्रायड के मत को बहुत दूर तक मानते हैं। और Auden के साथ फ्रायड के बारे में हम भी यह कह सकते हैं कि “To us he is no more a person now but a whole climate of opinion.”

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि एक ही समय के दो प्रमुख विचारक पूर्णतः एक दूसरे से भिन्न विचार रखते हैं। मगर इससे अधिक समानता की हम आशा नहीं कर सकते हैं। कोई तो उसे काल्पनिक स्वप्न में देखता है और कोई उसे परीक्षण और प्रयोग में।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सौन्दर्य का आकर्षण ही फ्रायड के काम और टैगोर के प्रेम का मूल है। वासना का विकास ही फ्रायड के व्यक्तित्व बल और टैगोर के मनोबल का कारण है। इसलिए फ्रायड की भाषा में जिसे मनोग्रन्थियों से मुक्ति कहेंगे। उसे ही बहुत अर्थों में टैगोर की भाषा में चेतना की मुक्ति कह सकते हैं। फ्रायड का मनुष्य यदि मन की लघुताओं के कारण छोटा है तो टैगोर का मनुष्य भी और यदि फ्रायड का मनुष्य मन की महत्ताओं के कारण बड़ा है तो टैगोर का भी। मृत्यु के सम्बन्ध में जिस प्रकार फ्रायड आदमी में मरण की प्रवृत्ति (Death instinct) की विशेषता पर बल देता है कि वह मृत्यु से डर का भी उसके आकर्षण से खिंचता रहता है और कितने ही बहानों से इनकार कर के भी उसे स्वीकार करता है, वही बात टैगोर की भावना में भी मिल जाती है। टैगोर ने मेरम हे तुभि मोर श्याम समान। कृष्णा के समान मृत्यु को भी प्रिय कहकर या मरिते चाई ना आसि सुन्दर भुवने मानकर माझें आभि बाँचिवार चाई लिखकर संसार में जीने के लोभ और मरने के आकर्षण की विरोधाभास भरी व्यंजनों की है तो बहुत दूर तक माना जा सकता है कि काम-भाव वासना, प्रेम, मनोलोक, सौन्दर्य और मृत्यु को समान विषय मानकर मनोविज्ञान और साहित्य में मंजिलें बनाने वाले ये दो द्रष्टा एक ही सत्य का दो पहलुओं से महत्व सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के संदर्भ में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन दोनों ही विचारकों के विचार इस बिन्दु पर लगभग समानान्तर में पाये गये हैं।

संदर्भ

1. रविन्द्र नाथ टैगोर- उपन्यास - पोखरे वारणी (आँख की किरकिरी) - शेपेर कविता गीतिकाव्य- गीतान्जलि
एक नक्षत्र की आत्महत्या फरे वाइरे (मनो वैज्ञानिक राजा)
कहानी- कथा चतुष्टय 1894
गल्प दशक 1895
2. Freud S. : The interpretation of dream, New York, Macmillan, 1992.
3. Freud S. : Introductory Lectures on Psychoanalysis, London, Allen 1929.
4. Freud S. : The Isycho pathology of everyday life, in A.A. Brill (Ed.) the basis/c writings of Sigmund Freud, New York, Modern Library, 1938.
5. Freud S. : Outline of Psychoanalysis, New York, Norton, 1949 (Translated by J. Strachey).
6. Freud S. : Collected Papers London, Hogarth, 1924, Vol. II.

व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन

डॉ. मनीषा बासल

विभागाध्यक्ष (मनोविज्ञान), हवाबाग महिला महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन करना है। इस हेतु यह परिकल्पना निर्मित की गई है कि व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा। परिकल्पना के परीक्षण हेतु शैक्षिक, तकनीकी तथा लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत 225 महिलाओं का चयन अप्रसम्भाव्यता प्रतिचयन के अंतर्गत उद्देश्यानुसार प्रतिचयन द्वारा किया गया है तथा जिनकी आयु (25-30) वर्ष तक की है। चयनित प्रतिदर्श पर भूमिका संघर्ष मापनी-प्रेम वर्मा तथा सीमा विनायक तथा मानसिक स्वास्थ्य मापनी-डॉ. कमलेश शर्मा प्रयुक्त की गई है। समूहों के मध्य सार्थकता की जांच के लिये 'टी' परीक्षण के प्रयोग से ज्ञात हुआ कि व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर होता है।

प्रस्तावना

विश्व ज्यों-ज्यों प्रगति और विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है, मानव का कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत होता जा रहा है। आज पुरुषों के साथ ही महिलाएं भी जीवन यापन के लिए नित नए आयाम खोजने लगी हैं। चिकित्सा, विज्ञान, प्रशासन, शिक्षा, राजनीति, प्रबंधन, संचार, कानून तथा सैन्य कोई भी ऐसा क्षेत्र बाकि नहीं रह गया है, जहां महिलाओं की पहुंच न हो। आज इसी नये वर्ग को कामकाजी महिलाओं की संज्ञा दी जाती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से देश में परिवर्तनों की प्रक्रिया तीव्र गति से चल रही है उसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला है कि भारतीय नारी अपनी परंपरागत स्वाभाविक विशेषता से मुक्त होने लगी है। आज महिलाएं अधिकाधिक संख्या में वैतनिक एवं लाभपूर्ण व्यवसायों और कामकाजों में आने वाली हैं अब ये महिलाएं उन क्षेत्रों में भी दखल दे रही हैं जिन पर अब तक पुरुषों का आधिपत्य था। स्त्री-पुरुष के कार्य और क्षेत्र के बीच की विभाजन रेखा तो कब की धूमिल पड़

चुकी है। महिलाएं आज सचमुच आजाद नजर आती हैं ख्यालों के तौर पर, फैसलों को लेकर, सपने देखने और उन्हें हकीकत में बदलने के जज्बे की कसौटी पर। इसका परिणाम जहां एक ओर भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि हुई है। जीवन यापन के स्तर में बढ़ोतरी हुई है तो वहीं दूसरी तरफ इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी दृष्टिगोचर हुआ है।

कार्यरत महिलाओं में निराशा, कुंठा, तनाव, वैवाहिक कुसमायोजन, प्रतिस्पर्धा तथा महत्वाकांक्षाओं में बढ़ोतरी हुई है, जिसके फलस्वरूप कार्यरत महिलाओं में भूमिकाओं के मध्य संतुलन स्थापित न कर पाने की वजह से भूमिका संघर्ष की उत्पत्ति होती है तथा उनका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है।

रॉस (1961)–कामकाजी पत्नियों के लिए सामंजस्य की समस्या और भी चौका देने वाली है, जब पति नई परिस्थितियों में स्वयं को ढालने में असमर्थ या उसके लिए तैयार न हो, अचानक आ जाने वाली एक नई भूमिका भी तनाव पैदा करती है, जब उसका टकराव पहले से स्थापित भूमिका से होता है, स्वयं भी इस नई भूमिका के प्रति तैयार नहीं रहती। परिस्थितियां और कभी-कभी उसकी स्वयं की इच्छा उसे उस भूमिका को ग्रहण करने के लिये बाध्य करती है।

कुमारी लता आर (1991)–ने 200 शिक्षिकाओं के भूमिका संघर्ष का उनकी आयु के संदर्भ में पाया कि भूमिका संघर्ष के किसी भी मापन में आयु का सार्थक प्रभाव नहीं पाया गया।

स्टीफेनस्को मिशेल सी. (1998)–(35-50) आयुवर्ग की 18 महिलाएं जो बहुभूमिकाओं का निर्वाह कर रही थी पाया कि वह भूमिका संघर्ष, तनाव, अवसाद के साथ शारीरिक बीमारी भी महसूस करेगी। जबकि अन्यो ने यह निष्कर्ष निकाला कि एक महिला जितनी अधिक भूमिकाओं में रत होगी वो उतने ही अधिक आंतरिक स्रोत विकसित कर लेगी नकारात्मक भूमिकाओं का प्रतिरोध करने के लिये।

उद्देश्य

1. शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
2. तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
3. लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

परिकल्पना

1. शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।

2. तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।
3. लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।

न्यादर्श

तालिका क्रमांक-01

व्यवसाय	आयुवर्ग			
	25-36	37-48	49-60	कुल
शैक्षिक व्यवसाय	25	25	25	75

तालिका क्रमांक-02

व्यवसाय	आयुवर्ग			
	25-36	37-48	49-60	कुल
तकनीकी व्यवसाय	25	25	25	75

तालिका क्रमांक-03

व्यवसाय	आयुवर्ग			
	25-36	37-48	49-60	कुल
लिपिकीय व्यवसाय	25	25	25	75

प्रयुक्त परीक्षण

1. भूमिका संघर्ष मापनी-प्रेम वर्मा और सीमा विनायक
2. मानसिक स्वास्थ्य मापनी-डॉ. कमलेश शर्मा।

विधि

न्यादर्श में चयनित कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं पर भूमिका संघर्ष मापनी तथा मानसिक स्वास्थ्य मापनी का प्रशासन व्यक्तिगत रूप से किया गया है। फलांकन के उपरांत 'टी' परीक्षण के माध्यम से व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव के मध्य सांख्यिकीय दृष्टिकोण से अंतर की सार्थकता ज्ञात की गई।

परिणामों का विश्लेषण: परिणामों का विश्लेषण निम्नानुसार किया गया है:

तालिका क्रमांक-04

शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत (25-26), (37-48), (49-60) आयुवर्ग की महिलाओं के उच्च भूमिका संघर्ष समूह तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह के मानसिक स्वास्थ्य के परिणाम—

आयुवर्ग	समूह		मध्यमान		'टी' का मान		सार्थकता
	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह			
25-36	12	12	78.83	95.25	3.27	0.01	स्तर पर सार्थक अंतर है
37-48	12	13	77.67	92.38	4.42	0.01	स्तर पर सार्थक अंतर है
49-60	12	13	77.42	89.92	2.60	0.05	स्तर पर सार्थक अंतर है
स्वतंत्रता के अंश- 22			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-		2.07		
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-		2.82		
स्वतंत्रता के अंश- 23			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-		2.07		
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-		2.81		

विश्लेषण

परिणामों से स्पष्ट है कि शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत (25-36), (37-48), (49-60) आयुवर्गों के निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य की अपेक्षा अच्छा है अतः यहां निराकरणीय परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है कि शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।

यह परिणाम प्रमिला कपूर (1974) शिक्षिकाओं में औसत स्तर का पारिवारिक भूमिका संघर्ष तथा उच्च स्तर का व्यावसायिक भूमिका संघर्ष पाया जाता है। जिससे यह प्रतीत होता है कि शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत महिलाओं की प्रमुख समस्या उनकी भूमिका परिवर्तन से संबंधित है जहां एक ओर उनका पारिवारिक सामंजस्य विघटित होता है वहीं दूसरी तरफ पारिवारिक विसंगतियों के परिणाम स्वरूप उनकी व्यावसायिक भूमिका भी प्रभावित होती है।

तालिका क्रमांक-05

तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत (25-36), (37-48), (49-60) आयुवर्ग की महिलाओं के उच्च भूमिका संघर्ष तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह के मानसिक स्वास्थ्य के परिणाम—

आयुवर्ग	समूह		मध्यमान		'टी' का मान		सार्थकता
	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह			
25-36	12	12	80.83	88.77	0.79	0.05	स्तर पर सार्थक अंतर है
37-48	12	13	80.58	87.5	1.52	0.05	स्तर पर सार्थक अंतर है
49-60	9	16	75.67	88.87	2.48	0.05	स्तर पर सार्थक अंतर है
स्वतंत्रता के अंश- 22			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.07				
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.82				
स्वतंत्रता के अंश- 23			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.07				
			0.02 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.81				

विश्लेषण

परिणामों से स्पष्ट है कि तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत (25-36) एवं (37-48) आयुवर्गों के उच्च भूमिका संघर्ष समूह तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में समानता है। अतः यहां निराकरणीय परिकल्पना स्वीकृत की है परंतु (49-60) आयुवर्ग में निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य की अपेक्षा अच्छा है यहां निराकरणीय परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

यह परिणाम प्रमिला कपूर (1974) व्यावसायिक गतिविधियां मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है तथा स्टेलमैन (1977), मैकेहनिक (1983), केन्डेल एटआल (1995), हावियो मनीला विविध भूमिकाओं द्वारा भूमिका तनाव, भूमिका संघर्ष एवं भूमिका अतिभार के परिणाम स्वास्थ्य पर नकारात्मक होते हैं।

तकनीकी व्यवसाय में (25-48) आयुवर्ग की महिलाएं अपने पारिवारिक जीवन, वैवाहिक जिम्मेदारियों सामाजिक गतिविधियों के साथ-साथ व्यावसायिक परिस्थितियों से संबंधित विभिन्न दायित्वों का निर्वहन कुशलता पूर्वक करती है परंतु (49-60) आयुवर्ग की महिलाएं दोहरी भूमिकाओं के निर्वहन में कठिनाई अनुभव करती है क्योंकि आयु वृद्धि के साथ उनमें सामंजस्य क्षमता का हास दृष्टिगोचर हुआ है जिसके फलस्वरूप उनमें तनाव, निराशा, कूटा, अवसाद आदि उत्पन्न होते हैं जो मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

निष्कर्ष

1. शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्गों के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर है।

2. तकनीकी व्यवसाय में (25-36), (37-48) आयुवर्ग के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर नहीं है। तकनीकी व्यवसाय में (49-60) आयुवर्ग के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर है।
3. लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत (25-36) के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर नहीं है।
लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत (37-48), (49-60) आयुवर्ग के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर नहीं है।

संदर्भ

1. Bala Krishnaweni D., " Role conflict of women teacher's in V.O.C. District". Ph.D. Aligappa University Indian Edu. Abstract. Issue: 4, 1998 Jan.
2. Adam's, Bonnie, "Role Conflict: Women Managers" Dissertation. Abstract International Section A: Humanities and Social Sciences. Vol 61 (2-A): 674, 2004 Aug.
3. Leonard, Brain, " Stress Depression and Role Conflict in working Mothers Comment", South African Psychiatry Review, Vol 5(2): 19, 2002 May.
4. Stellman (1977), Tearly & Machanic (1983) Kendel etal (1985), Havvio Manila (1986), Ousted in-Denner, Stain, Lorraine, Astbury, Jill, and Morge Caral " Psychosocial and Mental Health Aspect of women's Health". (World organization, Geneva, 89p, 1993, 513) 2008.
5. कपूर प्रमिला, कामकाजी भारतीय नारी बदलते जीवन मूल्य और सामाजिक स्थिति, राजपाल एण्ड संस: दिल्ली, 1976.
6. कपिल, डॉ. एच.के. अनुसंधान विधियां, हर प्रसाद भार्गव प्रकाशन: आगरा, 1987.
7. श्रीवास्तव, डॉ. डी.एन. एवं डॉ. प्रीति वर्मा, मनोविज्ञान और शिक्षा में सांख्यिकी, विनोद पुस्तक मंदिर: आगरा 2001.
8. गुप्ता, सुभाषचंद्र, कार्यशील महिलायें एवं भारतीय समाज, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: दिल्ली, 2004.
9. जडिया, डॉ. प्रभावती, हिन्दू नारी-कार्यशीलता के बदलते आयाम, अर्जुन पब्लिकेशन हाउस, 2003.

मानव स्वास्थ्य में एनीमिया का महत्व

किरण कुमारी

शोधार्थी, (गृह विज्ञान), बी.आर.ए.बी.यू., मुजफ्फरपुर

हमारे भोजन में कुछ स्वास्थ्यप्रद पदार्थ होते हैं जिन्हें पोषक तत्व कहा जाता है। इनमें से लौह तत्व एक महत्वपूर्ण घटक है। यह लौह तत्व अर्थात् आयरन रक्त निर्माण के लिए अत्यन्त अनिवार्य होता है। लौह तत्व की कमी अर्थात् एनीमिया एक निहित बीमारी का परिणाम या लक्षण है। यह एक ऐसा रोग है जिसका कारण है—शरीर में रक्त बनाने के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता होती है, उनकी कमी होना। हमारे शरीर में करोड़ों की संख्या में लाल रक्त कण होते हैं, इन लाल रक्तकणों का काम फेफड़ों से ऑक्सीजन को लेकर हमारे शरीर को पहुंचाना होता है। जिससे यह हमारे पूरे शरीर में फैलकर काम करने की क्षमता प्रदान करता है। इन लाल रक्तकणों में एक रासायनिक पदार्थ पाया जाता है जिसे हीमोग्लोबिन कहते हैं। हीमोग्लोबिन दो शब्दों से मिलकर बना है—हीम (अर्थात् लौह तत्व) एवं ग्लोबिन (अर्थात् बढ़ोत्तरी वाला तत्व प्रोटीन)

हीमोग्लोबिन + सांस द्वारा आक्सीजन — काम करने की शक्ति

अर्थात् हमारे शरीर में जितना अधिक हीमोग्लोबिन होगा, उतनी ही अधिक आक्सीजन मांसपेशियों और शरीर के कोने-कोने तक पहुंचेगी तथा उतनी ही अधिक हमारी कार्यक्षमता बढ़ेगी। इसके विपरीत यदि शरीर में हीमोग्लोबिन की मात्रा कम हो जाए तो आवश्यकतानुसार आक्सीजन शरीर के विभिन्न सेलों को नहीं मिलती जिसके कारण हमारी कार्यक्षमता में कमी आ जाती है।

कम हीमोग्लोबिन+सांस द्वारा आक्सीजन—कम हीमोग्लोबिन से कम आक्सीजन

उत्तकों व मांसपेशियों में काम करने की क्षमता में कमी

जब व्यक्ति स्वस्थ होता है तो हीमोग्लोबिन का सामान्य स्तर पुरुषों में प्रति सौ मिलिलीटर रक्त में 13 ग्राम और स्त्रियों में 12 ग्राम माना जाता है। जब यह स्तर कम हो जाता है तो व्यक्ति में खून की कमी हो जाती है। जिस प्रकार वजन, मशीन के द्वारा नापा जाता है उसी प्रकार खून की एक बूंद लेकर उसमें हीमोग्लोबिन नापा जाता है। प्रशांत क्षेत्र के देशों में अमीरों और गरीबों के मध्य एक गहरी खाई चिंताजनक रूप से बढ़ रही है। आर्थिक स्तर पर बढ़ता यह अंतर, माताओं एवं बच्चों के लिए घातक हो गया है। यूं तो पिछले चार दशकों में बाल मृत्यु में कमी आई है लेकिन बावजूद इसके भारत अभी भी बाल मृत्युदर कम करने के लिए निर्धारित किए गए विभिन्न सहस्राब्दि स्वास्थ्य लक्ष्यों, एमडीजी-1 (पोषण व आहार के स्तर को सुधारने

के लिए तय किया गया लक्ष्य) एमडीजी-5 (माताओं के स्वास्थ्य स्तर को उठाने के लिए निर्धारित लक्ष्य), जोकि विभिन्न देशों द्वारा निर्धारित अवधि के अंदर स्वास्थ्य एवं चिकित्सकीय सुविधा प्राप्त करने से संबंधित लक्ष्य को प्राप्त करने में कई विकसित देशों और यहां तक कि श्रीलंका जैसे विकासशील देश से भी पीछे हैं। यह रिपोर्ट इस तथ्य का भी खुलासा करती है कि विश्व में कुल कम वजन के बच्चों में भारत का प्रतिशत 38 है, विश्व में कुल 42 प्रतिशत भारतीय बच्चे वह हैं जो पैदाइशी तौर पर कम वजन के होते हैं और चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कम वजन के नवजात शिशुओं की जीवन प्रत्याशा स्वस्थ शिशुओं के मुकाबले 20 प्रतिशत कम होती है यही कारण है कि भारत में कुल शिशु मृत्युदर में से दो तिहाई शिशुओं की मौत जन्म लेने से 20 दिनों के अंदर हो जाती है। चिकित्सकीय सुविधाओं ने भारत में यद्यपि मृत्युदर को किसी अंश तक घटा दिया है परन्तु गैर संचारी एवं संचारी रोगों तथा पोषाहार की समस्याओं के कारण बीमारियों से ग्रस्त होने वाले बच्चों की संख्या में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। उचित पोषण के अलावा 'टीकाकरण' बच्चों के स्वास्थ्य का रक्षक बन सकता है परंतु दुखद पहलू यह है कि यहां भी स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की रिपोर्ट के मुताबिक बच्चों को टीका लगाने के संबंध में कोई सकारात्मक विकास नजर नहीं आ रहा है। आज भी मात्र 43.5 प्रतिशत बच्चों (12-23 महीनों) को ही सारे टीके लग पाते हैं। भारत दुनिया के उन चार मुख्य देशों में शामिल है जहां अब भी पोलियो के मरीज पाए जाते हैं। अगर हम आंकड़ों पर नजर डालें तो पाएंगे कि वर्ष 2005-06 में जहां 35 जिलों में पोलियो के 66 मामले थे वहीं 2006-07 में 87 जिलों में 490 मामले प्राप्त हुए हैं। यह सर्वविदित सत्य है कि बच्चों के जीवन और मृत्यु के बीच आज सबसे घातक वार एड्स का है। नवजात बच्चों में एचआईवी संक्रमण बच्चे के जन्म या स्तनपान के समय होता है। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 78 लाख 3 हजार गर्भवती महिलाएं एचआईवी संक्रमित होती हैं जिनमें से अनुमानतः 23,490 बच्चे एचआईवी से संक्रमित हो जाते हैं। केंद्र सरकार ने 2011 तक इसमें कमी लाने के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं। रिपोर्ट के अनुसार 2011 तक अनुमानित हर वर्ष एचआईवी संक्रमित महिलाओं में से 80 प्रतिशत को प्रोफाइलेक्टिक एंटी रिट्रोवायरल थेरेपी उपलब्ध कराने का लक्ष्य निर्धारित किया है। माता-पिता से बच्चों में एचआईवी फैलने से रोकने से संबंधी कार्यक्रम (पीपीटीसीटी) को प्रभावी तरीके से लागू किए जाने से विषाणु के संचरण को शून्य प्रतिशत तक लाया जा सकता है। एड्स के अलावा न्यूमोनिया बच्चों के स्वास्थ्य को किस कदर नुकसान पहुंचा रहा है यूनिसेफ और विश्व संगठन की रिपोर्ट 'न्यूमोनिया द फॉरगाटेन किलर ऑफ चिल्ड्रेन' से स्पष्ट हो जाता है। रिपोर्ट में यह बताया गया है कि दुनिया भर में बच्चों की सर्वाधिक मौतें न्यूमोनिया के कारण होती हैं। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 4.4 करोड़ न्यूमोनिया के मामले सामने आते हैं। आंकड़े यह भी बताते हैं कि चेचक और मलेरिया से दुनिया में वर्ष 2004 में मरने वाले कुल 4,10,000 शिशुओं में 60 प्रतिशत शिशुओं की मौत भारत में हुई। यूनिसेफ ने 2015 तक शिशु मृत्यु का आंकड़ा 36 प्रति हजार लाने का

लक्ष्य रखा है। यह लक्ष्य हासिल करने के लिए इस दर में 7.6 प्रतिशत वार्षिक कमी लाने का लक्ष्य रखा है। यह लक्ष्य हासिल करने के लिए इस दर में 7.6 प्रतिशत वार्षिक कमी लाने की आवश्यकता है, जबकि वर्तमान में भारत 2.6 प्रतिशत की दर से हासिल कर सका है। भारत में बाल मृत्यु का एक प्रमुख कारण चिकित्सा सेवा में कमी है। ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद ढांचागत आधार के अनुसार कुल 70.2 प्रतिशत विशेषज्ञ डॉक्टरों की कमी है। इसमें 75 प्रतिशत शिशु विशेषज्ञ, 70.9 प्रतिशत सर्जन तथा 60 प्रतिशत महिला रोग विशेषज्ञ की कमी बनी हुई है। इसी संदर्भ में अगस्त '08 को प्रधानमंत्री ने चिकित्सा ढांचे में क्षेत्रीय असंतुलन पर चिंता जताते हुए देशभर में चिकित्सीय सुविधाओं को तुरंत बढ़ाए जाने का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा कि डॉक्टरों की कमी और चिकित्सा संस्थानों की मौजूदा संख्या बढ़ती मांग के अनुसार कम है। योजना आयोग की हाल ही की एक रिपोर्ट के अनुसार, देश को अगले पांच वर्षों में लगभग दस लाख नर्सों की आवश्यकता होगी। एनएफएचएस-3 के अनुसार क्षेत्र के आधा पर स्वास्थ्य सेवाओं में अंतर पाया जाता है। जहां यह नागालैंड में 12 प्रतिशत है तो वहीं तमिलनाडू में यह 90 प्रतिशत है। इसी विषय को उठाते हुए प्रधानमंत्री ने कहा कि लगभग 60 प्रतिशत चिकित्सा शिक्षण सुविधाएं दक्षिण भारत में हैं जिसके कारण देशभर में चिकित्सा ढांचे और चिकित्सीय सुविधाओं में क्षेत्रीय असंतुलन पैदा हो गया है और इस कमी को दूर करने के लिए स्वास्थ्य मंत्रालय और राज्य सरकारों के सामूहिक प्रयास की जरूरत है। स्वास्थ्य भारत के अधूरे स्वप्न का कारण सिर्फ चिकित्सा सेवा में कमी ही नहीं, बल्कि देश में आर्थिक, जातीय, क्षेत्रीय और शैक्षणिक असमानता व लैंगिक विभेद की संकीर्ण विचारधाराएं भी हैं। भारतीय समाज में व्याप्त लैंगिक भेदभाव और महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति बरती जाने वाली मानसिकता आज भी यथावत विद्यमान है। स्वस्थ स्त्री ही स्वस्थ बच्चे की जननी बन सकती है पर यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि भारत में हर तीन महिलाओं में से एक का वजन मानक वजन से कम है। कम उम्र में मातृत्व बोझ एवं गर्भावस्था के काल में पोषण एवं उचित आहार को लेकर बरती जाने वाली लापरवाही भी बाल मृत्यु को बढ़ावा देती है।

हीमोग्लोबिन का स्तर

आयु (वर्षों में)	ग्राम/100 मि.ली.
0-5	11
6-17	12
गर्भवती महिला	11
महिला	12
पुरुष	13

वैसे तो यह रोग किसी भी आयु समूह में हो सकता है परन्तु महिलाओं और बच्चों में यह अधिक पाया जाता है।

एनीमिया के कारण : एनीमिया के मुख्य कारण इस प्रकार है :-

1. रक्तक्षय- रक्तक्षय कई कारणों से हो सकता है जैसे महिलाओं में मासिक स्राव के समय लौह तत्वों की कमी हो जाती है। इन दिनों में एक दिन में सामान्यतया 5 मि.ग्राम लौह तत्व की कमी होती है जिसकी हमारे शरीर में भोजन के माध्यम से ही पूर्ति होती है। इसी प्रकार गर्भवती महिलाओं को लौह तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि उन्हें स्वयं व बच्चे दोनों को जरूरी लौह तत्वों की पूर्ति करनी होती है। जब कोई महिला गर्भधारण करती है तो उसके अंदर पल रहे शिशु का खून मां के खून से ही बनता है। ऐसी अवस्था में सामान्यतया मां के शरीर में हीमोग्लोबिन की मात्रा कम हो जाती है। ऐसे में मां और बच्चे दोनों पर तुरन्त ध्यान न देने पर खतरा हो सकता है। इसी तरह नवजात शिशु प्रारंभिक छह माह तक अपनी आवश्यकता के लिए मां के दूध से लौह तत्व लेता है परंतु दस माह के बाद यदि उसे ऊपरी आहार पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है तो वह एनीमिया का शिकार हो जाता है। भारत में 55 प्रतिशत लड़कियां तथा 57 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं एनीमिया का शिकार होती हैं। एनीमिया मौत एवं अवरूद्ध शारीरिक विकास का एक प्रमुख कारक है। भारत में 30 प्रतिशत नवजात शिशु एनीमिया के शिकार होते हैं।

इसी प्रकार बच्चों को भी लौह तत्वों की आवश्यकता अधिक होती है क्योंकि उनमें विकास जल्दी होता है। शरीर के बढ़ते आकार के लिए अधिक लौह तत्वों की आवश्यकता होती है जिनकी पूर्ति न होने पर वे एनीमिया के शिकार हो जाते हैं। खून की कमी भूख को प्रभावित करती है। अतः इन बच्चों की धीरे-धीरे भूख कम हो जाती है और कम खाना खाने से उनके विकास पर असर पड़ता है। बार-बार बीमार होने के कारण उनकी कमजोरी बढ़ जाती है और वे अपनी आयु के बच्चों की तुलना में पीछे रह जाते हैं।

2. लाल रक्तकण संबंधी बीमारियां- हमारे शरीर में लाल रक्तकण होते हैं जिनकी आयु 120 दिन/4 माह की होती है। इसके बाद के स्वयं नष्ट होकर फिर से नए लाल रक्तकण बन जाते हैं। इस प्रकार निर्माण और नष्ट होने की क्रिया स्वस्थ शरीर में निरन्तर चलती रहती है। परन्तु कई बार यदि यह संतुलन बिगड़ जाए तो भी एनीमिया हो जाता है। कुछ ऐसी जन्मजात बीमारियां होती हैं जो लाल रक्तकणों पर सीधा प्रहार करती हैं। ये या तो उनका आकार बदल देती हैं या उनके अन्दर के हीमोग्लोबिन के संगठन में हेर-फेर ला देती हैं। इस प्रकार की बीमारियों के निदान एवं उपचार में तत्परता बरतनी चाहिए।

3. असंतुलित आहार- भारत में एनीमिया का सबसे बड़ा कारण असंतुलित आहार है। कई बार हम जो भोजन खाते हैं, उनमें अज्ञानतावश उन तत्वों की कमी रह जाती है जिनसे लाल रक्तकण या हीमोग्लोबिन बनता है। जैसे-प्रोटीन, लोहा, विटामिन सी, विटामिन बी-12, विटामिन बी-6, कैल्सियम आदि। प्रोटीन दूध तथा दूध से बनी वस्तुओं, दालों, अनाज, मछली, मांस, आलू, केला, सोयाबीन, फली वाली सब्जियों में विद्यमान रहता है। विकास की अवस्था में प्रोटीन की ज्यादा आवश्यकता होती है। इसी प्रकार से लोहा, कलेजी, हरी पत्तेदार सब्जियों, अंडे, मेवे,

केले, फल, मांस, आलू आदि में सामान्य से अधिक मात्रा में मिलता है। इसी प्रकार विटामिन-सी खट्टे पदार्थों जैसे-नींबू, संतरा, आंवला, मौसमी, टमाटर, हरी सब्जियों में ज्यादा मिलता है। इस प्रकार शारीरिक वृद्धि एवं विकास की अवस्था में उपरोक्त सभी तत्वों खाद्य पदार्थों में विद्यमान रहने चाहिए।

4. कृमि की बीमारियां- कई बार हमारे शरीर में खाने-पीने की चीजों के माध्यम से कृमि प्रवेश कर जाते हैं, जिससे हम जो भी भोजन खाते हैं, वे उसका खून नहीं बनने देते। ये आंतों पर चिपककर खून पोषण कर देते हैं। 'एन्काईलोस्टोमा' नाम का कृमि 91 दिन में 6/10 मिलीलीटर रक्त चूस जाता है जो कि नंगे पैर चलने के कारण शरीर में प्रवेश कर जाता है। अतः इसके लिए नंगे पांव जमीन पर चलना बंद करना चाहिए। इन कारणों के अतिरिक्त गरीबी, जनसंख्या वृद्धि, बार-बार दवाइयां खाने से भी कई बार एनीमिया हो जाता है।

लक्षण : एनीमिया से ग्रस्त व्यक्ति में भूख की कमी, सांस चढ़ना, हृदय धड़कन में वृद्धि, निस्तेज आंखें, पीला चेहरा, सफेद नाखून तथा हाथों में सूजन प्रमुख लक्षण हो सकते हैं।

एनीमिया को ठीक करने के उपाय : गर्भवती महिलाओं को लौह तत्वों युक्त खाद्यान्नों का सेवन नियमित रूप से करना चाहिए। क्योंकि जब कोई महिला गर्भधारण करती है जो उसके अंदर पल रहे शिशु के खून की पूर्ति भी मां के खून से ही होता है। अतः मां के शरीर में लौह तत्व का एक बड़ा भंडार संग्रहित करना अनिवार्य होता है। इसके लिए महिला को डाक्टर के परामर्श से कम से कम 100 गोलियों का सेवन प्रतिदिन एक गोली के रूप में अवश्य करना चाहिए। स्तनपान कराने वाली माता को लौह तत्वों की अधिक जरूरत होती है। दूध पिलाने वाली माता को भी लौह तत्वों (प्रोटीन, विटामिन, कैल्शियम आदि) से युक्त भोजन करना चाहिए ताकि उसके दूध के माध्यम से उपयुक्त मात्रा बच्चे को भी पर्याप्त हो सके तथा उसका शारीरिक ढांचा सुदृढ़ हो सके।

खाने के साथ ताजी खटाई जैसे-नींबू, टमाटर, संतरा, आंवले का सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से भोजन में जितना भी लौह तत्व हैं, वह पूर्णतः उपयोग हो जाता है। इसी प्रकार हरी मिर्च बेशक खाने में कड़वी लगती है परन्तु कच्ची स्थिति में यह विटामिन-सी का अच्छा स्रोत है। अतः इसे भोजन के साथ में अवश्य ग्रहण करना चाहिए। सब्जी को लोहे की कढ़ाई में पकाना चाहिए। ऐसा करने से कढ़ाई से लौहा निकलकर सब्जी में आ जाता है तथा शरीर इसका उपयोग खून बनाने में कर लेता है। बाल विकास अवस्था में लौह तत्वों का उपयोग सामान्य से अधिक मात्रा में करना चाहिए। भोजन में यदि संभव हो तो गुड़ का भी सेवन करना चाहिए।

जनसंख्या पर नियंत्रण भी करना चाहिए क्योंकि यदि जनसंख्या अधिक होती है तो प्रति व्यक्ति को उचित मात्रा में संतुलित आहार मिलना कठिन होता है। बार-बार गर्भधारण के कारण और आहार में पोषण तत्वों की कमी की दुहरी मार से महिला का स्वास्थ्य जर्जर होता जाएगा। इसके अतिरिक्त दवाओं का अत्यधिक सेवन करने से भी बचना चाहिए। फर्श पर विशेषकर मिट्टीयुक्त जमीन पर नंगे पांव न चलने से

तथा सही समय निदान और उपचार से एनीमिया जैसी जानलेवा बीमारियों से बचा जा सकता है।

भारतीय महिलाओं में साक्षरता एवं जागरूकता की कमी है जिसके कारण वे बच्चों की एवं स्वयं की समस्याओं को समझने में असमर्थ होती हैं, मातृ एवं बाल मृत्यु को बढ़ावा देती हैं। जातिगत विभेद एवं असमानता के कारण भी बच्चे एवं महिलाएं समय मृत्यु का शिकार बनती हैं। देश की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जाति एवं जनजाति की भागीदारी 26 प्रतिशत है परंतु अनुसूचित जाति की लगभग 17 करोड़ एवं अनुसूचित जनजाति की लगभग आठ करोड़ जनसंख्या, प्रारंभिक स्वास्थ्य सुविधाओं को पाने से वंचित हैं। यूनिसेफ की रिपोर्ट में इस तथ्य की पुष्टि की गई और उल्लेखित भी किया गया है कि भारत में पिछड़ी जातियों के कुल बच्चों के तीन चौथाई बच्चे रक्तहीनता से ग्रस्त हैं। पिछड़ी जातियों में प्रसव के लिए आज भी देसी प्रसव प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है परिणामतः हर वर्ष बड़ी संख्या में बच्चों और महिलाओं की मृत्यु हो जाती है। आर्थिक असमानता भी बाल मृत्यु को बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी है। वर्ष 2005-06 के मध्य जहां शहरी क्षेत्रों में बाल मृत्युदर प्रति हजार 44 थी वहीं इसी अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में यह दर 1,000 में 76 दर्ज हुई।

स्वस्थ भारत के स्वप्न को साकार करने के लिए सरकारी स्तर पर प्रयास जारी है। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन केंद्र सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इसका उद्देश्य एक पूर्ण क्रियाशील, समुदाय आधारित, विकेंद्रीकृत स्वास्थ्य सुपुर्दगी प्रणाली की स्थापना करना है। केंद्र सरकार ने ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के अन्तर्गत हर गांव में प्रशिक्षित सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता 'आशा' की नियुक्ति करने का निर्णय लिया यह योजना अभी 18 राज्यों में ही लागू है। 11वीं पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य 0-3 वर्ष के बच्चों में कुपोषण को घटाकर आधा करना है तथा महिलाओं और बालिकाओं में खून की कमी को वर्तमान स्तर से आधा करना है।

राष्ट्रीय विकास लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु भारत एवं यूनिसेफ ने अगस्त '08 को पांच वर्षीय एक्शन प्लान आरंभ किया। इस एक्शन का मुख्य उद्देश्य शिशु एवं मातृ मृत्युदर में कमी, कुपोषण के खिलाफ संघर्ष, स्वच्छता एवं शिशु रक्षा सुनिश्चित करना होगा। वर्ष 2008-12 के मध्य केंद्रीय प्रोग्राम के तहत विकास लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।

राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य के स्तर को बढ़ाने हेतु प्रयास किए जा रहे हैं परन्तु असमानताओं का दंश जब तक भारतीय समाज को भेदता रहेगा तब तक बच्चों और माताओं की असामायिक मौतें भारत के लिए चिंता का विषय बनी रहेंगी।

संदर्भ

1. योजना - 2006
2. योजना - 2009
3. कुरुक्षेत्र - 2007
4. आहार और पोषण - उषा टंडन।

भारतीय कृषि के विकास में तकनीकी परिवर्तनों की भूमिका

डॉ० पुष्पांजलि आर्य

असि. प्रो. अर्थशास्त्र रा. स्ना. महावि. कोटद्वार (गढ़वाल)

भारत कृषि प्रधान देश है। जहां कृषि के क्षेत्र में विकास की आधारशिला उच्च तकनीकी व्यवस्थाएं हैं। जिनमें निरंतर परिवर्तन उसकी तीव्रगति को निर्धारित करता है। तकनीकी परिवर्तन एक बहुआयामी धारणा है। जिसका मानव और मानव विकास से प्रत्यक्ष संबंध है। तकनीकी विकास मात्र कृषि ही नहीं वरन् जन-जीवन की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि समस्त गतिविधियों को प्रभावित करता है। तकनीकी-परिवर्तन किसी भी क्षेत्र की विशिष्ट कार्य कुशलता और उत्पादकता को द्योतित करता है। प्रमुख भारतीय कृषि-विज्ञानी प्रोफेसर दंतवाला कृषि क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तन को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, “तकनीकी परिवर्तन कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने का एक बहुमुखी और वैज्ञानिक प्रयास है। जिसके तहत कृषि भूमि की मौलिक विशेषताओं के अनुरूप सिंचाई, उन्नत बीज, रासायनिक खाद, नवीन कृषि यंत्रीकरण तथा कृषि पद्धति में वांछित सुधार द्वारा प्रति हेक्टेयर कृषि उत्पादकता में तीव्र वृद्धि करने का सतत् प्रयास है।¹ प्रोफेसर मेयर कहते हैं कि, “तकनीकी परिवर्तन आर्थिक दृष्टि से कृषि क्षेत्र की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र से अधिक जुड़ा हुआ चिंतन है।² हरित क्रांति के जनक प्रोफेसर स्वामीनाथन कहते हैं कि, “तकनीकी परिवर्तन का संबंध कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसंधान और खोज तक सीमित नहीं है। यह एक सैद्धांतिक विचार न होकर कृषि भूमि पर किया गया प्रयोगात्मक और तकनीकी प्रयास है। जो भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था में सभी प्रकार के विविध प्रयोगों का सम्मिलित परिणाम है।³

भारतीय कृषि में तकनीकी परिवर्तन के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में यथा सिंचाई, उन्नत बीज, रासायनिक खाद, नवीनतम कृषि, यांत्रिक-उपकरण आदि सभी में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। विशेषकर हरित क्रांति स्वयं तकनीकी अनुसंधान और खोज का सफल प्रमाण है। वर्तमान में तकनीकी अनुसंधान मात्र औद्योगिकरण नहीं वरन् कृषिक्षेत्र के विकास का भी एक अभिन्न अंग हो गया है। भारत में कृषि आदानों पर तकनीकी परिवर्तन के विभिन्न प्रभाव देखने को मिलते हैं। कृषि आदान के अंतर्गत कृषि क्षेत्र में उत्पादित फसलों का विपणन, बाजार एवं गोदानों में उत्पादित सामग्रियों को वैज्ञानिक तरीकों से सुरक्षित रखने की विधियां आदि शामिल हैं। इसमें जल,

सिंचाई, खाद और उर्वरक, उन्नत बीज, भू-संरक्षण, पौध-संरक्षण, कृषियंत्र और उपकरण आदि भी सम्मिलित हैं।

कृषि क्षेत्र और तकनीकी परिवर्तन

नवीन बीज पद्धति :

वर्तमान माँग के अनुसार आधुनिक वैज्ञानिक विधि से कृषि भूमि पर फसल उत्पादन वृद्धि हेतु उन्नत बीजारोपण विधियों को अपनाना अपेक्षित हो गया है। जिसमें बीज उत्पादन के संस्था एवं विक्री केंद्रों की क्षमता का विकास, नवीन बीजों के उचित रासायनिक भंडारण पर ध्यान, उनकी वैधता, किस्मों की गुणवत्ता तथा लाट का प्रमाणीकरण, जांच, क्षमता आदि पर केंद्रीकरण व क्रियान्वयन जरूरी है। बीज शोधन की शुष्क, लेप, गोल आदि विधियों द्वारा कृषि उत्पादन को तीव्रता प्रदान की जा सकती है।

भू संरक्षण :

कृषि की उन्नति और विकास का मूल आधार भूमि की उर्वरा शक्ति है। जिसके हास को तकनीकी परिवर्तनों से संतुलित किया जा सकता है और किया भी जा रहा है। भूमि संरक्षण में वनों की सुरक्षा, बंधन भूमि के किनारों को ऊंचा उठाना तथा भूमि का समतलीकरण आदि की ओर ध्यान दिया जाता है। हालांकि वैज्ञानिक शोध, अनुसंधान और नवीन तकनीकी ज्ञान व परिवर्तनों को अपनाकर भूमि संरक्षण में तीव्रता से बदलाव हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति से सातवीं पंचवर्षीय योजना तक 254 लाख हेक्टेयर से अधिक भूमि को भू-संरक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत लाया जा चुका है। निरंतर भूमि संरक्षण हेतु वृक्षारोपण, विस्तृत जांच, वनारोपण, चराई व नियंत्रण, भूमि के उपयोग की उचित रीति, जलाशयों का निर्माण, प्रवाहित जल की गति को अवरुद्ध करना, खेती की उचित पद्धति, अन्वेषण आदि क्रियाएं सम्मिलित हैं। जिनके माध्यम से भू संरक्षण कर निरंतर कृषि विकास में उन्नति हो रही है।

कृषि में सिंचाई :

भारतीय कृषि में सिंचाई सर्वोपरि है। सर चार्ल्सत्रिवेलियन कहते हैं कि, “भारत में सिंचाई सब कुछ है, पानी का मूल्य भूमि के मूल्य से भी अधिक है।” निश्चित ही सिंचाई भारतीय कृषि के विकास की नींव है। सिंचाई के माध्यम से कृषि फसलों की उपज, स्थानीय खेती का प्रादुर्भाव, कृषि प्रधान राज्यों में रेलों की आय, सरकारी आय में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है। कृषि के कृत्रिम साधनों के विस्तार द्वारा मानसून निर्भरता को भी संतुलित किया जा सकता है।

वर्षा की अनिश्चित व असमायिक अवस्था को कम करने के लिए तकनीकी परिवर्तनों व सिंचाई साधनों में विस्तार की आवश्यकता है।

वर्षा की मौसमी प्रकृति के कारण खरीफ की फसलों में जो लाभ प्राप्त हो पाता है वह रवि की फसलों में नहीं अतः तकनीकी परिवर्तन द्वारा फसलों के इस असंतुलन को दूर किया जा सकता है।

देश में अकाल भय से छुटकारा पाने के लिए तकनीकी परिवर्तनों द्वारा सिंचाई साधनों की आवश्यकता है।

नई भूमि पर खेती की संभावना को बढ़ाने के लिए सिंचाई साधनों में वृद्धि की महत्ता अपेक्षित है ।

किसानों की आय में वृद्धि हेतु नोल्स के मतानुसार, जीवन की सुरक्षा के साधन के रूप में सिंचाई व्यवस्था में बढ़ोतरी कर भूमि के उत्पादन मूल्य द्वारा आय में वृद्धि कर कृषक-जीवन को नई उमंग देते हुए नई राहें सृजित करने की आवश्यकता है।

सघन कृषि कार्यक्रम की सफलता के लिए भी सिंचाई का अपना अलग महत्व है। क्योंकि अधिक उपज देने वाली किस्में, आवश्यक मात्रा में रासायनिक उर्वरकों के साथ सिंचित क्षेत्रों में ही उगाई जाती हैं ।

बाढ़ों में नियंत्रण करने के लिए भी नदियों से नेहरों को निकालकर नवीन राहें सृजित कर उन पर नियंत्रण किया जा सकता है।

सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार से कर के रूप में सरकारी आय में वृद्धि तथा रोजगार में वृद्धि होगी ।

यातायात की सुलभता के लिए सिंचाई हेतु बनाई गई नदियों और नेहरों पर नाव वाइज स्टीमर्स के माध्यम से अंतर्देशीय जल-यातायात के विकास द्वारा परिवहन के दूसरे साधनों पर यातायात का दबाव कम किया जा सकता है।

भारत में योजना आयोग द्वारा सिंचाई के साधनों को 3 वर्गों में विभाजित किया गया है।

प्रथम लघु सिंचाई परियोजनाएं- जिसके अंतर्गत 25 लाख रुपए की कम लागत वाली योजनाएं शामिल रहती हैं। यथा कुएं, नलकूप, तालाब, नेहरों आदि से संबंधित परियोजनाएं।

द्वितीय मध्यम सिंचाई परियोजना- जिसके अंतर्गत 25 लाख रुपए से 5 करोड़ वाली सिंचाई परियोजनाएं शामिल हैं। इसमें इसमें मध्यम श्रेणी की नेहरें शामिल हैं।

भारतीय सिंचाई की नवीनतम क्रमिक रूपरेखा

छठी पंचवर्षीय योजना के बाद से लघु, मध्यम और वृद्ध सिंचाई परियोजनाओं की लागत व्यय में भी तीन गुनी से अधिक वृद्धि हुई है। पांचवी, छठी, सातवीं पंचवर्षीय योजना के अनुसार क्रमशः कूँ, नलकूप, तालाब, नेहरें आदि प्रणालियों में निरंतर तकनीकी परिवर्तन के माध्यम से भारतीय कृषि द्वारा आर्थिक विकास में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। भारतीय सिंचाई की नवीन रूपरेखा के अनुसार सिंचाई पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में 441.8 करोड़ रुपए व्यय हुआ था जो दसवीं पंचवर्षीय योजना में बढ़कर 95743.42 करोड़ रुपये हो गया। यदि भारत में विभिन्न साधनों द्वारा सिंचाई क्षेत्र के विवरणको तालिका द्वारा देखा जाए तो तकनीकी परिवर्तनों से हो रही आर्थिक सफलताओं का प्रत्यक्ष स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

भारत में विभिन्न स्रोतों द्वारा सिंचित क्षेत्र का विवरण

सिंचाई का साधन	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	2000-01	2006-07
सरकारी नेहरें	8.3 (39.7)	10.4 (41.9)	12.0 (38.5)	14.5 (37.9)	17.0 (34.5)	17.4 (31.4)	18.5 (31.67)
गैर सरकारी नेहरें	-	-	0.9 (2.9)	0.8 (2.1)	0.5 (1.0)	0.6 (1.08)	0.65 (1.11)
तालाब	3.6 (17.2)	4.6 (18.6)	4.1 (13.1)	3.2 (8.2)	2.9 (6.9)	3.50 (6.32)	3.78 (6.42)
कूँ तथा नलकूप	6.0 (27.2)	7.4 (29.8)	11.9 (38.1)	17.7 (45.6)	24.7 (50.8)	30.8 (55.6)	31.5 (53.9)
अन्य स्रोत	3.0 (14.4)	2.4 (9.7)	2.3 (7.4)	2.6 (6.7)	2.9 (6.7)	3.0 (5.4)	4.0 (6.84)
सिंचाई के अंतर्गत शुद्ध क्षेत्रफल	20.9 (100.0)	24.8 (100.0)	31.2 (100.0)	38.8 (100.0)	48.0 (100.0)	55.3 (100.0)	58.4 (100.0)

- स्रोत स्टैटिस्टिकल आउटलाइन ऑफ इंडिया 2007-08

सिंचाई पर व्यय:

सिंचाई पर किये गये व्यय द्वारा कृषि के विकास दर भी तेजी से प्रभावित हुई है। इस व्यय दर को निम्न तालिका के द्वारा समझा जा सकता है-

मातादर्शी

अर्थशास्त्र

(78)/जनवरी, 2012

भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई पर परिव्यय:

योजना	परिव्यय करोड़ रुपए में	संचयीसिंचाई क्षमता प्रति हेक्टेयर में
प्रथम योजना	450	260
द्वितीय योजना	520	290
तृतीय योजना	910	340
चतुर्थ योजना	1750	440
पांचवी योजना	3070	520
छठी योजना	9320	605
सातवी योजना	14360	765
आठवी योजना	32525	896
नवी योजना	55420	954
दसवी योजना	103315	1000 अनुमानित

स्रोत- विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं प्रथम से दसवी योजना तक के अभिलेखों पर आधारित है।

खाद तथा उर्वरक :

भारतीय कृषि क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तन लाने में खाद और उर्वरक की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। कृषि उत्पादन के विकास में उर्वरक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार 1 टन पोषण उर्वरक खाद्यान्न के उत्पादन को लगभग 10 टन बढ़ाया जा सकता है। जैविक खादों की अपेक्षा कम भार होने के कारण रासायनिक उर्वरक एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना भी सुगम होता है।

जापान, जर्मनी, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि विदेशी देशों की अर्थव्यवस्था पर कृषि के तकनीकी विकास, उन्नतबीज, सिंचाई आदि की अपेक्षा रासायनिक खादों के प्रयोग से अधिक तीव्रता आई है। खाद प्रयोग में उपयोग में लाई जाने वाली तकनीकी विशेषताएं विश्व स्तर पर विकास की सकारात्मकता को प्रभावित करती हैं।

जैविक खादें वह कार्बनिक पदार्थ हैं जो, मुख्यतः वानस्पतिक सामग्री और पशुओं के गोबर और मूत्र पर आधारित होती हैं। इसमें भी गोबर की खाद, कपोस्ट हरी खाद, विष्टा की खाद और चीनी मिल की छीजछीजल की खाद स्थूल जीवांश हैं। खली, खून मछली व हड्डी की खादें सान्द्रित जीवांश खादें हैं। इन सभी को रासायनिक परिवर्तनों के माध्यम से सरल पोषक एवं ऊर्जावान उर्वरक बनाया जाता है। वर्तमान में तकनीकी परिवर्तनों के आधार पर इनमें तीव्रता से विकास हुआ है।

नाइट्रोजन धारी उर्वरक-नाइट्रेट, अमोनियम, अमोनियम तथा नाइट्रेट एवं एमाइड के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जिनका प्रयोग गेहूं, जौ, ज्वार, तिलहन, आलू, सब्जी आदि के लिए उत्तम रहता है।

पोटेशियम धारी उर्वरक- आदि का प्रयोग फसलों के प्रारंभ में फसलों को पकाने के लिए किया जाता है।

भारत में 1960-61 में कुल उर्वरकों का उत्पादन 150 हजार टन था जो बढ़कर 2003-04 में 14,200 हजारटन हो गया है। वर्ष 2009-10 में यूरिया, डि-अमोनियम,

फास्फेट (डीएपी) और सम्मिश्र उर्वरक का घरेलू उत्पादन 2008-09 की तुलना में बढ़ा है। यूरिया का उत्पादन 2010-11 में 215.37 लाख टन अनुमानित हो गया है। और डीएपी तथा सम्मिश्र समस्त उत्पादन क्रमशः 39.58 लाख टन तथा 91.66 लाख टन है।

निष्कर्ष:

- भारत में आर्थिक नियोजन के पिछले 50 वर्षों में सिंचाई की सुविधाओं का तेजी से विकास हुआ है वर्तमान में अनुमानित 40% कृषि क्षेत्र को सिंचाई की परिवर्तित सुविधाएं व उपकरण प्राप्त हुए हैं। जबकि लगभग 60% कृषि भूमि आज भी असिंचित है और मानसून की दया पर निर्भर है। वर्तमान में तेजी से बढ़ते तकनीकी परिवर्तनों द्वारा कृषक शिक्षा, अज्ञानता, सिंचाई हेतु जल के अनुकूलतम उपयोग, तकनीकी ज्ञान व प्रशिक्षण में अपेक्षित सुधार किए गये हैं। तकनीकी जागरूकता निश्चित ही भारत को आर्थिक मजबूती देने में सक्षम होगी।
- 2000-01 एवं इसके बाद की नवीन कृषि प्रणाली में सिंचाई के साधनों में कूँ तथा नलकूपों का योगदान उत्तरोत्तर बढ़ चुका है और नलकूप तथा कूँ वर्तमान जगत में लघु, मध्यम और सीमांत कृषकों सहित अधिकांश कृषकों के लिए सिंचाई का सर्वाधिक लोकप्रिय साधन बन चुके हैं।
- केंद्र सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम पर भारी मात्रा में धन व्यय कर देश की सिंचाई क्षमता को निरंतर गति प्रदान की है। जिससे आर्थिक विकास की दर भी उत्तरोत्तर प्रगति को प्राप्त हुई है।
- छठी परियोजना में कृषि से संबंधित सुझाव, योजना नवीन तर्क, नवीन अभिकरण, विकास आदि कोलेकर विभिन्न विभागों तथा कृषि विश्वविद्यालयों के मध्य भी तालमेल स्थापित कर, कृषि विज्ञान, अनुसंधान, तर्क और ज्ञान को समाज के मध्य लाने का प्रयास किया गया है। कृषि विश्वविद्यालय को कृषि-मेले, विस्तार, प्रशिक्षण एवं प्रयोगात्मक कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करने के विभिन्न दायित्व सौंपे गए हैं। जिससे जनसामान्य को भी इसके प्रति जागरूक किया जा सके क्योंकि कृषकों की जागरूकता, कृषकों की शिक्षा एवं आधुनिक तकनीकियों से जुड़ा वही कृषि के आर्थिक विकास को बढ़ाने में और मजबूत करने में सक्षम हो सकेगा।
- कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु सिंचाई के समान ही रासायनिक खादों का, उर्वरकों का भी योगदान अपूर्व है। जनसंख्या की तीव्रता ने खाद्यान्न उत्पादन को भी प्रभावित किया है। वर्तमान में तकनीकी प्रयोग द्वारा रासायनिक खादों के समग्र उत्पादन में चौगुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है।
- तकनीकी परिवर्तन व सुधार आर्थिक प्रगति का मूल आधार है। भारतीय कृषि का भावी विकास अनन्य रूप से नवीन विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी पर निर्भर है। भारत में हरित क्रांति ने कृषि अर्थव्यवस्था में कायापलट कर दिया है। आज

हरित क्रांति के समान ही किसी नवीन क्रांति की आवश्यकता है। आज हरित क्रांति, श्वेत क्रांति, नीली क्रांति, भूरी क्रांति, लाल क्रांति, सुनहरी क्रांति, गुलाबी क्रांति, रजत क्रांति, पीली क्रांति, गोल क्रांति, ब्राउन या ब्लैक क्रांति के सामान 21वीं सदी में एक इंद्रधनुष क्रांति की आवश्यकता है। अर्थात् एक ऐसी क्रांति की जिसमें यह समस्त क्रांतियाँ एक होकर साथ-साथ चलने में सक्षम हो और भारत की अर्थव्यवस्था को 10 गुना मजबूत करने में कारगर सिद्ध हों।

- भारतीय कृषि उत्पादन में प्रयुक्त सिंचाई, उन्नत बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयों के क्षेत्र में निरंतर खोज प्रशिक्षण एवं प्रयोग द्वारा नई तकनीक का विकास करके भारतीय कृषि को मजबूत किया जा सकता है। तकनीकी परिवर्तन एवं नवीन अनुसंधान भारतीय कृषि को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया आदि के समान पूर्ण विकसित कृषि प्रणाली को निर्मित करने के लिए एक सुव्यवस्थित ठोस आधार प्रदान करेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. अशोक गुलाटी एंड टिम कैली (2003), ट्रेड लिब्रलाइजेशन एंड इंडियन एग्रीकल्चर ऑक्सफोर्ड, न्यू दिल्ली।
2. जी०एस०भल्ला, (2007) इंडियन एग्रीकल्चर साइंस इंडिपेंडेंस NBT, न्यू दिल्ली
3. करतार सिंह (2009) रूलर डेवलपमेंट प्रिंसिपल, पॉलिसीज एंड मैनेजमेंट, पेज 3, एडिशन 3.
4. Ranis, Gustav(2004) author -Lewis's contribution to development thinking and policy, The Manchester School, volume 72,number 6, December pp- 7 12-723
5. राजीव रंजन श्रीवास्तव (2007) इमर्जिंग ट्रेड्स ऑफ क्रॉपिंग पेटर्न इन इंडिया, डी.के. पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली.
6. अय्यर रामस्वामी आर (2011) नेशनल वॉटर पॉलिसी: एन अल्टरनेटिव ड्राफ्ट फॉर कंजर्वेशन इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली सप्लीमेंट, जून 25.

फुटनोट

- 1 प्रो०दंतवाला- द ग्रीन रिवॉल्यूशन, नेसेसिटी ऑफ न्यू एनट्रीकल्युरल डेवलपमेंट।
- 2 मेयर एवं वाल्डविन -इकोनामिक डेवलपमेंट।
- 3 स्वामीनाथन- उन्नत कृषि चयनिका, नई दिल्ली से प्रकाशित 1985.
- 4 आनंद स्वरूप गर्ग- भारतीय अर्थव्यवस्था, राजहंस प्रकाशन 1980, पृष्ठ- 2131.
- 5 आनंद स्वरूप गर्ग- भारतीय अर्थव्यवस्था, राजहंस प्रकाशन 1980,पृष्ठ-2131
- 6 ड्यूइट-इन्डियनइकॉनॉमिक, एस०चाँद प्रकाशन, नईदिल्ली 1980, पृष्ठ- 19
- 7 कृषि विज्ञान अंक- प्रतियोगिता दर्पण पत्रिका- 2009, उपकार प्रकाशन, पृष्ठ- 26

जीवन हेतु जैविक खेती

डॉ. गोखुला प्रसाद सिंह

अर्थशास्त्र विभाग, स्नातकोत्तर अध्ययन केन्द्र, एम. जे. के. कॉलेज, बेतिया

उत्तर बिहार की मिट्टी का पीएच मान खतरनाक स्तर की ओर बढ़ रहा है। सामान्य स्थिति में, जहां यह आठ को पार कर गया है। पीएच के बढ़ने से तकरीबन 50 प्रतिशत जगहों की मिट्टी नमकीन हो उसर होने लगी है। ऐसी मिट्टी में जंक, बोरॉन, आयरन व मैगनेसिक समेत अन्य तत्वों की कमी से उर्बरा शक्ति कम हो जाती है। कहीं-कहीं तो मिट्टी का पीएच 9.24 तक पहुंच गया है। इसपर नियंत्रण के लिये किसान व कृषि विभाग सजग नहीं हुए तो यहां बीज का अंकुरण भी मुश्किल हो जायेगा। तब उसर जमीन को खेती योग्य बनाने के लिये काफी खर्च एवं परिश्रम करना पड़ेगा।

—हिन्दुस्तान, दैनिक अखबार 24 जुलाई, 2010

भारत में 1950-51 और 2006-07 के बीच कृषि था, परन्तु 1990-2007 के बीच खाद्यान्न उत्पादन में 1.2 प्रतिशत की कमी आयी जबकि जनसंख्या में 1.9 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज हुई। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि और खाद्यान्न उत्पादन वृद्धि में अंतर विद्यमान है जो भावी संकट की ओर इशारा करता है।

भारत में पिछले दशब्दी में 2.6 प्रतिशत की दर से कृषि क्षेत्र में वृद्धि हुई है और 11वीं पंचवर्षीय योजना के तीन वर्षों 2007-08 से 2009-10 के बीच कृषि क्षेत्र का विकास 2 प्रतिशत वार्षिक की दर से हुई है। देश में 2009-10 में 216.85 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य था, परन्तु 7.51 प्रतिशत उत्पादन हुई है। इसके कई कारक जिम्मेवार हैं:-

- प्रथम हरितक्रान्ति लाने में रासायनिक खादों का महत्वपूर्ण योगदान है। इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि 2005-06 में इसका प्रयोग 105.5 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर था और अब 2008-09 में 128.6 कि. ग्राम का उपयोग हो रहा है।

इस अंधाधुंध प्रयोग से हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या को एक ओर खाद्यान्न उपलब्ध हुआ और दूसरी ओर खाद्यान्न के मामले में देश आत्मनिर्भर हुआ। परन्तु इसका दुष्परिणाम अब आना शुरू हो गया है कि मिट्टी का पीएच 8 प्रतिशत से अधिक हो गया है और मिट्टी नमकीन तथा उसर हो रहा है। कुछ वर्षों बाद बहुत जल्द ही जमीन खेती के लिये अनुपयुक्त हो जायेगी जिसकी कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

- देश की जनसंख्या में वृद्धि और उत्तराधिकार कानूनों के कारण भूमि उपखण्डों की संख्या 1976-77 में 77 मिलियन से बढ़कर 115 मिलियन हो

गया है। इन 115 मिलियन में से 78 प्रतिशत उपखण्ड लघु एवं सीमांत श्रेणी के हैं जिसका आकर 2 हेक्टेयर से कम है। जनसंख्या बढ़ने से भूमि और व्यक्ति का अनुपात 1951 में 0.5 हेक्टेयर से 0.14 हेक्टेयर हो गया है और इसे 2020 तक 0.08 हेक्टेयर हो जाना है। इसका परिणाम उत्पादन लागत में वृद्धि और अवैज्ञानिक खेती को प्रोत्साहन देना है।

- कुल-साधन उत्पादकता (Total-Factor Productivity) उत्पादन और वृद्धि पैमाना को मूल्यांकित करने का उत्तम उपाय है। यद्यपि 1970 और 1980 के बीच यह अनुकूल स्थिति में था परन्तु अभी उत्पादन लागत में उतरोत्तर वृद्धि को दर्शाता है। वास्तव में 2000-01 से 2002-03 तक गेहूँ को छोड़कर बाकी सभी फसलों का टीएफपी नकारात्मक परिदृश्य को दर्शाता है।
- सहगल और अवरोल, 1994 में अपने अध्ययन में बताये हैं कि देश में 328.73 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र में लगभग 188 मिलियन हेक्टेयर भूमि के गुणवत्ता में गिरावट आयी है, जिसमें 148.9 मिलियन मिट्टी कटाव, 13.5 मिलियन हेक्टेयर वायु और 13.8 मिलियन हेक्टर रासायनिक खादों के प्रयोग से गिरावट आयी है।
- फसलों को हानिकारक कीड़ों से रक्षा के लिये कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है जिससे मित्रकीड़ों, जो प्राकृतिक उर्बरता को बढ़ाने तथा पुनः उत्पादकता संचयन करने में मदद करते हैं, का नाश हो जाता है जिससे जमीन उसर होती जा रही है।

इसका एक उदाहरण है, महाराष्ट्र से दूसरे देशों को निर्यात किया गया अंगूर वापस लौट आया था, क्योंकि अंगूरों में कीटनाशकों का अवशेष पाया गया था। इसी प्रकार भारत की चायों को विदेशों में अधिक कीटनाशकों के प्रयोग वाला उत्पाद बताया जा चुका है। 'इण्डियन कॉन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च' द्वारा 2,205 गायों एवं भैसों के दुध के नमूने की जांच की गयी। 84 प्रतिशत नमूने में कीटनाशकों का स्तर खतरनाक पाया गया। इसका कारण बताया गया कि मवेशियों की भोज्य सामग्री कीटनाशकवाली फसलों के अवशेष थे। अहमदाबाद स्थित 'कन्ज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सोसाइटी' ने कुछ लोकप्रिय ब्रांड के गेहूँ के आटे की जांच की उसमें लिंडाले नामक खतरनाक कीटनाशक के अंश पाये गये।

दूसरी तरफ विभिन्न प्रकार के रासायनों एवं कीटनाशकों के प्रयोग से आन्त्रशोथ, एलर्जी, हेपटाइटिस, हृदयरोग एवं कैंसर होने की संभावना बढ़ी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सर्वे के अनुसार 20-25 हजार व्यक्ति प्रतिवर्ष इन रासायनों के प्रयोग से अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कीटनाशकों के प्रयोग करनेवाले किसान के परिवार को भी बिमारियों के इलाज पर हजारों-हजार खर्च करना पड़ा। इसका छिड़काव करनेवाले श्रमिकों में चर्मरोग, अंधापन और शरीर में दर्द की शिकायतें आम पायी गयीं।

गोरखपुर एनवायरमेंटल एक्शन ग्रुप के अध्ययन एवं राज्य कृषि सलाहकार परिषद के सदस्य डॉ. शिवराज वजीह का कहना है रासायनिक उर्वरकों के अत्यधिक प्रयोग से भूमि की उपजाऊ शक्ति में कमी तो आयी ही है, साथ ही उसके अन्य दुष्प्रभाव जैसे मिट्टी, जल, तथा पर्यावरण प्रदूषण आदि भी सामने आने शुरू हो गये हैं। मिट्टी को स्वस्थ बनाये रखने, अपेक्षित उत्पादन प्राप्त करने, उत्पादन लागत घटाने, पर्यावरण और स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि रासायनिक उर्वरकों जैसे कीमती निवेश के प्रयोग को हतोत्साहित करके जैविक खादों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

जिस प्रकार प्रथम हरित क्रान्ति रासायनिक खादों तथा प्रमाणित बीजों आदि के प्रयोग से सफलीभूत हुआ उसी प्रकार द्वितीय हरित क्रान्ति जैविक खादों, अनुसंधानित बीजों तथा बायो-तकनीक के प्रयोग से सफलता का इतिहास रचेंगी तथा मानव जाति, एवं पृथ्वी के अन्य जीव जीवित बच सकेंगे।

- जैविक खादों के प्रयोग से मिट्टी का जैविक स्तर बढ़ता है जिससे लाभकारी जिवाणुओं की संख्या बढ़ जाती है परिणामतः प्राकृतिक उपजाऊपन की क्रिया होती रहती है और भूमि की उपजाऊपन बनी रहती है।
- जैविक खाद द्वारा पौधों की वृद्धि के लिये आवश्यक पोषक तत्वों जैसे नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटेश तथा अन्य पोषण तत्वों की पूर्ति की जाती है।
- जैविक खाद रासायनिक खादों के मुकाबले सस्ते तथा तैयार करने में आसान होते हैं।
- ये खादें सड़ने पर कार्बनिक अम्ल देती है जो मिट्टी के अधुलनशील तत्वों को घुलनशील अवस्था में परिवर्तित कर देती है जिससे मिट्टी का पीएच मान 7 से कम हो जाता है।

जैविक कृषि को बढ़ावा देने तथा रासायनिक खादों पर बढ़ते दबावों को कम करने के लिए 10 वीं पंचवर्षीय योजना में 'जैविक कृषि पर राष्ट्रीय प्रोजेक्ट' प्रारंभ किया गया जिसके लिए 115.00 करोड़ रु. व्यय करने का प्रावधान किया गया था। पूर्ववर्ती योजना नेशनल प्रोजेक्ट ऑन डेभलपमेंट एण्ड यूस ऑफ ऑर्गेनिक फार्मिंग में विलय कर दिया गया है।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य निम्न है:-

- सेवा प्रदाता द्वारा क्षमता निर्माण करना।
- जैविक खाद उत्पादन करनेवाले उत्पादक इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करना।
- प्रशिक्षण और प्रदर्शन के द्वारा मानवीय संसाधनों का विकास करना।
- बाजार का विकास तथा जानकारी का निर्माण और प्रचार-प्रसार करना।
- जैविक इनपुट का गुणात्मक नियंत्रण करना।

यद्यपि जैविक कृषि को बढ़ावा देने के लिए उपयुक्त मिशन के द्वारा उनके कार्य किए जा रहे हैं परन्तु व्यावहारिक रूप में यह फूल तथा साग-सब्जी तक ही आंशिक रूप में पहुंच पाया है। कम्पोस्ट खाद, वर्मी खाद तैयार करने के लिए मवेशियों की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक है। जबकि सच्चाई यह है कि अपने देश में मवेशियों की संख्या दिनोदिन घटती जा रही है। मवेशियों के बदले खेती में मशीनों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है।

दूसरी समस्या 'इथनोल तथा बायोगैस' के उत्पादन करने के लिए कच्चा मक्का तथा उसके हरे और सूखे डण्ठल, गन्ने के सूखे और हरे पत्तों, धान के पुआल, गेहूँ के भूसें आदि का प्रयोग हो रहे हैं और यही पदार्थ मवेशियों के खाने के प्रयोग में आते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि इस मिशन (जैविक खेती) को लघु स्तर पर संभव तो बनाया जा सकता है परन्तु वृहद स्तर पर सफलीभूत करने के लिए बहुत से समन्वयकारी प्रयास तथा सार्थक कदम उठाने की जरूरत है। 'सोसियो इकोनोमिक एण्ड कल्चर अपलिफ्टिंग इन रुरल इनवारनमेंट' और कई स्वयंसेवी संस्थाओं ने मिलकर किसानों को कीड़े-मकोड़ों का खेतों में पारिस्थितिक प्रबंधन बनाने के तरीके बताने शुरू किये हैं।

आन्ध्रप्रदेश का पुनकुला गांव एक आदर्श गांव की तरह उभर रहा है जहां के किसान कीटनाशकों के बदले नीम के बीजों के पाउडर और हरी मिर्च व लहसून के अर्क का छिड़काव करना शुरू किया है। इसके साथ सहायक फसलों को उपजाने लगे हैं। कीटनाशकों का इस्तेमाल नहीं होने से मकड़ी, वीटल और ततैये वापस खेतों की ओर लौटने लगे हैं जो छोटे-छोटे कीटों को खा जाते हैं। इस तरह कीटनाशकों का प्रयोग खत्म करके 10000 रु. प्रति एकड़ बचत कर रहे हैं।

इस तरह कृषि नीति निर्माण में उपरोक्त बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। जबतक अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के लिए एक एकीकृत योजना का निर्माण नहीं होगा तबतक कृषि का विकास सम्भव नहीं है, न हम कृषि के विकास दर 4 प्रतिशत को प्राप्त कर सकते हैं और न पृथ्वी के जीवन को बचा सकते हैं।

सन्दर्भ

1. हिन्दुस्तान-दैनिक जागरण
2. योजना
3. कुरुक्षेत्र
4. पर्यावरणीय अध्ययन-डॉ. एन. एम. अवस्थी
5. प्रतियोगिता दर्पण (अतिरिक्तांक)-20-11-12।

बंगला भाषा एवं साहित्य तथा हिन्दी भाषा और साहित्य का अंतर्संबंध

गोपाल पाल

असिस्टेंट प्रोफेसर, बांग्ला विभाग, देवघर कॉलेज, देवघर
सिद्ध कान्हू मूर्मू विश्वविद्यालय, दुमका (झारखंड)

भारत की भाषाओं का परिवार भले ही एक नहीं है लेकिन उन सबका साहित्यिक रूप लगभग मिलता-जुलता है। आज की हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, पंजाबी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयाली आदि के साहित्य को देखें तो उनमें सार रूप में एक जैसी प्रवृत्तियाँ की धारा प्रवाहमान है।

विभिन्न प्रदेशों और जनपदों को सांस्कृतिक विशेषताओं की छाप अलग-अलग प्रदेश का अलग-अलग ढंग से उन पर पड़ा है। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल मानते हैं कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्रवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है।'

अलग-अलग प्रदेशों में राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक आधार-भूमि भारतीय साहित्य की लगभग बराबर थी और हर जगह अलग-अलग काल में जनता के चित्रवृत्ति के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला। भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं के विकास के चरण भी लगभग समान हैं। सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर रामायण, पुराण, संस्कृत के अभिजात, साहित्य, जयदेव की कृतियाँ, बौद्ध-जैन तथा अन्य धर्मों के साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। सबसे पहली प्रवृत्ति जो भारतीय वाङ्मय में प्रायः सर्वत्र समान मिलती है।

वह है नाथ साहित्य। तमिल, तेलुगू, कन्नड़, हिन्दी, मराठी और बंगला सभी में इसका प्रभाव पड़ा है। चारण काव्य भी अधिकांश में प्रायः समान है। संत काव्य की धारा भी भारतीय वाङ्मय ही सबसे प्रबल प्रवृत्ति है वैष्णव काव्य की जो तमिल, मलयाली, हिन्दी, मराठी गुजराती, बंगला, उड़िया, असमिया में खूब देखी जा सकती है। आधुनिक साहित्य के विकास की रेखाएँ तो सभी भारतीय साहित्य में और अधिक समान रही हैं। भारतीय वाङ्मय में आधुनिकता का समारम्भ लगभग समकालिक है। हमारे देश में विविधता में एकता लाने की कोशिश चिरकाल से की गई और इस कार्य में हमारे साहित्यकारों ने विशेष योग दिया। वैदिक साहित्य के द्वारा सारे देश में एक-सी धार्मिक भावना, एक ही संत पद्धति और एक-सा दार्शनिक आधार प्रतिष्ठित हुआ था। भाषाओं और साहित्य की विपुलता ही भारतीय साहित्य की प्रमुख विशेषता ही है। समूचा भारतीय साहित्य रामायण और महाभारत से प्रेरणा लेकर बना है।

लोकभाषाओं में सहस्त्रों गान का आधार भी यही दो ग्रंथ हैं। भारतीय भाषाओं में कदाचित्त सबसे समृद्ध आधुनिक साहित्य बंगला का ही है। ऐसा नहीं कि बंगला भाषा का प्राचीन साहित्य-समृद्ध नहीं था, लेकिन आधुनिक साहित्य में इसका साहित्य समृद्धतमा है इसमें कोई शक नहीं। 10 वीं शताब्दी के आसपास यह मागधी अपभ्रंस से प्रस्फुटित हुआ व्युत्पत्ति की दृष्टि से बंगाल से संबंधित होने के कारण इसका नाम बंगला पड़ गया। चंद्रवंश के बलिराणा के पुत्र बंग के नाम पर इस प्रदेश का नाम बंगाल पड़ा। डॉ. सतेंद्र मानते हैं कि “चीनी प्रमाण से विदित होता है कि भारत के बौंग लौंग प्रदेश के नागवंश के लुक-लाभ ने अन्नाम में राज्य स्थापित किया था यह बौंग लौंग ही तो बंगला है जिससे बंगाल व्युत्पन्न हुआ है।”²

बंगला साहित्य का समयकाल बंगला साहित्य के इतिहास लेखक डॉ. सुकुमार सेन ने तीन भागों में बाँटा है—

1. आदिकाल-13-14 वीं शताब्दी तक माना जाता है।
2. मध्यकाल-15-18 वीं शताब्दी तक है।
3. आधुनिक काल-19 वीं शताब्दी से अब तक माना जाता है।

हिन्दी और बंगला का अगर भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करें तो दोनों भाषाओं में कई समानता और असमानता के बिन्दु देखने को मिलते हैं। हिन्दी में रूपान्तरशील वर्ग के विशेषण लिंग और वचन से प्रभावित होते हैं। किन्तु बंगला के विशेषण रूपान्तर रहित ही रहते हैं। हिन्दी जैसे ‘अच्छा’ लिंग और वचन के अनुसार ‘अच्छे और अच्छी’ हो जाते हैं लेकिन बंगला में ‘भाल’ विशेषण परिवर्तित नहीं होता लेकिन हिन्दी का सुन्दर बंगला में भी ठीक वैसा ही प्रचलित है। हिन्दी और बंगला दोनों ही भाषाओं में पूर्ण संख्यावाचा विशेषण के रूप में समानता दिखाई पड़ती है। कुछेक को छोड़ के। अपूर्ण संख्या वाचक विशेषण के रूप में हिन्दी और बंगला में प्रायः समान है। जैसे हिन्दी में तिहाई, पौण्ड, उसी तरह से बंगला तेहाई, पौन प्रचलित है। हिन्दी और बंगला के परिमाण वाचक सार्वनामिक विशेषण की व्युत्पत्ति के स्रोत समान है। इस तरह से हम देखते हैं कि दोनों में पार्थक्य की अपेक्षा समानता ज्यादा है। बंगला और देवनागरी लिपि भी समान है तथा दोनों भाषाओं की ध्वनियों में भी समानता है। ‘लेकिन हिन्दी सीखते समय हिन्दी के ध्वनि व्यवस्था के कारण बंगला भाषी को कठिनाई होती है।’³

बंगला साहित्य का आदिकाल

बंगला साहित्य का अरंभिक विकास रहस्यवादी भावों से भरे चर्यापद से होता है। चर्यापद में बंगला के ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के भी संकेत मिलते हैं। इस ग्रंथ की रचना 10 वीं शताब्दी के आसपास हुई है जो बंगला की सर्वप्रथम साहित्यिक रचना है। इसमें प्रायः उस युग के सिद्धों की रचनाएँ हैं यद्यपि चर्यापदों की मूल प्रेरणा प्रबल धार्मिक भावना से भरी थी लेकिन उसमें साहित्यिक गरिमा का अभाव नहीं था। कूट शैली में तथा सूत्र शैली में चर्यापदों की रचना हुई है। जिसका वैराग्यपूर्ण प्रयोग

आज के धार्मिक लोक साहित्य में भी देखा जा सकता है। चर्यापदों के गीतों की कुछ मार्मिक पंक्तियाँ आज हमारे घरों में कहावतें बन चुकी हैं। इसी कारण इस काल में 'हिन्दी बौद्ध काल' के नाम से भी पुकारा गया है। चर्यागीतों में बंगाल के तत्कालीन हिन्दू और बौद्ध धर्मों तथा सांस्कृतियों का सुन्दर संयोग प्रयोग लक्षित होता है। चर्यापदों के बाद 2-3 शताब्दियों तक कोई विशिष्ट रचना नहीं मिलती। जो भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं वे संस्कृत की रचनाएँ हुई हैं। गीत-गोविन्द की रचना में तत्कालीन समाज की खूब जानकारी मिलती है। इसी समय बंगला भाषा के नाथ साहित्य भी मिलता है। चर्यागीत पालयुग में रचे गये। गीत-गोविन्द को बंगला गीत नाट्य का पूर्व रूप कुछ विद्वान मानते हैं।

बंगला साहित्य का पूर्व मध्यकाल

बंगला में 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक साहित्य रचना का क्रम पुनः प्रारंभ हो जाता है। इसमें सर्वप्रथम और अग्रणी कवि हैं। राधा कृष्ण विषयक गीतों के रचयिता महान वैष्णव कवि चंडीदास। इन्होंने लगभग 1000 गीत रचे। जिसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का गान है और यहीं से राधाकृष्ण से संबंधित काव्य से बंगाली साहित्य प्रारंभ होता है। जयदेव, विद्यापति, चंडीदास की राधाकृष्ण की कविताओं ने इस युग के साहित्य को रस में भर दिया। मध्ययुग के इस साहित्य को इन रचनाकारों के कारण धार्मिक श्रृंगार भावना तथा गेयता का आधार प्राप्त हुआ तथा धार्मिकता के आधार पर धर्म मंगल साहित्य परम्परा का विकास हुआ। सहजिया सम्प्रदाय में इस प्रकार के मंगल काव्य के बीज मिलते हैं। मंगल काव्य की इस परम्परा में 'मानस मंगल काव्य' हरिदत्त कृत तथा धर्म मंगल आदि ग्रंथ लिखे गये जो लोक साहित्य का अपूर्व थाती है।

15वीं सदी के एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं कृतिवास ओझा। जिन्होंने बंगला रामायण की रचना की। इसके कारण इन्हें सवश्रेष्ठ कवि कहा जाता है। इस रामायण में भगवान राम को विष्णु का अवतार मानकर कविता लिखी गई। श्री चैतन्य का अभ्युदय इसी 15वीं शताब्दी में हुआ। जो न 'केवल बंगला साहित्य के इतिहास में बल्कि प्रांत के सांस्कृतिक इतिहास में भी युगांतरकारी घटना थी।'⁴

चैतन्य का प्रभाव आस-पास के प्रान्तों पर भी पड़ा। यह इतना व्यापक था जो किसी भी समसमयिक, सामाजिक और राजनैतिक घटना से बड़ा था। 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच लगभग हर साहित्य पर चैतन्य का प्रभाव था और उनका निवास स्थान 'नवदीप' उस समय के बंगाली संस्कृति का केंद्र बन गया। हालांकि चैतन्य के पहले से ही वैष्णव धारा प्रवाहित हो रही थी लेकिन इनके बाद वह धारा और तेजी से आगे बढ़ी। इस समय दो तरह के साहित्य लिखे गये-गीत, काव्य और चरित काव्य। गीतकारों में मुरारी गुप्त, नरहरि सरकार, वासुदेव घोष और रामानंद वसु के अलावा ज्ञानदास, बलराम दास भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा रचित राधाकृष्ण के प्रेमगीत हिन्दू, मुस्लिम सभी वर्गों में बहुत लोकप्रिय हुए। कृष्ण

विषयक वैष्णव कविताएँ मुख्यतः राधाकृष्ण के प्रेम पर आधारित हैं। बंगला वैष्णव कविताएँ केवल भाव के ही दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि उनमें अधिकतर का कलात्मक सौंदर्य अनुपम है। 18 वीं शताब्दी के पश्चात् वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत चरित्र साहित्य का सृजन आरंभ हुआ। चैतन्य भागवत, चैतन्य मंगल, चैतन्य चरितामृत, प्रेम विलास, नरोत्तम विलास, भक्ति रत्नाकर आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

चैतन्य के दो शताब्दियों के बाद के बंगला साहित्य में एकान्ततः वैष्णव साहित्य सृजन का युग नहीं। इसके बाद दो तरह के और साहित्य सामने आये अनुवाद साहित्य और मंगल काव्य बंगला का अनुवाद साहित्य मुख्यतः भारत के दो प्रसिद्ध महाकाव्यों रामायण एवं महाभारत और बंगला के सर्वप्रिय पुराण, भागवत पुराण पर आधारित हैं। सबसे लोकप्रिय अनुवाद काशी रामदास कृत महाभारत है। मंगल काव्यों में सबसे प्राचीन 'चंडी मंगल' (1475 ई.) है जिसके प्रथम कवि हैं माणिक दत्त मुकुंद राम चंडी मंगल साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। जिन्हें बंगाल का चौसर कहा जाता है। मयूर भट्टा धर्म मंगल काव्य का आदिकवि है। पूर्वी बंगाली गीत की रचना भी इसी काल में हुई है।

उत्तर मध्यकालीन बंगला साहित्य

18 वीं शताब्दी को बंगला काव्य के हास काल कहा जाता है क्योंकि काव्य क्षेत्र में कोई बड़ा प्रयास नहीं किया गया है। इस समय के कवि भालचंद्र में अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। विद्यासुंदर की कथा का 18 वीं शताब्दी में बोलबाला था। कवि रामप्रताप सेन ने भी 'कलिका मंगल' रचना में विद्यासुंदर कथा को लिया है। मध्यकालीन बंगला साहित्य में मुसलमान आश्रयदाताओं ने अनुवादकों से हमारे धर्मग्रंथों के कई अनुवाद कराके बंगला साहित्य को समृद्ध किया।

आधुनिक काल का बंगला साहित्य

बंगला साहित्य का आधुनिक काल लगभग 19वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस समय नवाब सिराजुद्दौला का पराभव हुआ और अंग्रेज यहां स्थापित हुए। 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना बंगला गद्य के इतिहास में सचमुच एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस कॉलेज के माध्यम से बंगला पाठ्य पुस्तक लिखने का संगठित प्रयास हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ भी इस समय निकलने लगीं। 'बंगाल गजट' पहला पत्र था जिसके प्रकाशक और संपादक गंगा किशोर भट्टाचार्य थे। 'समाचार-दर्पण', 'संवाद-कौमुदी', 'समाचार चंद्रिका', 'बंगदूत', 'संवाद प्रभाकर' जैसे पत्र का प्रकाशन इसी समय तक प्रारंभ हो गया। 19 वीं शताब्दी के पहले का गद्य बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था लेकिन राममोहन राय ने बंगला गद्य को प्राणमय बनाया। देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने भी अच्छे गद्य लेखन किये पर इस युग में बंगला गद्य लेखकों में ईश्वर चंद्र विद्यासागर सबसे अग्रणी थे। रविन्द्र नाथ टैगोर ने भी गहरी छाप छोड़ी, भूदेव मुखर्जी, निबंध लेखन में और राजनारायण वसु हास्य विनोद गद्य लेखन में उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक बंगला कविता

इसका प्रारंभ 1840 में हुआ। पाश्चात्य समाज के संपर्क के बाद बंगला के नूतन काव्य सृजन की प्रवृत्ति तुरन्त नहीं आयी। प्रारंभ में विषय धार्मिक और प्रेमपरक था। आधुनिक बंगला कविता में ईश्वर गुप्त के प्रथम आधुनिक प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। इसके बाद मधुसूदन दत्त हैं जिसमें आधुनिकता देखने को मिलती है। 1859 में मधुसूदन दत्त ने 'शर्मिष्ठा' नामक पहला नाटक लिखा। मधुसूदन की कृति का आधार बंगला के पहले महाकव्य में 'मेघनाथ पद्य' से है।

जिनमें पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस युग में रंगा ला, हेमचंद्र, नवीन चंद्र ने अलग से गीत लिखे। हेमचंद्र ने देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी तो बिहारी लाल के प्रकृति सौंदर्य के चित्रण के साथ मानव प्रेम भी है। इसी कारण इन्हें टैगोर का अग्रगामी कवि कहा जाता है।

बंगला साहित्य में यात्रा का प्रचलन था जो नाट्य अभिव्यंजना का लोकप्रिय देशी रूप था। यह नाटक मूक अभिनव के द्वारा संगीतमय प्रस्तुति की जाती थी। योगेंद्र चंद्र गुप्त, ताराचंद्र सिकंदर, हरचंद्र घोष, यतीन्द्र मोहन ठाकुर, रामनारायण, मधुसूदन आदि प्रसिद्ध नाट्यकार हुए। 18 वीं शताब्दी में नाटककार चंद्रघोष ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं जो उच्चकोटि के अभिनेता, रंगमंच प्रबंधक और प्रयोक्ता थे। इनके नाट्य मेधा में देशी और विदेशी दोनों का मिश्रण था। इस काल के एक और जनप्रिय लेखक अमृतलाला वसु हैं जो कामदी और प्रहसनकार के रूप में प्रसिद्ध थे। द्विजेंद्र लाल राय जो प्रसिद्ध गीतकार भी थे, देशभक्तिपूर्ण ऐतिहासिक नाटक लिखा है। रवि ठाकुर ने भी बंगला नाटक को समृद्धि प्रदान की।

बंगाल उपन्यास 1850 के आसपास प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में 'कादम्बरी' और 'स्वप्न वासदत्ता' का अनुवाद बंगला में हुआ है जो कथा लेखन के आधार भी बने। 'नव बाहु विलास' उपन्यास का प्रारंभिक प्रयास है। वस्तुतः बंगला में उपन्यास का प्रारंभ बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने उपन्यास 'दुर्गेश नंदिनी' (1865) के रोमानी उपन्यास से हुआ। बंकिम चंद्र निबंधकार के रूप में भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने खूब उपन्यास लिखे जिससे समसामयिक उपन्यासकारों का उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। बंकिम के बाद रविन्द्रनाथ टैगोर और शरद चंद्र चटर्जी ने उपन्यास विद्या को बहुत ही समृद्धि प्रदान की। इन्होंने उपन्यास में एक निश्चित परिवर्तन किया। शरद सामाजिक उपन्यास लिखने में सिद्धहस्त थे तो रविन्द्र नाथ अपने उपन्यास में नूतन समाज चेतना तथा गहरी मानवीय भावना की अभिव्यक्ति की। रवीन्द्र नाथ टैगोर तो आजीवन अपनी साधना से बंगाली साहित्य को बहुत ही समृद्धि प्रदान की। उनका काव्य संग्रह 'गीतांजली' विश्वमान अत्यंत लोकप्रिय काव्य में जिन पद इन्हें नोबेल पुरस्कार मिला है। रवीन्द्र नाथ हमारे साहित्य की लगभग पूरी एक शताब्दी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके निबंध, साहित्य आलोचना, लेख, संस्मरण, अनुवाद और चित्रकारी सभी धरोहर हैं। ये जितने बड़े मौलिक कलाकार थे उतने ही बड़े समीक्षक भी थे। अर्थात् बहुमुखी

प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने सबसे ज्यादा देशभक्तिपूर्ण कविताएं भी लिखी। उनके अगणित प्रेमगीत और कविताओं ने मानव हृदय का कोई तार अछूता नहीं छोड़ा। उनके दूंदों में अनंत वैविध्य था। इन्होंने कई प्रतीकात्मक नाटक भी लिखे।

रविन्द्र नाथ के बाद काव्यकारों में करुणानिधि बंद्योपाध्याय, जतीन्द्र मोहन बागची, कुमुद रंजन मालि, जीवनानंद दास प्रमुख हैं। इसका संग्रह 'गीतांजली' जैसा ही धूम मचाई थी। इसके बाद बुद्धदेव, सुधीन्द्रदत्त, अमिय चक्रवर्ती, अजीत दत्त, साम्यवादी सुभाष मुखोपाध्याय, सुकान्त भट्टाचार्य, सुनील गंगोपाध्याय आदि उल्लेखनीय हुए हैं।

शरद के बाद कथाकारों में विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, ताराकांत बंद्योपाध्याय, शैलजा नंद मुखर्जी, प्रेमन्द मित्र, बुद्धदेव बोस, राजशेखर बसु, प्रमोद कुमार सान्याल, विमल मित्र, सतीन्द्र नाथ भादुड़ी, गजेन्द्र कुमार मित्र, शंकर और समरेश बसु आदि प्रसिद्ध कथाकार हुए हैं।

आधुनिक बंगला नाटक कथा साहित्य की तरह समृद्ध नहीं है। फिर भी रवीन्द्र नाथ राहा, महेन्द्रनाथ गुप्त, सच्चिन्द्र सेन, सलिल सेन, उत्पल दत्त, अजीत गंगोपाध्याय, मोहित चटोपाध्याय, बाद सरकार आदि के नाटक विद्या को बहु विधि विस्तार दिया है। निबंध और आलोचना के क्षेत्र में सुनीति कुमार चाट्ट्य, शशिभूषण दास गुप्त, सुकुमार सेन, विनय घोष, आशुतोष भट्टाचार्य ने बंगला साहित्य के आलोचना को आगे बढ़ाया। निबंध के क्षेत्र में सुधीन्द्रनाथ गुप्त, बुद्ध देव बसु विशेष थे।

इन सारे विश्लेषणों का सार यह है कि आदिकाल से लेकर अब तक बंगला साहित्य में जो हर काल में अन्तःधारा बही है, वह वैसी ही जैसी अन्य भारतीय भाषाओं में बही है। हिन्दी साहित्य के छायावाद पर रविन्द्रनाथ टैगोर के रहस्यवादी गीतों का बूख प्रभाव पड़ा है। वह प्रभाव छायावादी कवियों के सौंदर्यबोध प्रकृति चित्रण भारतीय चिन्तन के साथ-साथ शैल्पिक प्रभाव रविन्द्र नाथ ठाकुर का छायावाद पर देखा जा सकता है। इसके अलावा कथा साहित्य में प्रेमचंद के ऊपर शरद चंद्र का प्रभाव सामाजिक संदर्भों के उद्घाटन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी नाटकों पर भी बंगला नाटक का प्रभाव देखा जा सकता है। इतिहास विदित है कि भारतेन्दु अपने बंगाल यात्रा के समय वहां के रंगमंच से प्रभावित होकर हिन्दी नाटक की शुरुआत की थी। यह बात हिन्दी नाटक के उद्भव और विकास से स्पष्ट हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. रामचंद्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. डॉ. कैलाश चंद्र भट्टिया- भारतीय भाषाएं, पृ. 76
3. सं. भोलानाथ तिवारी- प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
4. कमल सिंह - संपर्क भाषा हिन्दी और भारतीय भाषाएं, पृष्ठ 190, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6
5. डॉ. नागेन्द्र - भारतीय साहित्य, पृष्ठ 321

“राष्ट्रकवि दिनकर के काव्य में मानवीय जीवनमूल्य”

डॉ. दिलीप कुमार श्रीवास्तव

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जगदम कॉलेज, छपरा (बिहार)

‘याँ तो मुंह देखे की होती है मुहब्बत सबको।

मैं तो तब जानूँ कि मरने के बाद याद रखो॥

“अपने समय के सूर्य”- महाकवि दिनकर के संबंध में सचमुच वाक्य अक्षरशः सत्य है। जिन्दा में तो सभी नाम लेते हैं, पर मरने के बाद जो अमिट छाप देता है, मरने के बाद जिनको हम याद करते हैं वही सच्ची याद होती है। अपने समय के सूर्य कहे जाने वाले राष्ट्रकवि दिनकर एक ऐसे ही व्यक्तित्व वाले पुरुष थे, एक ऐसे ही कवि थे, जिनकी पहचान हिन्दी साहित्य में अलग है। कहा जाता है कि कवि और कविता रक्त का सम्बन्ध होता है। और यह सम्बन्ध अगर हम सच्चे रूपों में देखना चाहें तो ‘दिनकर’ में देख सकते हैं।

कवि दिनकर के काव्य में महर्षि दयानन्द की सी निर्भीकता, नवीन जी की सी तेजस्विता, भगत सिंह का सा वलिदान, महात्मा गांधी की कर्मठता और कबीर के विचारों की स्वच्छन्दता के साथ-साथ सुधारवादिता भी भरी हुई है। कवि दिनकर की आरम्भ से अबतक की समस्त कविताओं के अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञान होता है कि कवि ने प्रायः ऐसी कविताओं का सृजन अधिक मात्रा में किया है, जो जन-जीवन को शौर्य, पराक्रम एवं वीरता से परिपूर्ण करके कर्मण्यता की ओर उन्मुख करने वाली है, जो रग-रग में तप्त अनल धधकाकर मानवों को त्याग और बलिदान के पथ पर ले जाने वाली है, जो हृदयों में जोश देने वाली है, जो परम्परा एवं रूढ़ियों के कूड़े-करकट को भस्म करके नूतन युग का आह्वान करने वाली है। और जो स्वार्थपरता एवं प्रलोभन में लिप्त भारतवासियों के हृदयों में देशभक्ति को जाग्रत करने वाली है। इनमें तेजस्विता की आग भरी हुई है। ओजस्विकता का आलोक भरा हुआ है और कर्मण्यता का तूफान भरा हुआ है। वे जाति को प्राथमिकता नहीं देते और वे मानव को ही जाति मानते हैं तभी तो कहते हैं कि- “जाति जाति का शोर मचाते, केवल कायर क्रूर।”

जो कायर है डरपोक है और जो हमेशा बुजदिल रहा हो दिनकर के अनुसार वे ही व्यक्ति जाति पाति का शोर मचाते हैं वही समाज में विभेद पैदा करते हैं। ऐसी सोच रखने वाला हिन्दी साहित्य का यह अनमोल रत्न ‘दिनकर’ ही हो सकता है और दूसरा कवि नहीं। तभी तो समरसता की बात करने वाला यह महाकवि ‘राष्ट्रकवि’ कहलाया हैं।

राष्ट्रकवि दिनकर जी बिहार के ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी संसार के एक महत्वपूर्ण महाकवि हैं। वे दरअसल सामाजिक चेतना के कवि हैं। मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा अपनी रचनाओं में की है, वह आज भी प्रासंगिक है। इस रूप में दिनकर और उनकी रचनाएं मूल्यवान हैं। दिनकर जी ने लिखा है-

“ऊंच-नीच का भेद न मानें, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है।

दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।।”

कविवर दिनकर जी ने ‘रश्मिरथी’ काव्य-ग्रन्थ में जाति-पाति के भेदभाव की तीखी आलोचना की है। आज दिनकर की कविताओं से खासकर बिहार प्रदेश को प्रकाश ग्रहण करने की काफी अपेक्षा है, जब लोग आपस में प्रेम-भाव भूलकर हिंसक स्वरूप अपना रहे हैं। कोई भी व्यक्ति जाति और धर्म से महान नहीं होता। जिसका आचरण महान होता है, वही यशस्वी होता है। देर-सवेर समाज व राष्ट्र में वह प्रतिष्ठा का अधिकारी होता ही है-

“तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतला के,

पाते हैं जग में प्रशस्ति अपना करतब दिखला के।

हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक,

वीर खींच कर ही रहते हैं इतिहास में लीक।।

सचमुच दिनकर जी अपनी प्रतिभा के बल पर राष्ट्रकवि एवं महाकवि के सम्मान से मण्डित हुये। इनके सम्पूर्ण काव्य में मानवीय जीवन-मूल्यों की गहराई विद्यमान है।

‘रश्मिरथी’, ‘दिल्ली’ ‘नीम के पत्ते’ ‘नील कुसुम’, ‘चक्रवात’, ‘सीपी और शंख’, तथा ‘परशुराम की प्रतिक्षा’ आदि काव्य-संग्रहों के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवि ने स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त देश की स्थिति पर भली-भाँति पूर्वक दृष्टिपात किया है, और जन-जीवन में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषमताओं का चित्रण किया है। आज के स्वतंत्र नागरिक की उस परमुखा पेशी मनोवृत्ति को फटकारा है, जिसके फलस्वरूप वह सदैव अपने नेताओं की ओर देखता रहता है, और स्वयं उत्पादन-कार्य में उन्नति नहीं करता। कवि के शब्दों में-

“उठ मंदिर के दरवाजे से, जोर लगा खेतों में अपने,

नेता नहीं, भुजा करती है, सत्य सदा जीवन के सपने।”

“नेताओं का मोह मूढ़! केवल तुझको ठगने वाला है।

लगा जोर अपने भविष्य का बन तू आप प्रणेत।।,

नेता! नेता! नेता!

-नीम के पत्ते’

इतना ही नहीं कवि दिनकर जी ने अपने जन-जीवन में व्याप्त आलस्य और अकर्मण्यता को दूर करने की चेतावनी भी देते हैं। तथा खेतों, कारखानों, बैठकों, बाजारों एवं सभी जगहों पर तत्परता के साथ अपना-अपना काम करने की सलाह भी देते हैं क्योंकि वह युद्ध सरहद पर ही नहीं था, अपितु उसके मोरचे सभी जगह खुले हुए थे। कवि अपनी रचना 'परशुराम की प्रतिक्षा' में इस बात का संकेत करते हुए लिखा है-

“सरहद पर नहीं मोरचे खुले हुए हैं,
खेतों में, खलिहान, बैठकों, बाजारों में,
जहां कहीं आलस्य, वहीं दुर्भाग्य देश का।”

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि दिनकर का अधिकांश काव्य बलिदान और वीरता का अमर राग है, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध क्रान्ति एवं विद्रोह उत्पन्न वाला सिंहनाद है। अकर्मण्यता एवं आलस्य की रात्रि को नष्ट करके जन-जन में कर्मण्यता, शूरता एवं पराक्रमशीलता लाने का दिवस का दिव्यलोक है।

निस्सन्देह हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि दिनकर जन-जागरण सम्बन्धी हिन्दी के आधुनिक काव्य-धारा में एक मील का पत्थर साबित हुए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद कविता के क्षेत्र में जन-जागरण की ओर दिनकर ने जो योगदान दिया, उतना शायद ही कोई कवि दिया है। “जिस प्रकार पावस में प्रथम फुहार का, माला में प्रथम मणि का और पुष्प के लिए उनमें निहित सुगन्ध का जो रमणीय और महत्वपूर्ण स्थान होता है, ठीक वही महत्वपूर्ण स्थान हिन्दी कविता के क्षेत्र में राष्ट्र कवि दिनकर जी का है।” इस तथ्य को हम नजरअन्दाज करके एक क्षण भी आगे नहीं बढ़ सकते। दिनकर तो किसी भी मुकुट का मणिदीप है, जो हमेशा जलता रहेगा कभी भी बुझने वाला नहीं।

संदर्भ

- (1) हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।
- (2) 'रश्मिरथी:-रामधारी सिंह दिनकर।
- (3) रामधारी सिंह दिनकर:- भूमिका पृष्ठ 15 से।
- (4) 'नीम के पत्ते:- रामधारी सिंह दिनकर।
- (5) परशुराम की प्रतिक्षा:- रामधारी सिंह दिनकर।
- (6) रामधारी सिंह दिनकर और उनका कुरुक्षेत्र प्रो. तारकनाथ वाली पृष्ठ-30-31।

ब्रज लोकगीतों में अलंकार

रणविजय पासवान

ग्राम पचीस कुरवा, प्रो. हाजीपुर, वैशाली

लोककाव्य की आत्मा उसकी सरलता, सरसता और स्वाभाविकता होती है। लोकगीतों में अलंकारों का प्रयोग जानबूझकर नहीं किया जाता वे तो जहां तहां अनायास आ हीं जाते हैं।

कहीं-कहीं अलंकार पाये तो अवश्य जाते हैं, परंतु उनकी योजना आयास पूर्वक नहीं की जाती है, वरन् वे स्वतः ही आ जाते हैं, लोकगीतों में अलंकारों का प्रयोग शिष्ट-साहित्य के समान सायास नहीं होता। इनकी योजना स्वतः स्वाभाविक रूप में होती है। वास्तव में लोककवि अलंकारों के चक्कर में नहीं पड़ता। वह परिसंख्या और परिकर से परे रहता है। चमत्कारिक, गूढ़ार्थ में व्यंजक तथा संकर अलंकारों की अपेक्षा अनुप्रास, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार ही लोकगीतों में अधिक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार लोककवि जिन अलंकारों का प्रयोग करता है, उनमें एक विचित्र सरलता, स्वाभाविकता, नवीनता तथा मौलिकता रहती है जो शिष्ट साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों में उपलब्ध नहीं होती है। डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय ने लोकगीतों में प्रयुक्त अलंकार-योजना की विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उसकी चार विशेषताएं बताई हैं जो इस प्रकार हैं—

1. लोकगीतों में अलंकारों का प्रयोग अनायास ही होता है। लोककवि जानबूझकर अलंकारवादी कवियों की भांति अलंकारों का सन्निवेश नहीं करता।
2. दूसरी विशेषता इनकी मौलिकता है, क्योंकि लोककवि परंपरागत युक्त अलंकारों का प्रयोग नहीं करता।
3. लोक कवि ने ग्रामीण वातावरण से ही उपमानों का चयन किया है।
4. चौथी विशेषता उनका आकृति-साम्य है। तात्पर्य है कि लोककवि उपमानों का चयन करते समय उपमेय की आकृति का अनुकरण करने वाले उपमान को ही स्थान या महत्व देता है।

यदि उपर्युक्त दृष्टि से देखा जाय तो ब्रज के लोकगीतों में भी अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, संदेह एकावली आदि आदि अलंकारों का प्रयोग दिखलाई देता है। इन अलंकारों की पुष्टि में सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत है।

अनुप्रास अलंकार

“अनुप्रासः शब्द साम्यं वैषम्येपि स्वरस्य यत्”¹ अर्थात् स्वर की विषमता होने पर भी जहां शब्दों अथवा वर्णों में समानता होती है। वहां अनुप्रास अलंकार होता है। ब्रज लोकगीतों में भी अनुप्रास अलंकार के प्रयोग का सौंदर्य दिखाई देता है। कहीं-कहीं

तो यह प्रयोग बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है। कुछ गीतों की अनुप्रास अलंकारमयी पंक्तियां यहां उद्धृत की जा रही हैं।

“खस खस कौ बंगला बनवाऊं”

चुन चुन कलियां रोज सजाऊं।

धीरे-धीरे दाबूं तेरे पाम, प्रेयरस पियाइ जइयो ॥ जमुना किनारे मेरौ गांव

इस गीत में खस-खस, चुन-चुन, धीरे-धीरे में शब्द साम्य है तो ब, स, प की आवृत्ति से अनुप्रास अलंकार का स्वाभाविक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। कुछ अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य हैं—

“दधि की मटकी सिर पर धर कर मैं आई बड़े भोर।”

“कहा करूं कित जाऊं याने कर कर डारी तोर ॥” जसोदा तेरे लाला ने

इस गीत की इन पंक्तियों में ‘र’ व ‘क’ वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रास के प्रयोग की पुष्टि होती है। और भी—

“गुलचा दे दे गाल लाल किए, मैं ठाड़ौ रहयौ रोय। मैया म जब मैं घर तै चलूं

यहां ‘ग’ व ‘ल’ वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रास अलंकार का प्रयोग दिखाई दे रहा है अब ऐसे ही कुछ अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

“संग में गोपी गऊ और ग्वार, कियौ गिरि तलै ॥”

मधुर मधुर बांसुरी बजाई-सब ब्रज में आनन्द रहयौ छाई ॥

“ताथे-ताथेई नचत, धुंधरू बजत झूम झन झनन।

सारंगी सनन करत तमूरा तनन ॥”

इस उदाहरण में अनुप्रास अलंकार के साथ ध्वन्यात्मकता भी झलक रही है।

और भी “माथे पै लिख मदन मुरारी जी।

दृगन पै लिख दे दीन दयाल।

× × × ×

रोम रोम में लिखौ रमापति राधा बनवारी ॥ बन गए नन्दलाल

“कैतु लाला गैल भुलि गयौ

“नागिन नाग जगाइ दै अपनौ

नैक न कानि करत काहू की

“मैया कर दो मेरौ ब्याह, गीत में अनुप्रास प्रयोग बड़ा ही सुंदर बन पड़ा है जो सचमुच प्रभावशाली-सा लगता है—

“गोरी गुनवारी, होय भोरी-सी विचारी,

झालकारी नथवारी, बड़े गोप की लली।”

और गीत की अंतिम कली (कड़ी में) में—

“बस बाबा ते बचाय, मेरी ब्यार करै आय ।

हौले हौले बतराय, आवै बातन में रस ॥”

और “तेरे लाला ने मांटी खाई” गीत में

“इतनो सो मांटी के डेल्यौ ।”

तुरंत श्याम ने मुख में मेल्यौ, गटक गटक गटकाई ॥ जसोदा सुनि

“शृंगार बसन्ती है, गीत में भी यही छटा बिखरी हुई है—

“श्यामा-श्याम सलौनी सूरत कौ सिंगार बसन्ती है ।”

इस टेक में ‘स’ वर्ण की आवृत्ति है तो अन्यत्र अन्य वर्णों एवं शब्दों की आवृत्ति से इस गीत में अनुप्रास का प्रयोग सिद्ध होता है।

“कनक कडूला हस्त बसंती-चलै चाल अलमस्त बसंती ॥

× × × ×

रूनक झुनक पग नूपुर की झनकार बसन्ती है ।

और “परम प्रेम परसाद बसन्ती—

इस गीत में अनुप्रास के प्रयोग में ध्वन्यात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है जो श्रोताओं को मुग्ध कर देती है।

एक बारहमासी गीत गीत में

“भूप ने करौ इसारौ है ।

× × × ×

भेज दयौ कुमर हजारी है। सारी नारी छज्जेन पे गावत गारी है ।

“भेली भेजौ रंगम भूप पे रे सरदारो—”

एक ‘धुनि’ में ‘चुटक चांदनी चलै चाल कि महलन.....

और पातर सकोरा कुल्हड़ पानी के परस दीए

दाऊजी कौ माखन और मिश्री भी मंगाई है ।

मांट के मंगौड़ा और गोकुल कौ दही लीयौ

एक और बारहमासी गीत में

दीनानाथ दयाल दयानिधि दीन की सुधि जल्दी लीजै ।

पातीराम के भजनों से भी एक उदाहरण लिया जा सकता है—

“भइया लछिमन सौ गम्भीर ।

× × × ×

ऐसो ताकि तौलि तैनैं हीए बीच मारौ बान ।”

बहर तबील में अनुप्रास की छटा देखते ही बनती है

“मोड़ फारौ ले आरौ समारौ धरम, मेरौ सर है धरम पर उजर ही नहीं ।

यहां ‘र’ वर्ण की आवृत्ति देखते ही बनती है। और भी—

“मेरे छैया कन्हैया खिलौना ललन, प्रान प्यारे दुलारे हमारे कुमर ।

× × × ×

मैंने पालौ पनासौ बड़े प्यार ते, कैसे फारें हों आरे से प्यारे पिसर ॥”

इस प्रकार ब्रज के लोकगीतों में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग बहुतायत के साथ ही बड़े प्रभावशाली ढंग से और स्वाभाविक रूप में हुआ है यह देखा गया है।

संदर्भ

1. काव्य प्रकाश—मम्मट 101
2. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ—10/14
3. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ—10/27
4. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ—10/77
5. खड़ी बोली का लोक साहित्य—डॉ. सत्या गुप्ता—पृ. 276
6. खड़ी बोली का लोक साहित्य—डॉ. सत्या गुप्ता—पृ. 278
7. लोक साहित्य के प्रतिमान—डॉ. कु. लाल उप्रेती—पृ. 219-220
8. लोक साहित्य के सिद्धांत और परंपरा—डॉ. श्रीराम शर्मा—पृ. 109
9. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (16वां भाग)—पृ. 375
10. लोक साहित्य के सिद्धांत और परंपरा—डॉ. श्रीराम शर्मा—पृ. 298
11. फिलासफी ऑफ सिम्बॉलिक फार्म—ए. काजिरे—पृ. 69
12. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प—डॉ. कैलाश वाजपेयी—पृ. 207-208
13. प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्य—डॉ. अजय तिवारी—पृ. 212
14. धूप के धान—निवेदन—डॉ. गिरिजा कुमार माथुर
15. सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ. कुमार विमल—पृ. 201

राजनीतिक, आर्थिक बदलाव और प्रगतिशील साहित्य

विश्वजीत कुमार चौधरी

व्याख्याता, चौरसिया महाविद्यालय, हाजीपुर

प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा को लेकर आज भी मतभेद है और कुछ ऐसे लोग हैं जो इस शब्द को ही नाकानी समझते हैं। प्रगतिशील साहित्य के बदले जनवादी साहित्य का इस्तेमाल करना अधिक ठीक समझते हैं। इसलिए यहाँ 'प्रगतिशील' शब्द का स्पष्टीकरण जरूरी लगता है। कुछ समय पहले तक फायडवादी, रोमांसवादी, यहाँ तक कि पतनवादी साहित्यिक भी अपने को प्रगतिवादी कहते थे, जैसे कि एक से एक विचित्र प्रतिगामी अर्थशास्त्र को मानने वाले भी अपने को सामाजवादी कहने में नहीं हिचकते थे। इस सन्दर्भ में एक पुराना उरण प्रगतिशील शब्द को समझने में मददगार हो सकता है। विक्टर ह्यूगो से जब रोमांसवाद की परिभाषा पूछी गई तो कानी विचार-विमर्श के बाद उन्होंने कहा—'रोमांसवाद उदारवाद का ही साहित्यिक रूपान्तर है।' अत्यल्प शब्दों में रोमांसवाद की यह ठोस, सरल और स्पष्ट परिभाषा है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी जीवन-व्याख्या की अभिव्यक्ति करने वाली कलाकृति ही 'प्रगतिशील' है या प्रगतिवाद मार्क्सवाद का ही साहित्यिक रूपान्तर है। इसी परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक और आर्थिक बदलाव में प्रगतिशील साहित्य की भूमिका को समझने के लिए हमें मार्क्सवाद का साहित्यिक दृष्टिकोण समझ लेना जरूरी है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य ही प्रगतिशील है। जीवन और मानव एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सामाजिक परिवर्तन होते हैं। समाज के भीतर क्रियाशील रहते हुए भी अपने को अलग से देखने, आत्मनिरीक्षण करने की आवश्यकता सदैव होती है, किन्तु उससे पृथक रहकर, जीवन प्रवाह से हटकर व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। समाज के भीतर रहकर व्यक्ति के सामूहिक हित की दृष्टि में रखते हुए एक मर्यादा बन्धन एवं अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है। मनुष्य का जीवन अपने समाज से मर्यादित होता है। अतः सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य को समाज से पृथक अमूर्त मानवता के स्वतन्त्र प्रतीक के रूप में सीमित न कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप में देखे—ऐसे समाज के सदस्य के रूप में, जिसमें निरन्तर संघर्ष हो रहा है और इन संघर्षों के कारण जो प्रतिक्रिया परिवर्तनशील भी है।

मार्क्सवादी का विचार दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है अर्थात् वह वस्तुओं और विचारों को उनके आविर्भाव, विकास और तिरोभाव की अवस्था में देखता है। इस चिन्तन-प्रणाली के अनुसार साहित्य के उद्गम और विकास पर विचार करने से हम

प्रथमतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब मनुष्य यूथब) वानरों के समान, जंगल का जीवन बिताता था तो उस समय न उसे साहित्य या कला से परिचय था न उसकी आवश्यकता ही थी। जब मनुष्य सहज बु)–परिचालित द्विपद से समाजव) प्राणी हुआ तभी से कला एवं साहित्य का सृजन आरम्भ हुआ। अतः कला एक विशु) मानवीय और सामाजिक कृति है। ‘साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशु, पुच्छविषाणहीनः’—यह उक्ति कला-सम्पन्न मनुष्य और कलाहीन, प्रकृति-परिचालित पशु के विभेद की ओर इंगित करती है। इंग्लैण्ड के प्रसि) कलाविद् एकरिक न्यूटन ने स्वीकार किया है कि कला की मुख्य पहचान यह है कि यह मनुष्य-निर्मित और मनुष्य-कल्पित होती है। मानवीय अनुभूति जब किसी मूर्त या अमूर्त माध्यम द्वारा अभिव्यक्त होती है तभी कला का जन्म होता है। अतः आगरा का ताजमहल, म्मि के पिरामिड, नियोनाडों की लास्ट सप्पर, शेक्सपीयर का हैमलेट, कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल, लन्दन का सेंट पाल्सका गिरजाघर आदि की गणना कला-कृतियों में की जाती है, किन्तु नियागरा प्रपात, माउंट रोजा की अरूण हिमराशि, पाइन वृक्ष के बन की भीनी-सुगन्ध की गिनती कला के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। मनुष्य ने जब प्रकृति के जीवन-क्षेत्र से अलग एक कृत्रिम मानव समाज की स्थापना की, उसी समय से उसने प्रकृति के सौन्दर्य से भिन्न एक नये प्रकार के मानव-सौन्दर्य अर्थात् कला का क्रमशः विकास किया। इस सवाल को क्रिस्तेर कॉडवेल ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। वह लिखता है : “कृषि के आरम्भ में जमीन तैयार करनी पड़ती है, पीछे खेत को काटना पड़ता है। कभी-कभी जाति के सभी सदस्यों को यु) यात्राएं करनी पड़ती है। जाड़े के दुर्दिन के लिए खाद्यान्न का संग्रह करना जरूरी होता है। इन सामूहिक कर्तव्यों के सम्पादन के लिए सहजात वृत्तियों का सहयोग आवश्यक है, किन्तु मनुष्य की कोई भी सहजात वृत्ति उसे इन कार्यों की ओर आकर्षित नहीं करती।

मनुष्य की आदिम वृत्तियों को सामाजिक श्रम में संलग्न करना जरूरी है। उसकी रागात्मिक वृत्ति को समाज की आर्थिक उत्पादन क्रिया से सम्ब) करना अत्यावश्यक है। चित्त-वृत्तियों को सामाजिक दिशा की ओर प्रेरित करना कला का ही काम है। अतएव कला मूलतः सामाजिक या आर्थिक साधन है, न कि प्रकृति-प्रदत्त।”

आज भी भारत के गांवों में यह आदिम संस्कृति विद्यमान है। इस संस्कृति को आदिम साम्यवाद की संस्कृति भी कहा गया है, क्योंकि उस समय मनुष्य जाति सामूहिक रूप से विशाल भू-भागों का उपभोग और जीविकोपार्जन करती थी, श्रम-विभाजन का श्रीगणेश अभी नहीं हुआ था, अतएव व्यक्तित्व का भी विकास अभी नहीं हो पाया था। इस समय के नृत्य, गान, काव्य समस्त जाति, गण या गोत्र के सामूहिक दुःख-सुख, आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं।

लेकिन यह आदिम साम्यवादी समाज अत्यन्त अनुन्नत था। मानवता के विकास के लिए इसका विघटन आवश्यक था। न्ततः समाज वर्ग विभाजन पथ से प्रगति की ओर अग्रसर हुआ। अत्यन्त प्राचीन काल से ही, मानवता के अम्युदय का नेतृत्व किसी न किसी वर्ग के हाथ में रहा है। जिसे शासक वर्ग कहा जाता है। यदि यह कहें कि तत्कालीन मानवता का वह वर्ग हाथ-पैर, आंख, मस्तिष्क और हृदय हो जाता है तो

यह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अतः किसी भी समाज और युग की प्रधान कला या साहित्य अनिवार्यतः शासक वर्ग की ही होती है। समाज के जिन सदस्यों के जीव के अनुभव समान होते हैं, उत्पादन प्रणाली में जिनके हित और स्वार्थ समान होते हैं वे ही संगठित हो अपने को एक वर्ग में परिणत कर लेते हैं। अभी भी साहित्य की विविध विधाएं और कला अपनी प्रारम्भिक सामाजिक भूमिका को ही सम्पादित करती हैं, किन्तु उसकी सामाजिकता किसी विशेष प्रयोजनों द्वारा सीमित हो जाती है। शासक वर्ग ने शुरू से ही साहित्य की उपादेयता को पहचाना था। सामन्त और राजा लोग केवल मनोरंजन के लिए चरणों और राजकवियों को नहीं रखते थे—यह तो सामन्तवाद की हासोन्मुख अवस्था में हुआ जबकि-राजाओं को सरस ढंग से हरिस्मरण और विलास-कला में कुतूहल प्रदर्शित के सिवा कोई अन्य काम नहीं रह गया था। इसी प्रकार पूंजीवादी साहित्यकार और प्रगतिशील साहित्यकार भी अपने-अपने वर्ग की जीवनानुभूतियों को वर्णित और प्रभावित करते हैं।

प्रगतिशील साहित्य, साहित्य के वर्गाधार को स्वीकार करता है। आज समाज में केवल सर्वहारा ही एक वर्ग है जो समाज का मंगल अभ्युदय की ओर ले जा सकता है। अतः आज के सभी सच्चे कलाकारों का यह साहित्यिक कर्तव्य हो जाता है कि वे मानववाद के खोखले, झूठे नारों के ढेर में न पड़कर सर्वहारा के समाज के वृहत्तम मानव समुदाय के संघर्ष और जीवनोल्लास को वाणी और बल दें। प्रगतिशील साहित्य भी अन्ततः एक वर्गाश्रित साहित्य ही है।

किसी भी समाज का मेरुदण्ड उसकी उत्पादन और विनिमय प्रणाली है। इसी को उस समाज का भौतिक मूलाधार कहा जाता है। जिस पर समाज की भाव सम्पदा और संस्कृति की इमारत खड़ी होती है। प्रश्न उठता है कि इस आर्थिक मूलाधार और साहित्य में किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। कुछ आलोचकों की शिकायत है कि प्रगतिशील साहित्य कला और समाज की अर्थव्यवस्था में सम्बन्ध स्थापित करता है एवं कला के स्वतन्त्र अस्तित्व को अस्वीकार करता है, किन्तु यह एक भ्रामक धारणा है। मार्क्सवाद जीवन और साहित्य के घनिष्ठ, जीवन सम्बन्ध को समझता है। वह यह भी मानता है कि समाज के भौतिक मूलाधार के साथ उसकी भावधारा एवं चिन्तन-धारा का अन्तरावलम्बन का सम्बन्ध है, किन्तु ये भावधाराएं भी कई कोटि की हैं जिनका आर्थिक आधार के साथ निकट का सम्बन्ध है, किन्तु धर्म, दर्शन और कला इन तीन भावधाराएं को आर्थिक मूलाधार के साथ स्पष्ट, समीपी और प्रत्यक्ष नहीं बल्कि सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कला और अर्थ व्यवस्था में 'अन्तर्मध्यवर्ती' विचारधाराएं सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इस प्रकार की अन्तर्मध्यवर्ती विचारधाराएं राजनीति, सामाजिक, नैतिकता एवं विज्ञान इत्यादि हैं, प्रत्येक समाज व्यवस्था अपनी राजनीति, कानून, नैतिकता एवं विज्ञान को जन्म देती है और अन्ततः ये विचारधाराएं कला की सत्ता को भी प्रभावित करती हैं। प्रगतिशील साहित्य यांत्रिक भौतिकवादियों और संकीर्ण समाजशास्त्रियों की भांति कला और अर्थव्यवस्था के अन्तःसम्बन्ध में भ्रामक सरलता स्थापित नहीं करता।

रामचरितमानस में ग्राम-संस्कृति

डॉ. श्याम सुंदर प्रसाद

वरिय प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, पी.सी. विज्ञान महाविद्यालय
छपरा, (सारण), बिहार

साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। जीवन और साहित्य दोनों में ही आनन्द एवं सभ्यता के द्वारा संस्कृति के निर्माण एवं विकास का सतत् प्रयास होता रहा है। काव्य में व्यापक मानवतावादी संस्कृति का चित्रण करना उसे सार्वभौम भूमिका प्रदान करना माना गया है। मानव जीवन के सौंदर्य के निर्माण और विकास की प्रक्रिया को ही संस्कृति कहा जाता है। काव्य जीवन की वास्तविक कटुताओं से बचकर हमें अनुपम संपन्न बनाता है। इसी कोटि में आने वाला काव्य सांस्कृतिक काव्य होता है। ऐसे काव्य का महत्व क्षणिक न होकर शाश्वत होता है, तथा ऐसा काव्य हमें जीने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है। भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' ऐसा ही अमर काव्य है।

'रामचरितमानस' ग्रामीण संस्कृति के पुर्नस्थापन की दिशा में ही एक महती महाकाव्य है। यह महाकाव्य सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन की संस्कृति से आप्लावित करता है। अब हम 'संस्कृति' के बारे में कुछ विचारकों के विचार को जानने और समझने का प्रयास करेंगे।

- (1) डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।¹
- (2) डॉ. वासुदेवसरण अग्रवाल—हमारे जीवन का अंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्द्धन करने वाला रस है।²
- (3) डॉ. रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है, और वह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।³

इस प्रकार निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'संस्कृति' मानव जीवन को निरापद एवं स्वामित्व प्रदान करने वाला ही नहीं, अपितु मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने वाले समस्त व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्य-कलापों, विचारों, व्यवहारों, अनुभूतियों एवं आदर्शों का समन्वित रूप है। यह मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाला साधन ही नहीं अपितु बाह्य परिस्थितियों के संपर्क से अभिव्यक्त होने वाली मानवोचित गुणों का प्रभावशाली समूह है। 'संस्कृति' वह आधारशिला है, जिस पर मानव जीवन का भव्य भवन टिका हुआ है। संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास से ही मानव जीवन में चार चांद लग जाती है।

निसंदेह कहा जा सकता है कि 'संस्कृति' एक सनातन प्रवाह है, जो देश एवं काल की बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर नया रूप धारण करते हुए भी अविच्छिन्न गति से सतत् विकासशील रहती है। "संस्कृति" का संबंध मानव जीवन के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के विकासों एवं जीवन के विभिन्न पहलुओं

से हैं।⁴ अतः किसी भी देश का गांव की संस्कृति से वहां के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान, जीवन-यापन के ढंग, कला प्रेम एवं परंपरागत अनुभवों का बोध होता है। अगर इस बात को 'रामचरितमानस' जो तुलसीदास का अमर काव्य है, में देखते हैं तो पाते हैं कि 'रामचरितमानस' में ग्राम संस्कृति पूर्ण रूपेण भरी पड़ी है। 'ग्राम' शब्द 'ग्राम' बन गया। 'ग्राम' शब्द संज्ञा पु. है, जिसका अर्थ गांव या ग्राम हम कह सकते हैं।⁵

अतः 'ग्राम-संस्कृति' का अर्थ हुआ 'गांवों की संस्कृति'। गांवों में किस प्रकार की संस्कृति होती है, वहां के रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा खान-पान आदि से बोध होता है। 'ग्राम साहित्य' में निम्नलिखित चीजें आती हैं, और क्या वे सारी चीजें तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में हैं, तो वह कैसे इसी का आकलन करना ही प्रस्तुत निबंध की सार्थकता और प्रयोजन है। पहले हम 'ग्राम संस्कृति' में जो चीजें आती हैं, उसके आधार पर तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को कसने का प्रयास होगा—

1. सोहर के गीत।
2. मुण्डन के गीत।
3. जनेऊ के गीत।
4. नहछू संस्कार और
5. विवाह के गीत आदि।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में इन सारे ग्रामीण परिवेशों का वर्णन किया है, उसे हम देखने का प्रयास करेंगे। 'सोहर' जिसे कहीं-कहीं 'सोहिलों' भी कहते हैं, उस गीत का नाम है, जो पुत्र-जन्म के अवसर पर गाया जाता है, अब जरा 'सोहर' के गीतों को भी देखा जाय—

“बाजि लागी आनंद बधइया,
गावइ सखि सोहर ॥⁶

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में जन्म और विवाह के अवसर पर स्त्रियों से मंगलगीत भी गवाया है। 'सोहर' गीत का बहुत ही अच्छे तरीके से वर्णन तुलसीदास ने 'राम लला नहछू' में किया है—

“बनि-बनि आपति नारि जानि गृह मायन हो ।
विहसंत आऊ लोहारिनि हाथ वरायन हो ॥⁷

पुनः और देखिए, प्रसंग है—'सीता सोलह शृंगार करके अटारी पर चढ़ गई, वहां रामचन्द्र जी के सेज बिछी थी। उसका वर्णन जरा देखिए—

“सोरहो शृंगार सीता कइली,
अटरियां चढ़ि गाइलनि ।
रघुनन्दनक डासत सेज,
सिराहने ढाढी भइलिनी ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास ग्राम संस्कृति के बड़े पारखी महाकवि थे।

‘ग्राम-संस्कृति’ में मुण्डन के गीत भी आते हैं। जन्म के तीसरे, पांचवे या सातवें वर्ष में पहले-पहल जब बच्चे के सिर के बाल उतारे जाते हैं, उसे मुण्डन कहते हैं। हिन्दू समाज के सोलहों संस्कारों में यह एक संस्कार है। ‘ग्राम-संस्कृति’ में मुण्डन के गीत बहुत ही प्रचलित होते हैं, वहीं दूसरी ओर ‘जनेऊ के गीत’ भी आते हैं। जनेऊ पहनना आर्य जाति की बहुत पुरानी प्रथा है। जिसका चित्र तुलसीदास जी ने भी अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है।

‘विवाह के गीत’ रामचरितमानस में तो भरे पड़े हैं। तुलसीदास ने राम और सीता के विवाह का वर्णन बहुत ही आकर्षक ढंग से किया है। जब राम माँ सीता के मांग में सिन्दूर दे रहे हैं, तो उस समय का वर्णन जो तुलसीदास ने किया। वह सचमुच दृश्य उपस्थित कर देता है—

“राम सीय सिर सिन्दूर देहि ।

सोभा केहि न जात विधि के ही ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘ग्राम-संस्कृति’ का संपूर्ण फलक ‘रामचरितमानस’ में बन पड़ा है, तथा उसमें गोस्वामी जी को जो सफलता मिली है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

वास्तव में तुलसी का ‘रामचरितमानस’ एक ऐसा महाकाव्य है, जिसे जिस किसी भी रूप में व्यक्ति अध्ययन करने बैठे वह उसी रूप में इसको पाता है। यह तुलसी की सफलता ही कही जा सकती है। ‘रामचरितमानस’ में ‘ग्राम-संस्कृति’ का जो सफल नियोजन गोस्वामी तुलसीदास ने किया है, वह अद्वितीय है, तथा तुलसी की प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है। सच्चे अर्थों में तुलसी के ‘रामचरितमानस’ को अगर हम ‘ग्राम-संस्कृति’ का महाकाव्य कहें तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ‘ग्राम-संस्कृति’ की जो अविच्छिन्न धारा गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य में बहाई है, वह आज भी उनके काव्य में सुरक्षित है तथा रहेगी, तभी तो ठीक ही कहा गया है—

“तुलसी कवि सम कवि नहीं कोऊ ।

भए न अहहि जगत मह अब नहीं होऊ ॥”⁸

सहायक ग्रंथों की सूची

1. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—‘सभ्यता और संस्कृति’—(पृ. 27) शीर्षक—भारतीय संस्कृति की देन।
2. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल—‘कला और संस्कृति’—(पृ. 11-12) शीर्षक—संस्कृति का स्वरूप।
3. डॉ. रामधारी सिंह दिनकर—‘हमारी सांस्कृतिक एकता’—(पृ. 3) शीर्षक—संस्कृति है क्या?
4. भारतीय संस्कृति की रूप रेखा—(पृ. 1)
5. हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश, प्रकाशक—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
6. ग्राम-साहित्य, संपादक—रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक—हिन्दी मंदिर, प्रयाग।
7. रामलला नहछु, लेखक—गोस्वामी तुलसीदास से।
8. रामचरितमानस, लेखक—गोस्वामी तुलसीदास से।

सूफी साधक और कबीर के विचार साधना के क्षेत्र में

डा. शान्तनु प्रसाद

हिन्दी विभाग, रामलखन सिंह यादव कॉलेज बेतिया

बी.आए०ए० बिहार, विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

सूफी इश्क के माध्यम अखण्ड सत्ता से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। सूफी साधक प्रेम की पीर में दीवाना होकर, सब कुछ छोड़कर निकल पड़ता है। यह कुछ इश्क प्रथमतः शारीरिक स्तर पर घटित होता है। पुनः यही इश्क रूपांतरित होकर अनन्त के साथ अल्लाह के साथ जुड़ जाता है। तसब्बुफ में साधक (सालिक) प्रेमी का प्रतीक होता है और सिद्धि, लक्ष्य या खुदा प्रेमिका का। सूफी साधक अनेक कष्टों, विपत्तियों को भोगते हुए, अतिशय तपश्चर्या के उपरान्त अपनी प्रेयसी रूप महज्ज्योतिर्मय परम ब्रह्म में संलीन हो जाता है। सूफी साधक महाकवि मल्लिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत के राजा रत्नसेन तथा सिंगलद्वीप में रहनेवाली पद्मावती के आरयान में तसब्बुफ के साधना-मुकामातो का निर्वचन मशनवी शैली में किया है। महज्ज्योतिर्मय रूपा पद्मावती (ईश्वर, अखण्ड सत्ता) के इश्क में वेकरार होकर साथक रत्नसेन राज-पाट के प्रपंच को छोड़ सोलह हजार राजकुंवरों के साथ घर से निकल पड़ता है। मुरशिद (भेदी गुरू) हिरामन तोता के संकेत पर विविध काया-क्लेशों का सामना करते हुए अन्ततः वह ईश्वर रूपा पद्मावती से मिलता है, उसकी अखण्ड ज्योति में लीन हो जाता है। पद्मावती का हर उपाख्यान एवं पात्र तसब्बुक की साधना-सफर तथा मुकामातों का रूपकत्व-नियोजन ही है। सूफी परम्परा में साथक मंज़न (मृगावती) कुतुवन (चित्रावती) आदि आख्यान भी तसब्बुक की प्रेम-साधना का ही प्रतीकत्व-नियोजन है।

संत कबीर की रहस्य-साधना तथा तसब्बुक की हुस्नपरस्ती से जो अल्लाह के जमाल का साक्षत्कार है, बहुत अर्थों में मिलती-जुलती है। इसका सबसे बड़ा अन्तर वर्णन शैली में है। संत कबीर रहस्य की साधना में साधक बिरहिन, प्रेयसी, प्रणयिणी और अखण्ड सत्ता ब्रह्म वा पुरन पुरुष को प्रिय के रूप में निरूपित करते हैं :-

कोई मो पे रंग न डारो, मैं तो भइ हूँ। बौरी॥ टेक॥

इक तो बोरी दूजे बिरह की मारी, तीजे नेह लगी री॥

अपने पिय संग होरी खेलों, ये ही फाग रचौ री॥

पाँच सुहागिनि होरी खेलैं, कृमति सखी से न्यारी॥

कहे कबीर सुनो माह साधो, आवागवन निवारी॥

लैला मंजुँ, शिरि-फरहार की तरह संत कबीर की रहस्यात्मक शब्दावलियाँ सामान्य गीत वा जतसारी भी ऊपर से देखने पर लौकिक प्रणय-गीत की तरह भासित होती है परन्तु उसमें अन्त-अन्त तक वे पारलौकिकता वा साधना का कुछ न कुछ संकेत दे ही देते हैं :-

1. क० सा० शब्दावली, भाग 23 होली 25। पृ० 87।
का संग होरी खेलों हो बालम परदेसवा॥ टेक॥
आई है' अब रितु वसंत की, फूलन लागे टेसुवा॥
वस्त्र रंगीले पहिरन लागै, फूलन लागे टेसुवा॥
मरि गए ताल तलैया सागर, बोलन लागे मेधवा॥
उमड़ी नदी नाव कहँ पाओ; केहि बिधि लिखौँ सँदेसवा॥12॥
जो जो गए वहरि नहिं आये, कैसन है वह देसवा॥
आवत जावत लखे न कोह, ये ही मोहि अँदेसवा॥13॥
वालपन जोबन दोउ बीते, पाकन लागे केसवा॥
कहे कबीर निज नाम सम्हारी, ले सतगुरु उपदेसवा॥14॥
इसी तरह' पिय बिन होरी को खेले, वावरी भह डोलै॥2॥
कैसे खेलों पिया संग होरी, दुविधा रार मचाय रही है॥3॥
आह गवनमा की सारी उमिरि अबहीं मोरी बारी॥4॥
ननदी जाव री महलिया, आपन विरना जगावा॥5॥

इन गीतों में भी अनन्त से मिलन का उज्ज्वास, सतपुरुष में एकाकार होने की परम तितिक्षा ही उपवृत्ति है।

तसव्वुक के प्रेम और भक्ति के संदर्भ में प्रोफेसर हनायत खाँ अपनी पुस्तक सूफी मेसेज में कहते हैं :- “Sufis Take the course of love and devotion to accomplish their highest aim because it is love which has broughaat man from the world of unity to the world of variety and the same force again can take him to the world of unity from that of variety.”

1. क० सा० की शब्दावली भाग-2, होली शब्द 25, पृ०
2. वही, होली शब्द 11।
3. वही, भाग 2, होली शब्द
4. वही, शब्द 5।

5. नहीं, प्रेमशब्द 32।

6. सूफी मेसेज। कबीर : विजयेन्द्र स्नातक, पृ० 96।

यह प्रेम-भावना ही मनुष्य को एक जगत् से भिन्न जगत् में लाती है। यही वह शक्ति है जो उसे भिन्न जगत् से एक जगत् में ले जा सकती है।

सूफी-साधना के उपक्रम में श्री चन्द्रवली पाण्डेय अपनी पुस्तक सूफीमत में कहते हैं कि - म्वारिफ के उदय से सूफियों को हक का बोध हो गया पर जिक्क का अनुष्ठान लोक-मंगल की कामना में आरिफ बराबर करते रहे। जिक्क पर सूफियों ने पूरा जोर दिया और उसके अनेक रूपों की प्रतिष्ठा की। जिक्क के व्यापक अर्थों में कुछ संकोच कर जिक्क फिक्क, एवं समा का विधान किया गया; नहीं तो वास्तव में जिक्क अंगी और शेष अंग है। तसब्बुक में जिक्क के दो भेद किये जाते हैं :- जिक्क खफी और जिक्क जली जिसका सम्बन्ध क्रमशः हृदय व मन और वाणी से है। फिक्क खफी का रूपान्तरण है जिसमें चिन्तन की प्रधानता होती है। जली के अनुष्ठान का मूल मंत्र ला इलाहा इल्लिल्लाह है जिसकी अन्य वृत्तियों की उपेक्षा तथा दमन की जाती है। खफी अखण्ड वा अनन्त संज्ञा का उद्बोधक है जो सूफियों का इष्ट होता है। जली संध की साधना है; स्तवन है तथा खफी हृदय की एकान्त भावना और योग है। सूफी साधना में चितवृत्ति-निरोध को मुजाहदा कहते हैं जिसका जेहाद मुशरिक या काफिर से न होकर खुद अपने नफूस से होता है। अतः नफ्सपरस्ती को वे कुफ्र मानते हैं जिसे निराकृत करने की फिक्क करते हैं। सूफी साधना में मुराकवा का भी एक विशिष्ट स्थान है जिसमें साधक अपनी दिल की परेशानी को दूर करने के लिये कुरान का कतिपय चुने हुए स्थलों का पाठ करते हैं। जिक्क का सर्वाधिक प्रचलित क्रियात्मक रूप समा (संगीत) है जिसके अन्तर्गत 'वही' की दशा में मुहम्मद साहब को घंटी का शब्द सुनायी पड़ता था। इस समा के संबन्ध में सूफी साधकों का कहना है कि सारा नक्षत्र मण्डल आकाश के रंगमंच पर समा का सम्पादन कर रहा है, कण-कण उसी के हर्षोल्लास में नर्तन कर रहा है। हम सब उस समा-सागर के सीकर के समान हैं। संत कबीर अपने घट में गगन-मण्डल के रंगमंच पर पंच-मण्डलों की समा का श्रवण-दर्शन करते रहते हैं:-

1. तसब्बुक : चन्द्रवली पाण्डेय, पृ० 89।

सूफी साधक और कबीर

सूफी साधना के प्रमुखतः चार मुकासातों की चर्चा आई है :- (1) शरीयत (2) तरीकत (3) मारिफत (4) हकीकत जो भारतीय साधना परम्परा में क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड ज्ञानकाण्ड और ज्ञान निष्ठा काण्ड वा (उपासक) भक्ति काण्ड ही रूपान्तरण है। शरीयत (कर्मकाण्ड) जब आविद् (उपासक) को संतोष नहीं मिलता तथा प्रियतमा के मार्ग को जानने की उत्कृष्ट उत्सुकता तीव्रतर हो जाती

है तब वह किसी जानकार मुरशिद के पास पहुँचता है। वह अविद् के लगन को देखकर मुरीद बना खुदा के इश्क मार्ग पर चलने का उपदेश देता है। शरीयत के बाद अविद् को तरीकत के क्षेत्र में विचरना पड़ता है जहाँ अपनी चिन्तवृत्तियों का जेहाद (निरोध) करना पड़ता है।

जेहाद के बाद उसमें म्वारिफ का आविर्भाव होता है और वह सालिक से आरिफ बन जाता है। म्वारिफ के अभ्युदय से आरिफ में खुदा के लिये चिन्तन आरम्भ हो जाता है और वह हकीकत के क्षेत्र में पहुँचता है। म्वारिफ मूलाधार प्रज्ञा है जिसके आलोक में सारे अज्ञान तिरोभूत हो जाता है। तसब्बुक हकीकत के अनुभव की दशा है, परमात्म साक्षात्कार की दशा है। मुसलिम को तसब्बुक में पदार्पण के लिये सामान्यतः तोवा, जहद, सत्र, शुक्र, रिजाव, खौफ, तवक्कुल रजा, फिक्र और मोहब्बत का क्रमशः अनुशीलन करना पड़ता है। म्वारिफ सुफियों का प्रधान साधन एवं अल्लाह की अनुकम्पा का धर्म प्रसाद है। सुफियों ने अल्लाह साक्षात्कार के लिये भक्ति-मार्ग का चयन किया है जिसकी रक्षा और पुष्टि के लिये शरीअत म्वारिफत की शरण में रहकर तरीकत से प्रोत्साहन पाकर क्रमशः चित्त के मल और कम्पिष-कषायों को दग्ध कर देता है। अन्ततः हकीकत में आकर वह जीवन युक्त हो जाता है।

आत्मा-परमात्मा, अष्ट अल्लाह की मीमांसा निरूपण में हल्लाज ने नासूत और लाहूत की कल्पना कर डाली। इसके बाद हमाम गज्जाली ने लोक-कल्पना के आधार पर नासूत के साथ मलकूत और लाहूत के साथ जबरूत का क्रिया-यौगिक विधान भी किया। सूफियों ने इसे स्वागत किया और बाद में उनलोगों ने हिन्दू योग-पद्धति और सप्तचक्र के आधार पर हाहूत की कल्पना भी की। अतः सूफी साधना की मान्यता के आधार पर नासूत नर लोक, मलकूत देवलोक जबरूत ऐश्वर्य लोक, लाहूत माधुर्य लोक और हाहूत सत्यलोक का प्रतीक-न्यास है। साधना जगत् में इसका तुलनात्मक प्रतीकत्व जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत से ले सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सूफी साधक और कबीर के विचार :-

1. कुरान मजीद
2. कुरान शरीफ
3. हदीस-बुखारी शरीफ तथा मुस्लिम शरीफ
4. तज्किरात औलिया
5. तसब्बुफ- चन्द्रवली पाण्डेय
6. सूफी मैसेज
7. कबीर मंशूर
8. सत्संग कोश- मैंही परमहंस, कुप्पा घाट भागलपुर

विचारधारा के अर्थों का विकास

वंदना भारती

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

विचारधारा कोट या कुर्ते जैसी कोई चीज नहीं है, जब मन किया एक उतारा और दूसरा पहन लिया। मेरे विचार से विचारधारा कुछ दूसरी ही चीज है। उसे आदमी मजबूती से पकड़ता है। वह समर्पण मांगती है। उसके लिए निष्ठा चाहिए, गहरा आंतरिक विश्वास चाहिए। उसी निष्ठा और गहरे विश्वास में से सब तरह के अभाव, कष्ट, निन्दा, अपमान और जेल, यातना सबकुछ सहने और जरूरत पड़ने पर अपने प्राण तक दे देने की ताकत आती है। जहां ये निष्ठा और समर्पण और अकुंठ विश्वास नहीं है, वहां फिर विचारधारा कैसी? अब सवाल पैदा होता है कि विचारधारा से हमारा क्या मतलब है? विचार तो आसानी से समझ में आता है। सबके मन में कभी कोई विचार आता रहता है। अभी मैं अपने बारे में सोच रही हूँ, फिर अपने वर्ग के विषय में सोचने लगी, फिर देश की ज्वलंत समस्या-जैसे भारत-पाक संबंध या फिर आरक्षण नीति के बारे में सोचने लगी। किसान अपने खेतों के बारे में विचार करता है, गृहणी अपने घर-परिवार के बारे में। नेतागण के मन में कुछ दूसरे ही तरह के विचार आते रहते हैं-कैसे विधानसभा या लोकसभा का टिकट दुबारा-तिबारा हासिल किया जाय, मंत्रिमण्डल में कैसे घुसा जाय आदि-आदि। यानी कि सबके पास अपने-अपने विचार होते हैं और आदमी उन्हीं में गोते खाता रहता है। इसलिए विचार तो सब समझते हैं, पर विचारधारा जरा टेढ़ी खीर मालूम होती है। अमृत राय विचारधारा पर विचार करते हुए लिखते हैं, “‘विचार’ और ‘धारा’ दोनों ही शब्द संस्कृत से हिन्दी में आये हैं और हिन्दी के अपने हैं, लेकिन उन दोनों का सामासिक पद जो ‘विचारधारा’ है वह कदाचित् हमारे यहां का पुराना प्रयोग नहीं है। मेरा अनुमान है कि वह अंग्रेजी से हिन्दी में आया है और ‘आइडियॉलोजी’ का रूपांतर है।”

‘विचारधारा’ के अर्थ के विकास का इतिहास एक जटिल स्वरूप धारण किए हुए है। कहीं विचारधारा ‘विचारों के विज्ञान’ के रूप में परिभाषित है तो कहीं ‘छद्म चेतना’ के रूप में। कहीं इसे ‘लेखक की वर्गीय चेतना’ के रूप में देखा गया है तो कहीं ‘विश्वदृष्टि’ के रूप में। और फिर आज के उत्तर आधुनिक समय में जबकि विचारधारा के अंत के फतवे जारी किए जा रहे हैं तो समस्या यह है कि आज के संदर्भ में विचारधारा से क्या अर्थ लगाएं? वास्तव में, ‘विचारधारा’ की किसी एक कालखंड में, किसी एक विचारक द्वारा, किसी एक संदर्भ में दी गई व्याख्या को ही आखिरी मानना एक भूल होगी। अतः हमें विचारधारा के अर्थ का वास्तविक स्वरूप निर्धारण हेतु इसके विकासक्रम तथा उस विकासक्रम में उभरते हुए इसके अर्थों की प्रकृति एवं उसके प्रयोजनों को ध्यान में रखना होगा।

विचारधारा की अवधारणा आधुनिक चिंतन की उपज है। सामान्यतः विचारधारा के अर्थ की व्याख्या मार्क्सवाद के संदर्भ में की जाती है लेकिन मार्क्स के पूर्व ही

डीट्रेसी और नेपोलियन आदि ने विचारधारा के अर्थ के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। फ्रांस के बुद्धिजीवी दार्शनिक डीट्रेसी ने 1797 ई. में पहली बार 'विचारधारा' शब्द का प्रयोग करते हुए इसे सामाजिक प्रक्रिया को समझने के लिए 'विचारों के विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया। विचारधारा का प्रयोग ज्ञानमीमांसा तथा भाषाविज्ञान में भी हुआ है। नेपोलियन ने 'विचारधारा' की व्याख्या करते हुए विचारों के विज्ञान के रूप में इसकी आलोचना की। हेगेल तथा मार्क्स के मध्य के समय में धर्म, समाज तथा विचार प्रक्रिया पर लंबी बहस चली। फायरेबारव अपने ग्रंथ 'एसेंस ऑफ क्रिश्चनरी' में लिखते हैं कि विचारधारा का आस्थावाद से विरोध तथा भौतिकवाद और विवेकवाद से गहरा संबंध है।

विचारधारा के अर्थ के विकास में मार्क्स-एंगेल्स का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी रचनाओं में विचारधारा का अर्थ सब जगह एक समान नहीं है। विचारधारा की धारणा में परिवर्तन और विकास हुआ है। "जर्मन विचारधारा" नामक पुस्तक में मार्क्स-एंगेल्स ने विचारधारा को 'छद्म चेतना' कहा है जबकि "राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को योगदान" नामक पुस्तक में इसे एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ की विशिष्ट सामाजिक चेतना के रूप में परिभाषित किया है। विचारधारा को यथार्थवाद का विरोधी मानने वाले आलोचक अपने मत के समर्थन में मार्क्स-एंगेल्स के 'जर्मन विचारधारा' वाले मत-जिसमें कि विचारधारा को भ्रम, अवास्तविक और यथार्थ का उल्टा प्रतिबिम्ब कहा गया है—को प्रस्तुत करते हैं। पर वास्तव में इसमें मार्क्स-एंगेल्स ने मुख्य रूप से धर्म और दर्शन की चर्चा की है, साहित्य और कला की नहीं। अर्थात् वे धर्म और दर्शन द्वारा प्रतिपादित, विचारधारा को 'छद्म चेतना' अथवा 'यथार्थ का उल्टा प्रतिबिम्ब' कहते हैं। उनके अनुसार विचारधारा का वास्तविक अर्थ—विशिष्ट सामाजिक चेतना या वर्ग चेतना ही है। इसी चेतना के माध्यम से जनता अपने शोषण को पहचानती एवं उसके विरुद्ध संघर्ष करती है।

मार्क्स का मानना है कि विचारधारा स्वयं ऐतिहासिक होती है। इतिहास प्रक्रिया उसके स्वरूप एवं चरित्र का निर्माण करती है। सामाजिक वास्तविकता तथा अंतर्विरोधों में परिवर्तन के फलस्वरूप विचारधारा में परिवर्तन होता है। एक समय की प्रगतिशील विचारधारा, दूसरे समय में प्रतिक्रियावादी विचारधारा बन जाती है। विचारधारा शाश्वत नहीं होती है। विचारधारा की धारा विकासशील धारा है।

मार्क्स ने विचारधारा को 'छद्म चेतना' के रूप में देखा। 'छद्म चेतना' में धार्मिक, आध्यात्मिक विश्वचेतना की बात की। मार्क्स का मानना है कि 'विचारधारा छद्मचेतना के संदर्भ में उस चीज को इंगित करती है जो उल्टी रूप में है।' पूंजीवाद पर विचार करते हुए मार्क्स का मानना है कि, 'पूंजीवाद उत्पादन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें पूंजीपति वर्ग का अधिकार होता है। श्रमिक की स्वतंत्रता है कि वह अपने श्रम को बेच सके। इसके बरवस पूंजीपति की स्वतंत्रता है कि वह इस श्रम को खरीद सके। मुक्त बाजार में हर आदमी को हर जगह, हर तरह की खरीद-बिक्री की छूट होनी चाहिए। इस प्रक्रिया में श्रम से लेकर आत्मा, परमात्मा सबकी खरीद-बिक्री होती है। मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद में सिर्फ खरीद बिक्री की स्वतंत्रता है,

लेकिन उसे इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि मानों वह जीवन का कोई महत्वपूर्ण कार्य हो। शासक वर्ग की विचारधारा पर वे लिखते हैं, हर समय और समाज में शासक वर्ग का विचार ही मुख्य विचार हुआ करते हैं। "The ideas of the ruling class are in every epoch the ruling ideas?"²

एंगेल्स ने स्वतंत्र रूप से 'एंटी ड्यूटिंग' नामक पुस्तक में विचारधारा की चर्चा की है। उनके अनुसार विचारधारा वह है जहां विचार से वस्तुजगत का संबंध होता है। तथ्यों से विचार तक की यात्रा करने के बजाय विचारों से तथ्यों तक पहुंचते हैं। इस यात्रा में जहां अंतराल पड़ता है, उसे कल्पना से पूर्ण करते हैं। 1833 में मेटरिंग को लिखे पत्र से भी एंगेल्स की विचारधारा संबंधी अवधारणा का पता चलता है। यहां वे लिखते हैं "प्रत्येक विचारधारा जब एक बार पैदा होती है, तो वह पहले से मौजूद धारणाओं से अपना विकास करती है। विचारधारा, विचारों की वस्तुजगत से स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करती है। विचारक के विचार, वस्तुजगत से प्रभावित तो होते हैं, लेकिन इस बारे में वह सचेत नहीं होता।"³ एंगेल्स ने विचारधारा की दार्शनिक से ज्यादा मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। बाद के दिनों में Freud ने जिसे 'रेशनलाइजेशन' कहा उससे यह काफी साम्यता रखता है।

एंगेल्स ने भी विचारधारा को इतिहास के साथ परिवर्तनशील माना है। मध्यकाल में धर्म व आध्यात्मिकता संपूर्ण समाज को आच्छादित करने वाली विचारधारा प्रक्रिया के रूप में की जिसका रूप और अर्थ पूंजीवाद के विकास के साथ बदलता है। पूंजीवाद के विकास के साथ मजदूर वर्ग की विचारधारा भी पैदा होती है। अतः विचारधारा का स्वभाव ऐतिहासिक होता है।

विचारधारा के अर्थ संबंधी इस विमर्श को लेनिन के प्रवेश से एक नया आयाम मिलता है। लेनिन ने जनसंघर्ष के बीच में विचारधारा पर विचार किया। उन्होंने विचार तथा व्यवहार की एकता तथा उनके आपसी संबंध पर विचार किया तथा इससे विचारधारा के सकारात्मक अर्थ का विकास हुआ। लेनिन के विचारधारा को वर्ग तथा वर्ग-चेतना से जोड़कर देखा। अलग-अलग वर्ग की अलग-अलग विचारधारा होती है। एक वर्ग की सामाजिक स्थिति से उसकी विचारधारा का निर्माण होता है।

लेनिन ने समाजवाद को पहली बार एक विचारधारा माना और वैज्ञानिक समाजवाद को सर्वहारा वर्ग की विचारधारा कहा। वर्गों के परस्पर संबंधों के होते हुए भी कोई वर्गहीन विचारधारा नहीं हो सकती। हर विचारधारा ऐतिहासिक स्थिति से तय होती है। मजदूर वर्ग अपनी स्थिति से एवं इतिहास के विश्लेषण से भी विचारधारा का ज्ञान अर्जित करता है। लेनिन के अनुसार 'छद्म चेतना' से मुक्ति ही वैज्ञानिक विचारधारा है क्योंकि धार्मिक विचारधारा में छद्म चेतना उपस्थित रहती है।

जार्ज लुकाच ने लेनिन की विचारधारा संबंधी अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए मार्क्सवाद को विचारधारा तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद को संघर्षशील मजदूर वर्ग की विचारधारा कहा। बुर्जुवा विचारधारा की छद्मता का कारण उसकी ऐतिहासिक स्थिति होती है। विचारधारा में छद्म अंश तब ज्यादा होती है, जब वह भाववादी होती है। लुकाच कला तथा साहित्य को भी विचारधारा का एक हिस्सा मानते हैं।

विचारधारा के अर्थ के विकास में इटली के प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता 'एन्टोनियो ग्राम्शी' का महत्वपूर्ण स्थान है। विचारधारा के सकारात्मक अर्थ का विकास करते हुए उन्होंने मार्क्सवादी चिंतन की भाषा व दिशा बदल दी। उन्होंने मार्क्सवाद के स्थान पर एक नया शब्द रखा—“व्यवहार तथा अनुभव का दर्शन”। ग्राम्शी के समय में फ्रैंकफर्ट स्कूल का दौर था जहां विचारधारा के ‘छद्म चेतना’ वाली बात महत्वपूर्ण थी। लेकिन ग्राम्शी ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे दो तरह की विचारधारा की बात करते हैं—एक आवयविक विचारधारा जो विभिन्न वर्गों की विचारधारा से निर्मित होती है तथा दूसरी ऐच्छिक या यादृच्छिक विचारधारा, जो वैयक्तिक, पीढ़ीगत या कुछ लोगों द्वारा भी निर्मित हो सकती है। ग्राम्शी ने विचारधारा के संदर्भ में वर्चस्वशीलता की अवधारणा प्रस्तुत की। उनकी मान्यता है कि समाज का वास्तविक संघर्ष ‘वर्चस्व का संघर्ष’ है। विचारधारा वर्चस्व का माध्यम तथा साधन दोनों है तथा यह संघर्ष, प्रतिरोध के बोध का भी माध्यम है। लेनिन से थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए ग्राम्शी मानते हैं कि विचारधारा मुक्तिधर्मी ही नहीं होती बल्कि पराधीन भी बनाती है। ग्राम्शी ने अपने चिंतन को विकसित करने का साधन मूल रूप से ‘जनता’ को बनाते हुए ‘लोकमत’ संबंधी अवधारणा विकसित की। उनके पूर्व जनचेतना (कॉमनसेंस) शब्द निंदापरक था इसके विपरीत उन्होंने जनचेतना की जगह साधुमत (गुडसेंस) का प्रयोग करते हुए कहा कि लोकमत में ही आम जनता की जिन्दगी के अनुभव होते हैं।

विचारधारा के अर्थ के इस विकास परंपरा में ‘लुई अल्यूसर’ का विचारधारा संबंधी चिंतन इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इसका उत्तर आधुनिकता पर गहरा प्रभाव पड़ा। विचारधारा की आलोचना की जो प्रवृत्ति उत्तर आधुनिकता में है, उसके मूल में अल्यूसर का ही चिंतन है। अल्यूसर ने विचारधारा के संबंध में समग्रतावादी प्रकृति की आलोचना की। वे विचारधारा को भौतिकवादी मानते हैं।

गोल्डमान ने विचारधारा के यथार्थ के संदर्भ में ‘विश्वदृष्टि’ शब्द का प्रयोग किया। ‘विश्वदृष्टि’ से उनका तात्पर्य आम राय के विकसित रूप से है जिसमें समाज तथा प्रकृति दोनों शामिल हैं। मनुष्य सामाजिक जीवन में जीते हुए दुनिया के बारे में अपनी विशेष रुचि किसी साहित्यिक पाठ की परीक्षा द्वारा यह देखने में है कि किस सीमा तक यह उस सामाजिक वर्ग अथवा समूह की विचार-संरचना (अथवा ‘विश्व-दृष्टि’) को व्यक्त करता है।⁴

‘पियरे माशरे’ मुख्य रूप से अर्थ में मौजूद द्वंद्वों पर ध्यान देते हैं। ध्यान रखने की बात है कि अर्थ में द्वंद्व और रूप में द्वंद्व दोनों अलग-अलग होते हैं। माशरे के लिए “कृति जो कहती है उससे कहीं अधिक जो नहीं कहती है उसके कारण विचारधारा से बंधी होती है।”⁵

पूँजीवादी समाज में विचारधारा की क्रियाशीलता की व्याख्या करते हुए अर्डोनी, लावेलस आदि विचारकों ने पूँजीवादी समाज की विचारधारा की आलोचना की। इसकी बुनियादी मान्यता यह है कि पूँजीवादी युग में हर चीज का बाजारीकरण हुआ है। जिसके चलते पूँजीवादी विचारधारा में मूल अभिप्राय को छुपाने की प्रवृत्ति होती है। बाजार की संस्कृति में विचारधारा का वस्तुकरण हो जाता है।

उत्तर आधुनिकतावाद तथा विचारधारा के संबंध के संदर्भ में प्रसिद्ध विचारक देबोर का मानना है कि वस्तुतः उत्तर आधुनिक समाज 'दृश्यों की दुनिया' है। इस प्रक्रिया में विचारधारा केवल विचार के तौर पर ही काम नहीं करती है बल्कि उसका भौतिक रूप भी दिखाई देता है। उत्तर आधुनिक समाज में प्रस्तुतीकरण वस्तु से ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रसिद्ध विचारक ब्रादीला मानते हैं कि विचारधारा ने 'छद्म चेतना' का रूप धारण कर लिया है। आगे चलकर उत्तर आधुनिकता के मुख्य प्रतिनिधि चिन्तक फूको विचारधारा के विभेदों को ही अस्वीकार कर देते हैं और 'डेनियल बेल' (1960) विचारधारा के अंत का घोषणा पत्र जारी करते हैं। तर्क का नकार उत्तर आधुनिकता की बुनियादी विशेषताओं में से एक है। उत्तर आधुनिकता के सबसे कठोर आलोचक हाबरमास ने कहा कि तर्क द्वारा तर्क का नकार वास्तव में पद्धतिगत गड़बड़ है। कुछ ऐसी ही पद्धति बेल की भी है। उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् विचारधारा के अर्थ के संदर्भ में कुछ बातें निर्धारित की जा सकती हैं। विचारधारा के तीन संदर्भ हैं—रचना, बोध और आलोचना। विचारधारा सिर्फ विचारों की धारा नहीं है। यह रचना की उत्पत्ति व प्रभाव तथा अंतर्वस्तु व रूप दोनों की संघटना में होती है। हर विचार विचारधारा नहीं है। विचार विचारधारा तब होता है जब जीवन जगत का सामान्यीकरण हो, एक विशेष प्रकार का बोध हो। विचारधारा अंतर्विरोधों को ढकने का भी काम करती है। विचारधारा का एक स्वभाव यह भी होता है कि वह अपने को सबसे अधिक विश्वसनीय सिद्ध करने का प्रयास करती है।

लुई आल्थुशे से:—प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक विचारक लुई आल्थुशे बीसवीं शताब्दी में बीस वर्षों तक 1970-80 के दशक में यूरोप के मार्क्सवादी चिंतन में महत्वपूर्ण रहे हैं।

उनके लेखन की बुनियादी विशेषता है कि उन्होंने मार्क्सवाद और संरचनावाद को मिलाने की कोशिश की है। संरचनावादी दृष्टि से मार्क्सवाद को पढ़ने की कोशिश भी है। इस प्रक्रिया में उन्होंने यूरोप के दूसरे विचारकों संरचनावादियों के अलावा फ्रायड से भी मदद ली है। विचारधारा और चेतना के बारे में उनके विचार 70 के दशक से 80 के दशक तक अत्यंत महत्वपूर्ण रहे हैं।

कला का विचारधारा से संबंध

कला विचारधारा से ही पैदा होती है। वह विचारधारा की ओर संकेत भी करती है। लेकिन वह विचारधारा से अपने को अलग भी करती है। विचारधारा से कला Retreat करती है। कला के जन्म के समय विचारधारा से गहरा संबंध होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. विचारधारा और साहित्य—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, अमृत राय—1984
2. आलोचना का उत्तर-समय—प्रधान संपादक नामवर सिंह, 2005
3. Idiology—David Mclellan, World View, 1998.
4. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका—हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, मैनेजर पाण्डेय।
5. कक्षा—व्याख्यान।

परंपरागत भारतीय शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का दायित्व

शिल्पा वी. सीदपरा एवं मेना. एम. त्राडा

व्याख्याता, श्री सरस्वती शिक्षण महाविद्यालय, भूतवड (धोराजी), गुजरात

सारांश

वर्तमान समाज में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ रहा है; ऐसे में आज छात्र को उचित-अनुचित का ज्ञान करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—क्योंकि आज हमारे देश में अच्छे डॉक्टर्स बहुत हैं, अच्छे इंजीनियर, प्रोफेसर, जज और उद्योगपति बहुत हैं। किन्तु अच्छे इंसानों का अभाव हो गया है। यह बताना गुरु का ही दायित्व है कि मंदिर में घी का दीया जलाना ज्यादा उपयोगी है अथवा अंधेरी गली में तेल का दीया भी जला दिया जाय तो ज्यादा उपयोगी है। चूंकि दीप से ही दीप जलाया जा सकता है अतः विद्यार्थी के जीवन से पहले अपने जीवन का निर्माण करना शिक्षक का पहला कर्तव्य है। प्राचीन काल से ही गुरु को समाज में प्रतिष्ठा, समान व आदर प्राप्त होता रहा है, परंतु समय के साथ गुरु के आदर्शों में परिवर्तन होता रहा है। उनके अनुसार शिक्षक का दायित्व जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण होना चाहिए। शिक्षक यानी एक प्रमाणित व्यक्तित्व, ज्ञान की गरिमा, और श्रद्धा के प्रति संवेदना होनी चाहिए। शिक्षक उनके श्रेष्ठ आचरण द्वारा विद्यार्थियों में आदर्श बने और उसके जीवन का निर्माण करे और अच्छे नागरिक समाज को उपलब्ध करे। शिक्षक की शिक्षा कला में नैपुण्यता होनी चाहिए। और शिक्षक विद्यार्थी का हितचिंतक, पथदर्शक एवं मित्र के साथ शिक्षक छात्रों में नहीं बल्कि श्रेष्ठ संस्कारों से मिलता है।

पूर्व भूमिका

शिक्षा मनुष्य के लिए है और मनुष्य मानवता के लिए है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना है जो मानवता के काम आये। मनुष्य इकाई है और उसे मानवता अर्थात् समाज समष्टि के लिये काम करना है प्रत्येक मनुष्य को अपनी सीमा के बाहर आकर असीम को और बढ़ाना है। मनुष्य के अंतःकरण एवं मन में असीमित संभावनाएं छिपी रहती हैं, जिनका विकास किया जाना अत्यावश्यक है। जो अंदर है उसी की अभिव्यक्ति बाहर होती है। ज्ञान अपनी संपूर्णता में सबके भीतर स्थित है, जो अज्ञान के पर्दे से आवृत है जिसे अनावृत किया जाता है। इस अनावरण का प्रयास ही शिक्षा है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सर्वप्रथम देशभक्ति तथा प्राप्य शिक्षा का नाश हुआ। आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय जागरूकता की वृद्धि तथा राष्ट्रीय एकीकरण एवं एकता के सुदृढीकरण का

उत्तरदायित्व शिक्षण संस्थाएं एवं शिक्षकगण संभालें। शिक्षा, शिक्षक तथा शिष्य अर्थात् छात्र की त्रिवेणी वास्तव में एक चित्र के तीन पहलू हैं। एक की भी चर्चा की जाय तो शेष दो गतार्थ रहते हैं। अतएव ये तीनों परस्पर अविभाज्य हैं। शिक्षा मूलतः समाज का सरोकर व दायित्व है। अतएव इसे समाज द्वारा ही संचालित कराया जाना चाहिए, क्योंकि शिक्षा न केवल व्यक्ति की आत्मिक मुक्ति के लिये है बल्कि विश्व मात्र के कल्याण के लिए है “आत्मनों मोक्षार्थं जगत् हिताय च।” आज शिक्षक को चाहिए कि वह उन्हीं गुणों का स्वयं पालन और विकास करें जिन्हें वह छात्रों को देना चाहता है। उसे अपने मन, वचन, कर्म में एकरूपता लानी होगी। इस प्रक्रिया में जब यह “आत्मदीपो भव” का व्रत लेगा, तभी उसका शक्तिकरण संस्कार सार्थक होगा।

शिक्षक होने का दायित्व

जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण

समूची सृष्टि में ही व्यक्ति एक ईश्वरीय व्यवस्था के अंतर्गत क्रियाशील है। शिक्षक भी इसी व्यवस्था में है। उसका कार्य जीवन निर्माण है न कि भवन निर्माण, शिक्षक इस तथ्य को गहराई से करे और इस आत्मबोध के सहारे अपने कर्तव्यों का निर्धारण करें। चूंकि दीप से द्विदीप जलाया जा सकता है अतः विद्यार्थी के जीवन से पहले अपने जीवन का निर्माण करना, शिक्षक का पहला कर्तव्य है।

शिक्षक के आचरण द्वारा शिक्षा

शिक्षक का कर्तव्य विषय शिक्षक तक सीमित नहीं है; परंतु वह अपने आचार द्वारा छात्रों में मानवता का निर्माण करते हैं। इसीलिए वह आचार्य कहलाता है। आचार्य शब्द शिक्षक या अध्यापक से ज्यादा व्यापक है। शिक्षक का तात्पर्य फक्त वाचन, लेखन या अलग-अलग विषयों की माहिती प्राप्त करना नहीं है उसमें शिक्षा के अलावा चारित्र्य का विकास, व्यक्तित्व का घडतर और जीवन के निर्माण का अधिक महत्व है, उसके लिए विषय प्राध्यापक की नहीं लंबी आचार्य की आवश्यकता है।

शिक्षक छात्रों का हितचिंतक, पथदर्शक और मित्र है

शिक्षक उसकी विद्या, कौशल्य, प्रेम और सहानुभूति द्वारा विद्यार्थीओं के जीवन का निर्माण करते हैं। कौन से मार्ग पर चलने से जीवन का कल्याण और विकास हो सकता, जीवन की कौन सी दिशा हानिकारक है। वह बात शिक्षक बताते हैं। उसकी शिक्षा सच्चे मित्र की तरह जैसे आपत्ति में से बचाते हैं इसी तरह शिक्षक के द्वारा दी गई विद्या छात्रों को संकट समय में उपयोगी होता है, इस कारण से ही आचार्य उसके विद्यार्थियों के शिक्षक नहीं; परंतु हितचिंतक, पथदर्शक और मित्र होता है। शिक्षक का दायित्व छात्रों के चारित्र्य निर्माण के सबसे बड़ा कार्य करने में सफलता प्राप्त की है।

शिक्षक की शिक्षा कला में नैपुण्यता

शिक्षक अपने विषय में मात्र विद्वान होने से नहीं चलता, बल्कि उसमें छात्रों को समझाने की कुशलता और नैपुण्यता हो वह अति आवश्यक है। शिक्षक जो भी विषय

प्रस्तुत करता है उसकी रीत थोड़ी अलग होनी चाहिए। जिससे समग्र वर्गखंड एकाग्र और उत्कृष्ट होकर सुनने के लिए तैयार हो। वर्गखंड में जिवंतता लाने के लिए शिक्षक अनेक प्रकार के वाक्य विधान दृश्यविद्यान, बार्ताओं, चित्रों आदि योग्य मात्रा में उसके पास होना चाहिए। छोटे-छोटे, स्पष्ट और सुसंगत प्रश्नों के माध्यम से छात्रों को नवीन ज्ञान प्राप्त करवाने के लिए छात्रों की सुषुप्त शक्ति का विकास करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

शिक्षक यानी एक प्रमाणित व्यक्तित्व, ज्ञान की गरिमा, व्यक्तित्व की महिमा और श्रद्धा के प्रति संवेदना

इस त्रिवेणी संगम में स्नान कर सके शिक्षक एक ऐसे चौराहे पर खड़ा होता है जहां छात्र अभिभावक समाज और शासन सभी मिलते हैं। उसके जीवन की ऊर्ध्वगामिनी इनके अन्नयन के लिए समर्पित हों। उसे चारों के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना है।

अच्छे नागरिक समाज को उपलब्ध कराना

केवल इन्फोरमेशन ही नहीं बल्कि नॉलेज यानी ज्ञान की गहराई में उतारना। सागर के किनारे खड़े-खड़े सहरे गिनते रहेंगे तो मोती कैसे मिलेंगे? मोतियों के लिए सागर में घुसना ही पड़ेगा। चूंकि शिक्षा जीवन के लिए है इसलिए शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों में जीवन की समज पैदा करना जीवन का अर्थ केवल शरीर नहीं है बल्कि शरीर में प्रतिष्ठित जीव चेतना प्राण मन बुद्धियितर अंतःकरण का सम्यक ज्ञान कराना और उनका दृष्टा बनाना। पवित्रताओं के सहारे आनन्दा भूति तक ले जाना शिक्षक होने का तात्पर्य है दूसरा काम करना छात्रों की मनोभूमि में संप्रांत बध्णय, जटिल और जड़ मनोविकारों का उत्खनन कर मनोभूति को इस योग्य बनाना कि उसमें सुसंस्कारों का बीजारोपण करना सरल हो।

जीवन की समाज के पश्चात् जीवन मूल्यों के प्रति ललक पैदा करना

शिक्षक छात्रों में यह संचारित करे कि सुख, संपत्ति से नहीं बल्कि श्रेष्ठ संस्कारों से मिलता है। वृत्तियों के परिमार्जन में सुख है ऊर्ध्वगामिता में सुख है। अधोमुखी वृत्तियों में दुख-ही-दुख भरा पड़ा है।

जीवन मूल्यों के संधारण से ही वृत्तियां ऊर्ध्वमुखी होती हैं। शिक्षक होने की तात्पर्य जीवन मूल्यों की चर्चा करना भी ही नहीं है बल्कि पाठ्यक्रम के साथ-साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से छात्रों को कुछ करने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना है। शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों को क्रियाशील बनाकर उनके अनुभवों में प्रगाढता लाना विद्यालयों में कुछ क्रियाकलाप तो परंपरा से ही प्रचलित हैं। उनकी केवल लकीर पीटी जाती है। शिक्षक कुछ नवीनता का नवोन्मेष कर सके तो शिक्षक होने का तात्पर्य पूरा है। इसी से उदाना जीवन की संरचना संभव हो सकेगी।

क्रियाकलाप

मूल्यविकास के लिए

उत्प्रेरण महामानकों, तपस्वियों, ऋषियों के संस्करणों का संकलन-छात्रों द्वारा चुने हुए बिन्दुओं पर मूल्यपरक घटनाओं का नाटकीकरण, अवांछनीय क्रिया-कलापों की भर्त्सना, श्रेष्ठताओं की परीक्षा, विषम से विषम परिस्थितियों मूल्यों पर आरुढ़ रहना। इस प्रकार नाटकों और नुकड़ नाटकों में हो।

विचार मंत्र

केवल मूल्य आधारित पत्रिकाओं फोल्डरों का प्रकाशन, इस्तलिखित, कविताओं का प्रदर्शन, संचयन, सामूहिकता के क्रियाकलाप मूल्य परक तथ्यों का चयन और अन्य प्रयोग, मूल्यपरक जीवन ही क्यों? एक वाद-विवाद या भाषण प्रतियोगिता। जीवन मूल्यों पर साहित्य का सृजन, जीवन मूल्यों पर चित्र कथाएं, जीवन मूल्यों से संबंधित शिक्षाओं का संकलन, शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों में जीवन मूल्यों के आत्म सातीकरण के चेष्टा। शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों के जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास छात्र की अन्तर्निहित शक्तियों को विकसित करना।

सृजनशीलता

छात्रों में तर्क, तुलना, समीक्षा, व्याख्या, विश्लेषण, संश्लेषण चयन, संकलन विवेचन, नियोजन संयोजन निष्कर्ष, संक्षेपण पल्लवन, विधी परिवर्तन। यदि ऐसा होता तो समस्याओं की पूतियां मूल लेखन, दूर दृष्टि, काव्य सृजन आदि अनेक अवसर देकर सृजन कौशल का विकास होगा।

स्वावलम्बी बनाना

सांहीण विकास में आर्थिक विकास के अवसर उपलब्ध कराना भी आवश्यक है। विद्यालय में एक सूचना केन्द्र खोलकर रोजगार संबंधी अनेक प्रकार की सूचनाएं दी जा सकती है।

सभ्य, श्रेष्ठ और संस्कारित नागरिक बनाना, छात्रों को दृढ़प्रतिज्ञा और जुझारू बनाना, संतुलित और संयमित व्यक्तित्व का विकास करना, आत्मप्रतिष्ठा और राष्ट्रगौरव के प्रति जागरूक बनाना।

संदर्भ

1. मूल्य मीमांसा—श्री गोविन्द चंद पाण्डेय
2. निराला के काव्य में सांस्कृत चेतना—श्री जगदीश चन्द्र
3. भारतीय संस्कृति के आधार—श्री अरविन्द
4. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—श्री राम शर्मा आचार्य
5. भानव जीवन की गरिमा—डॉ. प्रणव पण्डवा
6. भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व—लज्जराम तोमर।

होशंगाबाद ब्लॉक के शहरी एवं ग्रामीण विद्यालयों में अध्ययनरत् बालकों एवं बालिकाओं के नैराश्य का अध्ययन

मेना त्राडा

एम.एड. छात्रा

प्रस्तावना

मनुष्य अपने अस्तित्व को बनाये रखने तथा जीवन को सफल बनाने के लिए वह अपने चारों ओर का भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण एवं परिस्थितियों के साथ समायोजन करता है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि वह समायोजन की प्रक्रिया में सफलता प्राप्त करे ही।

कभी-कभी ऐसा होता है कि वह वातावरण के साथ समायोजन नहीं कर पाता तब उसके मस्तिष्क में सहर्ष उत्पन्न होता है वह प्रयत्न करने के बावजूद भी समायोजन नहीं कर पाता तब वह निराश हो जाता है और इस अवस्था में वह कुण्ठित हो जाता है।

अर्थ

रोजेनविंग (1941) के अनुसार “जब जीव की जीवन संबंधी आवश्यकताओं की संतुष्टि में कुछ या अधिकतर बाधाएं उत्पन्न होती हैं तब उसमें कुण्ठा उत्पन्न होती है।”

शोध का महत्व

मानव में उत्पन्न होने वाली कुण्ठा को जानना अति आवश्यक है, क्योंकि जब तक हम उनकी कुण्ठा का कारण नहीं जानते तब तक हम उनको दूर नहीं कर सकते। नैराश्य मानव के जीवन के विकास में बाधाएं उत्पन्न करती है। जब मनुष्य का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता है अथवा उनको पूर्ण करने में जो बाधाएं आती हैं उनके कारणों से भी कुण्ठा उत्पन्न होती है। जैसे—

“यदि कोई नौजवान डॉक्टर बनना चाहता है लेकिन मानसिक सीमाओं के कारण डॉक्टर नहीं बन पाता है।”

“कई विद्यार्थियों के प्रति शिक्षकों का व्यवहार नेगेटिव (नकारात्मक) होता है तब वह बालक निराश हो जाता है।”

अतः अपनी आकांक्षा पूर्ण न होने पर, सम्मान न मिलने पर, अपनी बात का अस्वीकार होने के कारण, दूसरों से सहयोग न मिलने के कारण नैराश्य उत्पन्न होता है।

बालक ज्यादा कुण्ठित रहता है तो उनकी नैराश्य कारण जान के उनको दूर करना अधिक आवश्यक है क्योंकि यदि बालक की निराशा ज्यादा है तो वह ठीक तरह से पढ़ाई नहीं कर पायेगा। तो उसका असर उसके परिणाम पर भी देखने को मिलता है। अतः बालकों की कुण्ठा दूर करने का विद्यालय में प्रयास करना चाहिए।

बालक हमारे देश के भावी नागरिक हैं अतः हमें उनका सामाजिक विकास को आगे बढ़ाना है कुण्ठित बालक का सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है और समायोजन भी नहीं कर पाता है। वह समाज से दूर रहने का प्रयास करेगा वह समाज से दूर रहकर अपने ध्येय तक नहीं पहुँचेगा और असामाजिक प्रवृत्ति की ओर प्रायः बालकों की कुण्ठा जानना और उनको दूर करना समाज एवं विद्यालय के लिए आवश्यक बन जाता है।

उद्देश्य

1. शहरी बालकों एवं बालिकाओं के नैराश्य का मापन करना।
2. ग्रामीण बालकों एवं बालिकाओं के नैराश्य का मापन करना।

परिकल्पनाएं

1. शहरी बालकों तथा बालिकाओं के नैराश्य में कोई सार्थक अंतर नहीं है।
2. ग्रामीण बालकों तथा बालिकाओं के नैराश्य में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

परिसीमांकन

1. होशंगाबाद शहर और उसके समीप ग्रामीण क्षेत्रों को ही इस अध्ययन हेतु सम्मिलित किया गया है।
2. होशंगाबाद ब्लॉक के शासकीय और अशासकीय विद्यालयों को इस शोध हेतु चयनित किया गया है।
3. प्रस्तुत शोध में कक्षा 8 से 11 कक्षा के बालक बालिकाओं को सम्मिलित किया गया है।

सर्वेक्षण विधि

वर्तमान समय में किसी तथ्य को ज्ञात करने के लिए सभी विज्ञानों तथा वर्गों के लोग सर्वेक्षण की सहायता लेते हैं, जैसे—चुनावपूर्ण सर्वेक्षण, सामाजिक सर्वेक्षण तथा अपराधिक सर्वेक्षण इत्यादि ये सर्वेक्षण वर्तमान समस्या के प्रारूप के समाधान के लिए विस्तृत समंक प्रदान करते हैं जिनके आधार पर ही समस्या के समाधान का मार्ग विचारा जाता है। शोधार्थी ने अध्ययन हेतु सर्वेक्षण विधि के उपयोग किया है।

न्यादर्श

इस शोध में 100 बालक बालिकाओं का चयन इस प्रकार किया गया।

शहरी		ग्रामीण	
बालक	बालिका	बालक	बालिका
25	25	25	25

परिकल्पनाओं का पुष्टिकरण

	Mean	SD	CR
शहरी बालक	24.8	7.33	.574
शहरी बालिका	29	7.48	
	Mean	SD	CR
ग्रामीण बालक	2.7	5.65	.649
ग्रामीण बालिका	5.65	26.2	

निष्कर्ष

1. शहरी बालक एवं बालिकाओं में नैराश्य स्तर में कोई सार्थक अंतर नहीं है।
2. ग्रामीण बालक एवं बालिकाओं में नैराश्य स्तर में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

शोध हेतु सुझाव

1. परामर्श बालक बालिकाओं को दिया जाना चाहिए।
2. नैराश्य दूर करने हेतु बालकों को निरंतर विद्यालय में संपर्क आवश्यक है।
3. नैराश्य मापन के कारण जानने हेतु विद्यालय में विद्यार्थियों का साक्षात्कार आवश्यक है।
4. नैराश्य दूर करने हेतु बालकों के लिए संगोष्ठियों का आयोजन करना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. चौबे सरयू प्रसाद—भारतीय शिक्षाका इतिहास
2. कपित एस.के.—अनुसंधान विधियां
3. सुरेश भटनागर—शिक्षा मनोविज्ञान
4. माथुर एस.एस.—शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार।

संस्कृतशिक्षकशिक्षायाः महत्त्वमावश्यकता च

डॉ० प्रसून दत्त सिंह

विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एस.बी. महाविद्यालय, चांडिल,
रांची विश्वविद्यालय, रांची

सम्प्रति शिक्षाक्षेत्रे विभिन्नशिक्षणविधयः उपयुज्यन्ते। एतेषां प्रयोगेण 'सम्यक् कृतं= संस्कृतमि'ति व्युत्पत्त्याऽऽश्रितस्य सार्थकाभिधेयस्य संस्कृतस्य शिक्षणमपि रोचकं प्रभावपूर्णं च भवितुमर्हति। यद्यप्यदानीं संस्कृतक्षेत्रेऽपि नवीनशिक्षणप्रविधिनामुपयोगेन अध्यापनकार्यं सरलं रोचकं प्रभावपूर्णं च भवितुमर्हति, तथाऽपि प्रायशः अध्यापकाः परम्परागतविधिनामुपयोगं कुर्वन्तः दृश्यन्ते।

अस्य कारणं तु प्रायः अध्यापकानां प्रशिक्षणाभाव एव। विशिष्टप्रविधिनामुपयोगेन अध्यापकाः दुरुहविषयमपि सरलतया छात्रान् अध्यापयितुं पारयन्ति। अतः विभिन्नशिक्षणप्रविधिनां ज्ञानमध्यापकानां कृते आवश्यकं भवति।

अधुना संस्कृतशिक्षणं द्विप्रकारकसंस्थयोर्माध्यमेन प्रवर्तते -

- (i) परम्परागतशिक्षणसंस्था
- (ii) आधुनिकशिक्षणसंस्था च।

परम्परागतसंस्कृतशिक्षण-संस्थाऽपि अद्य नाम्नैव परम्परागतसंस्था विद्यते। वस्तुतः तत्रापि नवीनविषयाणां बाहुल्यं भवति। अतः विभिन्नविषयकाध्यापकानां मध्ये सामञ्जस्य स्थापनमप्येका समस्या। प्रायशः संस्कृतशिक्षकाः अनेन कारणेन शिक्षणसंस्थासूपेक्षिता भवन्ति। यद्यपि तेषां स्वविषये अधिक योग्यता भवति तथाऽपि सामञ्जस्याभावेन ते औदासीन्यमनुभवन्ति। सम्प्रति शिक्षाप्रक्रियायास्त्रीणि अङ्गानि भवन्ति - अध्यापकः, छात्राः, पाठ्यक्रमश्च। एषु शिक्षकस्य स्थानं सर्वोपरि भवति। यतो हि शिक्षक एव छात्रान् पाठ्यक्रमं च प्रभावयति। 'रॉस्' महोदयानुसारं 'शिक्षकः स्वप्रयासेन छात्रान् स्वप्रकृत्यनुसारेण विकासयन्तः उच्चलक्ष्यं प्रति प्रापणे साहाय्यं करोति, यं सः स्वयमेव प्राप्तुं न शक्नोति' (स.म.अ.पृ.10)।

शिक्षणमेका कला यस्याः साफल्यं शिक्षकस्य योग्यतामुपजीवति । संस्कृतमेका संश्लेषणात्मिका भाषा वर्तते, यत्र सन्धिसमासप्रत्ययादीनां बाहुल्येन अल्पीयसा शब्देन विस्तृतविषयस्य प्रतिपादनं भवति । अस्मात् कारणात् अस्यां भाषायां यत्र तत्र क्लिष्टत्वदोषोऽपि प्राप्यते । अतः संस्कृतशिक्षणस्य सरलत्वं रोचकत्वं प्रभावपूर्णत्वसम्पादनाय संस्कृताध्यापकः शिक्षणकलायां दक्षः स्यात् । एतदर्थं संस्कृतशिक्षकप्रशिक्षणस्यावश्यकता वरीवर्ति ।

संस्कृताध्यापकानां कृते शिक्षामनोविज्ञानस्य ज्ञानमावश्यकम् । एकस्यामेव कक्ष्यायां विभिन्नप्रकारकाः छात्राः पठन्ति । यथा - अतिप्रतिभाशालिनः, मन्दबुद्धयः सामान्यबुद्धयश्च । अतः अध्यापकः कया रीत्या अध्यापयेत् येन मन्दबुद्धयोऽपि पाठावबोधने समस्यां नानुभवेयुः तथा च प्रतिभाशालिनोऽपि पाठम्प्रति औदासिन्यं नानुभवेयुः इति विचारणीयांशः । प्रायशः संस्कृताध्यापकाः अध्यापनकार्ये असकृदेकस्यैव विषयस्य सम्पादनं कुर्वन्तः पाठ्यविषयस्य सरसत्वं समापयन्ति । मानवजीवने बाल्यावस्थायाः महत्त्वं सर्वाधिकमस्ति । अस्यामवस्थायां जायमानाः त्रुटयः सम्पूर्णजीवनं प्रभावयन्ति ।

मनोविश्लेषणसिद्धान्तानुसारेणेदं सिद्धं यत् बालकानां सम्पूर्णमानसिक-विकासः शैक्षिकविकासश्च कथं सरलतया कर्तुं शक्यते । बहवः छात्राः अध्यापकानां कठोरव्यवहारेण अध्यापनं त्यजन्ति । सम्प्रति मनोविज्ञानस्य विभिन्नशाखाः सम्यक्तया विकासितास्सन्ति । अतः शिक्षामनोविज्ञानमाध्यमेन छात्राणां समस्याः ज्ञात्वा तासां निदानं कर्तुं शक्यते । अतः यः अध्यापकः शिक्षामनोविज्ञानस्य अत्याधुनिकविकासेन पूर्णपरिचितः नास्ति, सः शिक्षणकार्यस्य कृते असमर्थः ।

‘गौरीशङ्कर’ महोदयस्याभिप्रायोऽस्ति यत् येषां वंशानुक्रमे अध्यापनकार्यं प्रचलति, तेषामध्यापनार्थं प्रशिक्षणस्यावश्यकता नास्ति । यतो हि अध्यापनकार्ये तेषां नैसर्गिकी प्रवृत्तिर्विद्यते । अतः अस्मिन् कार्ये ते स्वयमेव दक्षतां प्राप्नुवन्ति । तथाऽपि यदि ते विद्यालयप्रबन्धेन, अनुशासनेन, मनोविज्ञानेन शिक्षासिद्धान्तेन सह परिचिताः स्युः तर्हि स्वयोग्यतायाः प्रकटीकरणं सम्यक्तया कर्तुं शक्नुयुः ।

संस्कृताध्यापकानां कृते संस्कृतस्य संस्कृतेश्च ज्ञानं भवति । प्रायः संस्कृतशिक्षकेषु स्वाध्यायं प्रति नवीनसमये उपेक्षाभावः दृश्यते । परन्तु नेदं समीचीनम् । यतो हि पाठ्यविषयस्य पूर्णज्ञानं परमावश्यकं, परन्तु सोत्साहोद्यमः, शास्त्रम्प्रति अभिरुचिरपि अपेक्षिता । अतः अध्यापकैः अध्यापनकौशलस्य विकासेन सह स्वज्ञानं विस्तारयेयुः ।

संस्कृताध्यापकस्य कृते आंग्लभाषायाः ज्ञानमपेक्ष्यते । प्रायः इदमेव स्वाध्यायम्प्रति तेषामुपेक्षायाः कारणम् । आधुनिकज्ञानविज्ञानमस्यामेव भाषायां निबद्धोऽस्ति । अतः वर्तमानपरिस्थितेः ज्ञानाय आंग्लभाषायाः ज्ञानमपेक्ष्यते । सम्प्रति संस्कृत-आंग्लयोर्मेलनं सनातनाधुनिकमेलनमस्ति । कविकुलकुण्डलेन कालिदासेनापि कथितम् - 'पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चाऽपि काव्यं नवमित्यवद्यम्' (मालवि. 1.2) । परिस्थित्यानुसारं स्वस्यानुकूलनमध्यापनवृत्तीनामङ्गं भवति । संस्कृताध्यापकप्रशिक्षणकार्यक्रमे सिद्धान्तः, तस्य क्रियात्मकाभ्यासः शिक्षणविधिः इत्येतेषु मनोवैज्ञानिकानुभवस्य प्रयोगः कथं कर्तुं शक्यते इत्यस्य शिक्षणमावश्यकम् । साम्प्रतिकसंस्कृताध्यापकप्रशिक्षणकार्यक्रम-विषयेऽस्मिन् ईषत् संसूचनमात्रं प्राप्यते । कयारीत्या पाठयेत् इत्यत्र सम्पूर्णं ध्यानं केन्द्रितं भवति । परन्तु प्रशिक्षणप्राप्त्यनन्तरमध्यापकाः तेषां विधीनामुपयोगं स्वाध्यापने प्रायः न कुर्वन्ति । एतत् तु आवश्यकम्, यतो हि विधेः निर्माणं छात्राणामावश्यकतानुकूलं भवति । अतः कया रीत्या छात्रावबोधनं सम्पादनीयम् ? कः विधिः अस्य कृते उपयुक्तः ? अस्य निर्धारणमध्यापकाः स्वयमेव कुर्युः ।

सम्प्रति शिक्षणमेकं विज्ञानं वरीवर्तते । अस्य सर्वासां क्रियाणां निरीक्षणं तस्याः विश्लेषणञ्च कर्तुं शक्यते । अस्य अध्ययनं वस्तुनिष्ठरूपेण भवितुमर्हति । वस्तुनिष्ठमाध्यमेन अस्याः क्रियायाः अध्ययनं तस्य प्रयोगमपि कर्तुं शक्यते । अतः प्रशिक्षणमाध्यमेन कुशलाध्यापकानां निर्माणं कर्तुं शक्यते । वस्तुतः संस्कृतक्षेत्रे अध्यापकप्रशिक्षणस्य महत्वावश्यकता वर्तते । यतो हि ये केऽप्यन्यत्र आजीविकां (उद्योगं) प्राप्तुं न प्रभवन्ति ते अध्यापनक्षेत्रं प्रति समायान्ति । तेषामभिरुचिः वस्तुतः अध्यापनकार्ये न भवति । अतः प्रशिक्षणमाध्यमेन एतादृशेषु अध्यापकेषु प्रशिक्षणम्प्रति अभिरुचेरुत्पादनं कर्तुं शक्यते ।

इदानीन्तनशिक्षाव्यवस्थायां वैज्ञानिकोपकरणानां प्रयोगः करणीयः इति आधुनिकशिक्षकप्रशिक्षकाणामभिप्रायः । यथा छात्राः स्वयमेव चिन्तनं कुर्युः तदर्थं प्रेरणीयाः । परन्तु एतत्सर्वं विभिन्नविषयाणां पाठने समुचितं स्यात् । भाषाऽध्यापनसन्दर्भे अध्यापक एव मुख्यो भवति । यद्यपि कस्यापि विषयस्य अध्यापनार्थं भाषा प्रमुखं स्थानं निर्वहति तत्राऽपि भाषाध्यापनार्थं तु अध्यापकस्य भाषाविषयकं पूर्णज्ञानमपेक्ष्यते । न मातृभाषायां तेषां विद्वत्ता एव पर्याप्त भवत्यपि च सम्प्रेषणशैली समीचीना, भावाभिव्यक्तिः प्रभावपूर्णा च स्यात् । अध्यापकस्य

अनुकरणमेव छात्राः कुर्वन्ति। अतः अध्यापकस्य भाषा यदि प्रवाहपूर्णा भविष्यति तर्हि छात्राः अपि एतदर्थं प्रयत्नं करिष्यन्ति। इदानीं संस्कृतेन सामूहिकरूपेण सम्भाषणं व्यवहारं वा स्वल्पाः जनाः कुर्वन्ति।

अतः एतादृशभाषायाः अध्यापनं व्यवहारश्च इतरभाषाऽपेक्षया क्लिष्टं कार्यं वर्तते। सम्प्रति बहुषु संस्कृतसंस्थासु अध्ययनार्थं छात्रवृत्तिरपि दीयते, तथाऽपि छात्राभावः दृश्यते। अस्य कारणं तु प्रशिक्षिताध्यापकानामभावः, उद्योगावसरे प्रियाप्रीतितोषणन्यायाश्रयः, संस्कृतम्प्रति सामान्यजनस्य मिथ्याधारणा, शिक्षकाणां कुण्ठाग्रस्तता, संस्कृतज्ञानां स्वतन्त्रतेः संस्कृतपठनेरुचिहीनता, सामान्यवृत्तिषु प्रवेशबाधा सर्वकारीयनियमानां विषमत्वं च इत्यादयः वर्तन्ते।

अतः संस्कृताध्यापकरूपेण वृत्तिं स्वीकर्तुं कथं युवकाः प्रेरणीयाः? प्रशिक्षणे के के नूतनांशाः समायोजयितुं शक्यन्ते? संस्कृतशिक्षणे प्रभावोत्पादकतामानेतुं के उपायाः स्वीकर्तव्या इति ज्ञानार्थमध्यापकानां प्रशिक्षणमावश्यकं वर्तते। संस्कृतभाषायां प्रभावोत्पादकताऽऽनयनार्थं वैज्ञानिकोपकरणानां प्रयोगोऽपि कर्तुं शक्यते। परमेतदर्थमध्यापकानां प्रशिक्षणमपि प्राचीनमूल्येष्वधारितं परं नूतनदृष्ट्या परिष्कृतं स्यात्। अप्रशिक्षिताः अध्यापकाः कदापि अत्याधुनिक-शिक्षणविधीनां प्रयोगं कर्तुं न शक्नुवन्ति।

सम्प्रति बहवः संस्कृताध्यापकाः अप्रशिक्षितास्सन्ति। किञ्च शिक्षकप्रशिक्षणं विनाऽपि ओडिशाप्रभृतिषु केषुचित् प्रदेशेषु माध्यमिकसंस्कृताध्यापकोद्योगार्थं Classical Teacher रूपेण केवलं स्नातकयोग्यता पर्याप्तम्। समग्रभारते महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च प्राध्यापकोद्योगार्थमपि प्रतिविषयं शिक्षकप्रशिक्षणं विनैव उद्योगावसरो वरीवर्ति। अतः संस्कृतविद्यालयेषु महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेष्वपि संस्कृताध्यापनं परम्परागतरीत्या एव प्रचलन्नस्ति। प्रशिक्षिताध्यापकानामभावात् संस्कृतभाषायाः अध्यापनमरुचिकरं वर्तते। अतः संस्कृताध्यापकानां कृते प्रशिक्षणस्य महत्यावश्यकता वरीवर्ति।

‘डॉ.वी. राघवन्’ महोदयस्यानुसारं संस्कृतशिक्षकाणां कृते आधुनिकशिक्षण-विधीनां ज्ञानमत्यावश्यकम्। यतो हि तेष्वस्य पूर्णरूपेणाभावः दरीदृश्यते। ते तेनैव विधिना अध्यापनं कुर्वन्ति येन विधिना तेषामध्यापकाः तान् पाठयन्ति स्म। संस्कृतशिक्षकाः रूढिवादिनो भवन्ति इति प्रथितमस्ति समाजे। ते स्वस्याध्यापने गुणवत्तामानेतुं शिक्षणविधौ किमपि परिवर्तनं न वाञ्छन्ति। यथा -

Knowledge of modern developments in the art of teaching is one of the things that is badly working in the pandits who do Sanskrit work in schools. They do their work in the old way in which they have been thought by their teachers. They are too conservatives to welcome any change or suggestions for improvement.

अस्य महाभागस्य मतानुसारमुत्तमोऽध्यापकः स भवति यः प्रशिक्षितोऽस्ति न तु पर्याप्तज्ञानवान् (T.Skt.) ।

The best teacher in this respect is not he who knows a great deal but it is he who is specially trained.

‘प्रो. रेमण्ड’ महोदयस्य मतानुसारं प्राथमिकस्तरे विषयगतयोग्यताऽपेक्षया विषयस्य समुपस्थापनविधेः प्रामुख्यं निश्चीयते, परन्तूच्चस्तरे विषयोपस्थापनविधेरपेक्षया विषये पूर्णप्रौढत्वमपेक्ष्यते । यथा-

"Methods bulks more largely than matter in the earliar stages of instruction. While matter bulks more largely than method in the later stages."

अनया रीत्या संस्कृतशिक्षकशिक्षायाः महत्त्वादिविषयाणां पर्यालोचनेन ज्ञायते यत् समाजे अध्यापकः तदानीं प्रतिष्ठां लभते यदा सः छात्रेषु विषयज्ञानं संक्रमक्षमो भवति । छात्रेषु ज्ञानसक्रमणयोग्यता प्रशिक्षितस्याध्यापकस्य वरीवर्ति।

वैदिक वाङ्मय द्वारा पर्यावरण प्रदूषण समस्या का समाधान

डॉ. जयप्रकाश साहु

व्याख्याता, सरस्वती कॉलेज ऑफ एजुकेशन, हिसार (हरियाणा)

वैदिक वाङ्मय में प्रकृति तथा प्राणिमात्र का शाश्वत संबंध प्रतिपादित किया गया है। शास्त्रों में जहां पर प्रकृति-सृष्टि जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है वर्तमान समय में उन शब्दों को पर्यावरण के नाम से जाना जाता है। पर्यावरण का अर्थ है—यदस्मान् परितः आवृणोति येन वयं परितः आवृतास्तत् पर्यावरणम्। हमें चारों तरफ से कौन आवृत किये हुए है इस विषय पर चिंतन करने से स्पष्ट होता है कि पंचमाभूत नाम से प्रसिद्ध पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश, वनस्पति तथा जलचर, खेचर, सरीसृप एवं समस्त निसर्गजात पदार्थों की समष्टि ही पर्यावरण है। इनमें पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश पंच महाभूत नाम से प्रसिद्ध है। भूत का अर्थ है—जीवन सत्ताधारी जीव।

आज विश्व में अन्य समस्याओं में ज्यादा पर्यावरण प्रदूषण की समस्या अपना विशाल क्षेत्र बनाती जा रही है। विकास की अवधारणाओं में पर्यावरण खो गया है। विकास ने संपूर्ण विश्व के पारिस्थितिक तंत्र तथा प्राकृतिक संतुलन को नष्ट कर दिया है। सारा विश्व पर्यावरण संरक्षण तथा सुरक्षा की समस्या से चिंतित है। विकास तथा प्रगति सामयिक आवश्यकता है। औद्योगिक विकास ने पर्यावरण के सामने नित नवीन प्रकार के संकट उत्पन्न कर दिये हैं। विज्ञान के नवीनतम अविष्कार पर्यावरण के लिए चुनौती बनते जा रहे हैं। जिसका कोई समाधान तत्कालिक रूप से विज्ञान के पास दिखाई नहीं देता है। केवल स्वार्थ की भावना में लिप्त आज का मानव नंगे होते पहाड़ों के बारे में, सूखती नदियों के बारे में, कुओं में घटते जल स्तर के बारे में, वनों के सिमटते आकार के बारे में, धरती पर बढ़ते तापमान, लगातार बढ़ती प्राकृतिक आपदाओं के विषय में चिंतित न होने पर आज पर्यावरण समस्या भयावह बनती जा रही है।

पर्यावरण की इस अभिव्यक्ति के साथ सीधा प्रश्न खड़ा हो जायेगा कि क्या विकास की गति को रोक दिया जाये। नये-नये अविष्कार नहीं किये जायें। चिकित्सा विज्ञान परमाणु विज्ञान, रसायन विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान में नवीन खोजें बंद कर दी जाय। क्या बिजली का उत्पादन करना, बांध बनाना बंद कर दें? नहीं! विकास की गति बढ़े लेकिन पर्यावरण को भी क्षति नहीं पहुंचे! इसके लिए हमारे वैज्ञानिक पद्धति से निष्णात वैदिक ग्रंथों का अवलोकन करना होगा। इस देश में विज्ञान पढ़ने वाला संस्कृत नहीं पढ़ता तथा संस्कृत पढ़ने वाला व्यक्ति विज्ञान को नहीं पढ़ पाता है। इन दोनों विषयों को यदि जोड़ दिया जाय तो समस्या का समाधान खोजा जा सकता है आज इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता है।

हमारे देश में पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए प्राचीन काल से ही ऋषि-महर्षियों ने यज्ञ को हमारे समक्ष रखा। याज्ञवल्क्य स्मृति कहती है कि संसार का श्रेष्ठतम कर्म

यज्ञ है “यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म” पश्चिम जर्मनी के स्वतंत्र पत्रकार “बर्न्ड रविन्द्र सेन्जमेर के 25 वर्षों के अग्निहोत्र यज्ञ के अनुभव से सिद्ध किया कि यज्ञकुण्ड में कण्डों की अग्नि, घी तथा चावल आहुती से चुम्बकीय ऊर्जा उत्पन्न होती है जो पर्यावरण को सुरक्षा देती है तथा मानव की आयु एवं मानसिक शक्ति का विस्तार करती है। अमेरिका के अंदर 1978 से अग्निहोत्र फार्म बना हुआ है जहां नित्य यज्ञ चलता है। यजुर्वेद में यज्ञ को अमृत कहा है अर्थात् यह हमारे आयु प्राण आदि का दाता है—आयुर्ज्ञेन कल्पन्तां, प्राणो यज्ञेन कल्पन्तां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पन्तां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पन्तां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पन्तां यज्ञो यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजुः 9.12 ॥

“स्तर्गकामो यजेत्” कहकर यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का साधन किया है। इसका अभिप्राय है स्वर्गीय अर्थात् अत्यधिक रमणीय सुख। इस रमणीय सुख तथा दुःख की अनुभूति इसी जीवन में करता है। वेदों में जल एवं वायुकी शुद्धि के लिए अनेक मंत्र आते हैं। जल तथा वातावरण की शुद्धि वर्षा द्वारा संभव है। ऋग्वेद के अस्यवागीय सूक्त तीन मंत्र वृष्टि के प्रतिपादक हैं जो वर्षा को भूमि पर कैसे लाया जाय इस स्थिति को स्पष्ट करते हैं यथा—

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।

ते धितिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥

ऋग्वेद के पर्जन्य-सूक्त में वृष्टिकारक मंत्रों की प्राप्ति होती है—

प्रवाता पान्ति पतयन्ति विद्युत् उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।

इस विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावती ॥

अर्थात् “वृष्टि प्रेरक वायु जिसे मानसून कहते हैं, इस विश्व में संचरित है इसी से विद्युत उत्पन्न होकर अंतरिक्ष में ज्योति प्रज्वलित होती है और पुनः संघर्षण से वृष्टि होती है इस वृष्टि से औषधि उत्पन्न होती है। वेद में जल की परिशुद्धि के लिए तथा भूमि में अशुद्ध पदार्थों एवं अंतरिक्ष में प्रदूषित वायु को शुद्ध करने हेतु यजमान अर्थात् मानव मरुत् से प्रार्थना करता है कि—

दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः ।

अर्वाङ्स्तेन स्तनयितु नैह्यपो विषिचत्रसुरः पिता नः ॥

अर्थात् हे मरुतो तुम हमें अंतरिक्ष से वृष्टि प्रदानकर वर्षाकारी मेघों की धारा को हमारी ओर प्रवाहित करो। इस स्तनयितु मेघ द्वारा यह प्रदूषित, वायु तथा अशुद्ध भूमि पुनः शुद्धता को प्राप्त करेंगे।

अथर्ववेद में कहा गया है कि घर के पास शुद्ध जल से भरा जलाशय होना चाहिये यथा—

इमा आपःप्र भराभ्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।

गृहानुप प्रसीदाम्य मृतेन सहाग्निना ॥

अर्थात् अच्छे प्रकार का रोग रहित जल मैं लाता हूँ। शुद्ध जलपान करने मैं मृत्यु से बचा रहूँगा। एक ऋचा में कहा गया है कि जल द्वारा ही देखने सुनने एवं बोलने की शक्ति प्राप्त होती है यथा—आदित्यश्याम्युत वा भृणोम्याः, हिरण्य वर्णा अतुपयदातः।

इसी प्रकार वायु के प्रदूषण की समस्या भी आज विषम समस्या के रूप में है, जिनका समाधान अप्राकृतिक साधनों के माध्यम से होना संभव नहीं है। शुद्ध वायु हमें जीवन देती है। वायु कब प्रदूषित होती है इसके बारे में वेद में कहा गया है कि—“आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं ही विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥” अर्थात् जिस वायु में किसी प्रकार की बिमारी के अंश नहीं होते तथा जो औषधस्वरूप होती है वह शुद्ध है और इसके विपरीत सारी वायु अशुद्ध है

शुद्ध वायु का संचार यज्ञ से ही संभव है। शुद्ध वायु से हमारे शरीर के समस्त अंग सुदृढ़ होते हैं प्राणशक्ति का पोषण होता है। यज्ञीय वायु के द्वारा गठिया रोग, हृदयरोग, तपेदिक, निमोनिया इत्यादि रोगों का नाश हो जाता है। ये सारे रोग प्रदूषित वायु से उत्पन्न होते हैं यथा—“वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हरे ॥”

ध्वनि प्रदूषण का निदान-आत्मशुद्धि के लिए हमारे जीवन में भजनकीर्तन, धर्मग्रंथों के पाठ प्रार्थना स्तुति मंत्रोच्चार इत्यादि स्वमुख से करना श्रेष्ठ माना गया है। लेकिन आज के युग में ही टी.वी. ध्वनि प्रसारक सयंत्र सारे दिन जोर-जोर से शोर मचाकर ध्वनि प्रदूषण फैलाते हैं जिससे सिरदर्द, तनाव, अनिद्रा जैसी बिमारियां उत्पन्न होती है। वेद कहता है कि मानसिक तनाव से बचने के लिए हमें धीरे एवं मधुर बोलना चाहिए यथा—भा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यंच सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

अर्थात् भाई-भाई से बहन-बहन से अथवा परिवार सभी सदस्य द्वेष, ईर्ष्या इत्यादि छोड़कर तथा सभी सदस्य एकमत, एकव्रती होकर शांतिपूर्वक भद्र पुरुषों के समान मधुरता से बोलें।

खाद्य-प्रदूषण से बचाव

वेदों ने खाद्य के संबंध में वैज्ञानिक आधार पर निष्कर्ष प्रतिपादित किया है। वेद कहता है कि मनुष्य की पाचन शक्ति ही उसके शारीरिक एवं आत्मिक बल को बढ़ाकर उसके जीवन को सुखदायक बनाती है यथा—

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।

प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥

अर्थात् मैं जो कुछ पीता हूँ यथाविधि पीता हूँ, जैसे यथाविधि पीने वाला समुद्र पचा लेता है। पेय पदार्थ अच्छी तरह पीयें तथा जो कुछ खावें अच्छी तरह चबाकर खाएं। इस प्रकार वेद भोजन की प्रक्रिया पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन कर अपाचन से उत्पन्न व्याधि के निवारण के उपाय प्रतिपादित कर हमें खाद्य-प्रदूषण से बचाता है।

इस प्रकार चिंतन करने पर स्पष्ट होता है कि जीवन को सुखमय बनाने के लिए शुद्ध पर्यावरण की आवश्यकता है और शुद्ध पर्यावरण को उत्पन्न करने में यज्ञीय अग्नि इत्यादि वैदिक समाधान ही समर्थ है, ये वैदिक उपाय हमें इसी पृथ्वी तल पर शुद्ध पर्यावरण की प्राप्ति कराकर स्वर्ग रूपी नौका पर चढ़ा सकता है अन्य कोई कर्म नहीं।

मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं का स्वास्थ्य स्तर

डॉ. लोकेश श्रीवास्तव एवं शाहिदा मंसूरी

भूगोल विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

स्वास्थ्य जीवन का मूल आधार है। स्वास्थ्य को बनाए रखना बहुत आवश्यक है, क्योंकि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है तथा स्वस्थ मस्तिष्क ही स्वस्थ समाज का निर्माता होता है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पोषक तत्व, स्वच्छता, आवासीय स्थितियाँ, आर्थिक स्तर, शिक्षा एवं चिकित्सीय सुविधाएँ महत्वपूर्ण होती हैं। (कम्प्यूनिटी हेल्थ, केतकर सातवाँ संस्करण, 2000)

भारत में विभिन्न प्रकार की आदिम जनजातियाँ निवास करती हैं, जिन्हें कई नामों से जाना जाता है। आदिम जनजातियाँ मुख्यतः पर्वतीय या जंगली क्षेत्रों में निवास करती हैं। इनकी संस्कृति, अपने रीति-रिवाज होते हैं। आदिवासी देवी-देवताओं पर अटूट विश्वास करते हैं, इनका जीवन स्तर निम्न श्रेणी का होता है, क्योंकि ये लोग आर्थिक रूप से पिछड़े हुए होते हैं। आर्थिक स्थिति निम्न होने के कारण ये अपने परिवार की उचित देखभाल नहीं कर पाते। इनका भोजन पोषक तत्वों से रहित होता है फलरूप गर्भवति एवं स्तपान कराने वाली माताएँ तथा शिशु कुपोषण एवं रक्ताल्पता संबंधी बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। आदिवासियों में इसी कारण मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक पाई जाती है। निर्धनता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, चिकित्सीय सुविधाओं के आभाव के कारण ये लोग मलेरिया, क्षय रोग, संक्रमण ज्वर, त्वचा संबंधी रोग, पेट संबंधी रोग तथा कुपोषण जैसी बीमारियों से ग्रस्त पाए जाते हैं। (भारतीय आदिवासी, डॉ. ललित प्रसाद, 1975)।

आदिवासियों में स्वास्थ्य स्तर निम्न श्रेणी का होता है, जिसका एक प्रमुख कारण है चिकित्सीय सुविधाओं को न अपनाना। आदिवासी बीमार होने पर चिकित्सालय या डॉक्टर के पास नहीं जाते और 'बैगा' को बुलाते हैं, जो इनका डॉक्टर होता है। ये बैगा झाड़ू-फूंक द्वारा एवं औषधियों द्वारा बीमार को ठीक करने का प्रयास करता है। रोगी की हालत गंभीर हो जाने पर उसकी मृत्यु हो जाती है। वास्तव में आदिवासी लोग अस्वस्थता की चरम सीमा आने पर ही विवश होकर चिकित्सालय जाते हैं। वे बीमार होने पर मानते हैं कि उनके देवता उनसे रूठ गए हैं और इस लिए झाड़ू-फूंक में लगे रहते हैं। अर्थात् परम्परागत तरीके से रोगों को ठीक करने का प्रयास करते हैं।

1. स्वास्थ्य का पोषण, शिक्षा, पर्यावरण और वन से संबंध

स्वास्थ्य का संबंध केवल शारीरिक स्वास्थ्य से नहीं है, बल्कि मानसिक एवं

भावनात्मक स्वास्थ्य से है। सम्पूर्ण स्वास्थ्य पर समाज का, सांस्कृतिक आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनैतिक स्तर का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण न केवल स्वास्थ्य में बल्कि पूरे समाज में परिवर्तन होता है। स्वास्थ्य एवं पोषण एक दूसरे से घनिष्ठ संबंधित हैं। शिक्षा स्वास्थ्य को बनाए रखने में तथा आदर्श स्वास्थ्य के लिए अतिआवश्यक है। शिक्षा के कारण ही व्यक्ति में वांछनीय परिवर्तन होते हैं, जिससे उसमें सुझाव की, सूचना, विचार-विमर्श, ज्ञान प्राप्ति एवं ज्ञान प्रदान करने की भावनाएँ जागृत होती हैं। सामान्यतः यह देखा जाता है कि अशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा शिक्षित व्यक्ति कम बीमार होते हैं।

स्वास्थ्य एवं उपचार का पर्यावरण के साथ बहुत गहरा संबंध होता है। विशेषकर जहाँ वन पर आधारित पारिस्थितिकी होती है। आदिवासियों को पेड़-पौधों के विभिन्न भागों का जड़ से लेकर पत्तों तक का ज्ञान होता है, (डॉ. ललित प्रसाद, 1975) ये लोग इन्हें उपचार पद्धति के रूप में उपयोग करते हैं। पोषण एवं वन का आपस में घनिष्ठ संबंध होता है। अध्ययन में पाया गया है कि वे आदिवासी जो दूरस्थ वन वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं, बहतर जीवन व्यतीत करते हैं एवं उचित संतुलित आहार ग्रहण कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा जो वनों से दूर निवास करते हैं। आदिवासी समाज में परम्पराएँ, मान्यताएँ, लोक कथाएँ तथा लोकगीतों के विशाल भंडार हैं, जो स्वास्थ्य से संबंधित हैं। इनके माध्यम से आदिवासियों में इनकी पारिस्थितिकी के अनुरूप पर्याप्त स्वास्थ्य संबंधी सुधार संभव है।

2. स्वास्थ्य स्तर एवं आदिवासी महिलाएँ

अनेकों साहित्यों एवं आँकड़ों के आधार पर आदिवासी महिलाओं के जीवन-स्तर को जानने के लिए निम्न लिखित मापदण्डों को ध्यान में रखा गया है-

लिंगानुपात, महिला साक्षरता, विवाह, विवाह की आयु, प्रजनन एवं मृत्यु, जीवन आयु, पोषक स्तर एवं मातृ-स्वास्थ्य, वन पारिस्थितिकी एवं महिला स्वास्थ्य, गर्भधारण एवं मातृ मृत्यु दर, मातृत्व एवं बाल स्वास्थ्य संरक्षण, परिवार कल्याण कार्यक्रम, यौन संक्रामक बीमारियाँ एवं अनुवांशिक अव्यवस्था। इस अध्ययन में मध्यप्रदेश की प्रमुख जनजातियों को लिया गया है, ये जनजातियाँ गोंड, बैगा, भील, कोरकू, भारिया, हल्बा आदि हैं।

3. तार्किक परीक्षण एवं परिणाम

उपलब्ध शोध साहित्य एवं विभिन्न आँकड़ों के संग्रहण के पश्चात् निम्नलिखित मानकों पर अध्ययन की विस्तृत चर्चा की जा रही है-

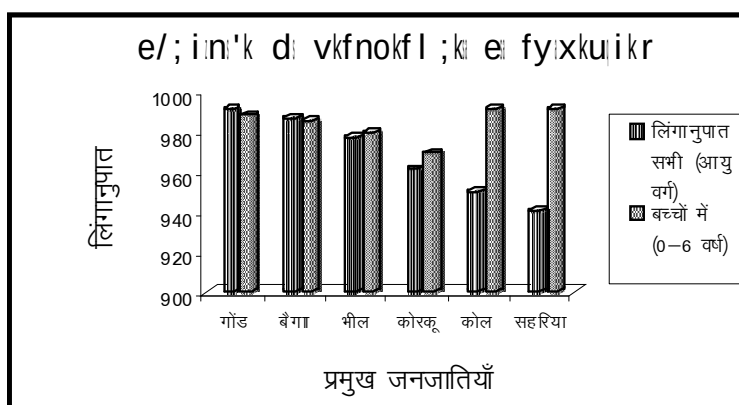
3.1 लिंगानुपात

लिंगानुपात मानव जनसंख्या के प्रतिहजार पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या है। लिंगानुपात एक आवश्यक तथ्य है। भारत में लिंगानुपात को प्रतिहजार

पुरुषों पर स्त्रियों के रूप में व्यक्त किया जाता है (प्रो. हीरालाल, चतुर्थ संस्करण, 2000)। भारत में लिंग संरचना पुरुषों की दृष्टि से अधिक है। स्त्रियों में मृत्यु दर अधिक होना इसका प्रमुख कारण है। विगत वर्षों की जनगणना में वर्ष 1961 में लिंगानुपात 641, वर्ष 1971 में 930, वर्ष 1981 में 935, वर्ष 1991 में 927 तथा वर्ष 2001 में 978 महिलाएँ थी। आदिवासियों में ये लिंगानुपात वर्ष 1961 में 987 था जो 2001 की जनगणना के अनुसार प्रतिहजार पुरुषों पर 975 महिलाएँ थी। मध्यप्रदेश के आदिवासियों में सर्वाधिक लिंगानुपात गोंड एवं बैगा जनजातियों में पाया जाता है, जबकि सबसे कम सहरिया जनजाति का है। मध्यप्रदेश के आदिवासियों में लिंगानुपात को सारणी क्रमांक 1 में दर्शाया गया है-

**सारणी-1: मध्यप्रदेश के प्रमुख आदिवासियों में लिंगानुपात
(2009-2010)**

आदिवासी	लिंगानुपात सभी (आयु वर्ग)	बच्चों में (0-6 वर्ष)
गोंड	991	988
बैगा	986	985
भील	977	979
कोरकू	961	969
कोल	950	991
सहरिया	940	991



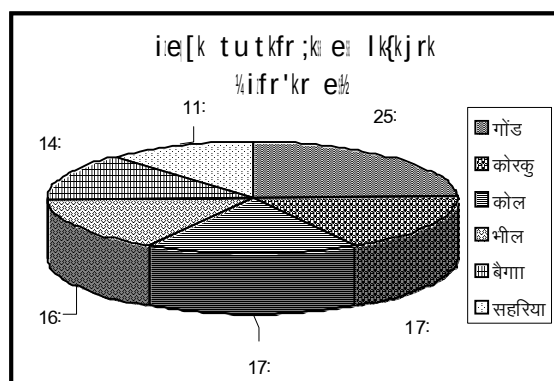
उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि में गोंड जनजाति में सर्वाधिक लिंगानुपात पाया जाता है, जो 991 है, जबकि गोंड बच्चों में ये अनुपात 988 है। सहरिया जनजाति का लिंगानुपात सबसे कम है, जो 940 है तथा सहरिया बच्चों में यह अनुपात 969 है।

3.2 महिला साक्षरता

साक्षरता सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण आधार है। साक्षरता के कारण ही मनुष्य अपने कर्तव्यों के प्रति सजग होता है तथा उसमें आत्मविश्वास जन्म लेता है। महिला साक्षरता अति आवश्यक है क्योंकि महिला से समस्त विश्व जुड़ा है। यदि महिला साक्षर है तो वे अपने परिवार को सही ढंग से समझ सकती हैं। नवयुवतियों का साक्षर होना अत्यन्त आवश्यक है। इनकी साक्षरता से नवजात शिशु का जीवन जुड़ा होता है। एक साक्षर माँ अपने बच्चे की सही व उचित देखभाल कर सकती है, (गर्भावस्था प्रसव ज्ञान और शिशुपालन, डॉ. राजीव शर्मा एवं श्रीमती दीपिका शर्मा) और बच्चे को काल के मुँह से बचा सकती है। प्रदेश के सभी जिलों में साक्षरता का प्रतिशत अलग-अलग पाया जाता है। आदिवासी महिलाओं में साक्षरता का स्तर काफी निम्न है। अध्ययनों के दौरान पाया गया है कि आदिवासियों में प्राईमरी साक्षरता 71.3 प्रतिशत है, जबकि स्नातक एवं स्नातकोत्तर साक्षरता मात्र 1.4 प्रतिशत पाई जाती है। आदिवासी महिलाओं में कुल साक्षरता मात्र 28.4 प्रतिशत है, जबकि कुल आदिवासियों में यह प्रतिशत 41.2 है। विभिन्न आदिवासी महिलाओं में साक्षरता दर को निम्न सारणी में दर्शाया गया है-

सारणी-2. विभिन्न आदिवासी महिलाओं में साक्षरता दर

महिलाएँ	साक्षरता (प्रतिशत में)
गोंड	37.1
कोरकू	26.2
कोल	25.1
भील	25.0
बैगा	21.2
सहरिया	17.3



उपरोक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं में गोंड महिलाओं में साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक है, जबकि सहरिया महिलाओं में साक्षरता मात्र 17.3 प्रतिशत पाई जाती है जो अन्य आदिवासी महिलाओं की तुलना में कम है।

3.3 विवाह की रीतियाँ तथा विवाह आयु

विवाह एक सर्वमान्य संस्कार है। आदिवासियों में विवाह की परम्परा तथा विवाह के रूप में अन्तर पाया जाता है। आदिवासियों में विवाह की प्रमुख तीन रीतियाँ पाई जाती हैं। प्रथम समूह या अपने ही कबीले वालों में विवाह द्वितीय, कबीले से बाहर विवाह तथा तृतीय, एक ही परिवार के सदस्यों के बीच विवाह जिसे सगोत्रीय विवाह कहा जाता है, रीतियाँ प्रचलित हैं। जनजातियों में चचेरे भाई-बहनों में भी विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। इस विवाह प्रथा से दहेज एवं वधू मूल्य का प्रचलन सप्रतिबन्धित होता है। आदिवासी महिलाओं में सांस्कृतिक पक्ष विशेषकर विवाह, विवाह से संबंधित रीतियाँ प्रजनन से जुड़े मूल्य एवं बच्चे का लिंग, परिवार के संयोजन का स्वरूप, महिला का समाज में स्तर, निर्णय लेने की क्षमता आदि तथ्यों का महिला के स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। उपरोक्त सभी तथ्यों से महिला के परिवार में स्थान का निर्माण होता है तथा महिला स्वास्थ्य संरक्षण की उपलब्धता, शिक्षा पोषण एवं अन्य स्वास्थ्य संसाधनों का निर्धारण होता है। आदिवासियों में बालविवाह प्रचलित नहीं है (डॉ. ललित प्रसाद, 1975)। सरकार द्वारा निर्धारित विवाह आयु के अनुसार जनजातियों में 18 वर्ष से नीचे विवाहित बालिकाओं का प्रतिशत 2.5 है, जबकि 21 वर्ष से नीचे विवाहित बालकों का प्रतिशत 4.6 है। राष्ट्रीय स्तर पर यह प्रतिशत 2.1 तथा 2.8 है। कोल, सहरिया एवं बैगा जनजातियों में बाल विवाह का प्रतिशत अधिक पाया जाता है।

3.4 प्रजनन एवं मृत्यु

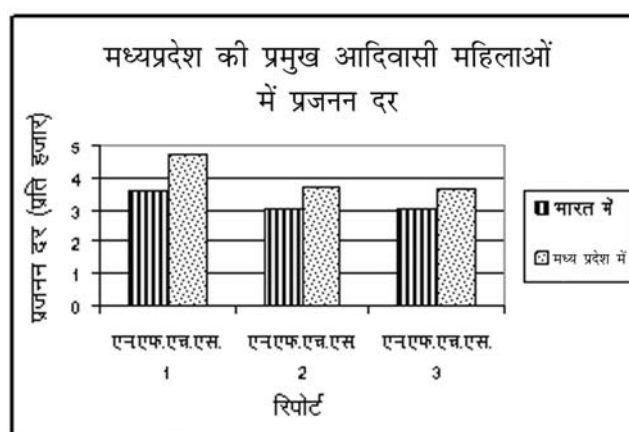
प्रजनन समस्त जीवधारियों का प्रमुख लक्षण है। प्रजनन में एक जीव अपने ही समान जीवों को जन्म देता है अर्थात् सन्तान उत्पन्न करता है, जिससे जीवों की संख्या में वृद्धि होती जाती है। प्रजनन एक नैसर्गिक क्रिया है, जिसमें सावधानियाँ बरतना आवश्यक है। गर्भधारण से लेकर प्रसव के समय व पश्चात् तक माता एवं शिशु की सही व उचित देखभाल अति आवश्यक होती है। (डॉ. राजीव शर्मा, 2008) अज्ञानतावश हमारे देश में प्रजनन की असावधानियों से अधिकांश स्त्रियाँ तो प्रसव काल में ही मर जाती हैं या किसी भयंकर प्रसूति रोग से जीवन पर्यन्त ग्रस्त रहती हैं। प्रजनन पर सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि वनों में या कठिन परिस्थितियों में निवास करने वाले आदिवासियों की बात की जाए तो कहा जा सकता है कि ये लोग किसी तरह जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सामाजिक एवं आर्थिक स्तर निम्न होने के कारण अपनी व परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं होते, परिणामस्वरूप आदिवासी महिलाओं एवं बच्चों में कुपोषण की समस्या अधिक पाई जाती है। प्रजनन के समय कोई

विशिष्ट देखभाल नहीं की जाती, न ही स्त्री को आराम करने दिया जाता है। देखा गया है कि आदिवासी महिलाओं में अन्य महिलाओं की अपेक्षा रक्ताल्पता संबंधी बीमारियाँ अधिक पाई जाती हैं।

अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि आदिवासियों में प्रजनन दर अधिक पाई जाती है, जिसका प्रमुख कारण शिक्षा की कमी एवं सामाजिक धारणाएँ हैं। नेशनल फैमली हेल्थ सर्वे (एन.एफ. एच. एस.) की रिपोर्ट के अनुसार प्रदेश में 15 से 49 वर्ष की विवाहित महिलाओं की संख्या 6941 है, जिसमें लगभग 25 प्रतिशत आदिवासी महिलाएँ हैं। 23-30 वर्ष की आयु में प्रथम बच्चे को जन्म देने वाली आदिवासी महिलाओं का प्रतिशत 17.73 है। प्रथम बच्चे के बाद अगले बच्चे में कम से कम 2 वर्ष का अन्तर रखने वाली महिलाओं का प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में कम है एवं नगरीय क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक है। प्रदेश में ग्रामीण आदिवासी महिलाओं में प्रजनन दर नगरीय आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। प्रजनन दर में कमी लाने एवं प्रजनन से जुड़ी समस्याओं को दूर करने के लक्ष्य से भारत एवं मध्यप्रदेश सरकार द्वारा कई कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं जिसमें प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम मुख्य है। इसमें माता एवं बच्चे के स्वास्थ्य के प्रति ध्यान दिया जाता है। भारत एवं मध्यप्रदेश में एन.एफ.एच.एस. I, II, III की रिपोर्ट के अनुसार जनजातीय महिलाओं में कुल प्रजनन दर निम्न तालिका में दर्शाई गई है-

सारणी-3: आदिवासी महिलाओं में कुल प्रजनन दर

रिपोर्ट	भारत में	मध्य प्रदेश में
एन.एफ.एच.एस. 1	3.6	4.71
एन.एफ.एच.एस. 2	3.06	3.69
एन.एफ.एच.एस. 3	3.02	3.65



उपरोक्त सारणी को देखने से ज्ञात होता है कि प्रजनन दर में निरन्तर कमी आ रही है। एन.एफ.एच.एस. I की रिपोर्ट के अनुसार प्रदेश में आदिवासियों में प्रजनन दर 4.71 रही जो एन.एफ.एच.एस. III तक घटकर 3.65 हो गई, जबकि देश की आदिवासी महिलाओं में यह दर क्रमशः 3.6 एवं 3.02 रही। अतः स्पष्ट है कि प्रजनन दर में कमी लाने के लक्ष्य से जो कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं वे सफल हो रहे हैं तथा प्रजनन दर में निरन्तर कमी आ रही है।

3.5 पोषक स्तर एवं मातृ स्वास्थ्य

“पोषण उन प्रक्रियाओं का संयोजन है, जिनके द्वारा जीवित प्राणी अपनी क्रियाशीलता बनाए रखने का उपयोग करते हैं।”

पोषण एक गतिशील प्रक्रिया है जिसके द्वारा भोज्य पदार्थों का उपयोग शरीर की पोषकता के लिए किया जाता है। अच्छा पोषण स्वास्थ्य की मूलभूत आवश्यकता है। यह सामान्य वृद्धि एवं विकास के लिए तथा जीवन की विशिष्टता के लिए आवश्यक है। पोषक आहार व्यक्ति को केवल रोगों से नहीं बचाता बल्कि रोगों से लड़ने की शक्ति भी प्रदान करता है। अतः भोजन में पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्व जैसे- प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन युक्त आहार लिया जाना चाहिए।

भारत में जनसंख्या का लगभग 23 प्रतिशत भाग 15 से 45 वर्ष की आयु वाली महिलाओं का है। महिलाओं की यह उम्र ‘शिशु धारण अवधि’ की होती है, अर्थात् इस उम्र में स्त्री प्रजननयोग्य हो जाती है। गर्भधारण से लेकर प्रसव तक स्त्री को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है (श्रीमती विजया मिश्रा, 1998)। इस समय थोड़ी सी असावधानी से माता एवं शिशु दोनों को खतरा हो सकता है। अतः स्त्री की प्रसव पूर्व, प्रसव समय एवं प्रसव पश्चात् सही देखभाल की आवश्यकता होती है, जिससे माता एवं शिशु स्वस्थ हो सके। गर्भ धारण से लेकर शिशु जन्म तक स्त्री का शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ होना अति आवश्यक होता है। अच्छे स्वास्थ्य के लिए संतुलित आहार एवं उचित देखभाल आवश्यक होती है। भारत की अधिकांश जनसंख्या गरीब है। अनेक अध्ययनों में पाया गया है कि गरीबों में शिक्षा का आभाव होने के कारण मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक होती है, जिसका प्रमुख कारण उचित आहार एवं बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं का न मिल पाना है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में कुपोषण संबंधी बीमारियां अधिक होती हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रसव काल में एक वर्ष में लगभग 150 प्रति हजार माताएं मर जाती हैं। भारत में प्रति वर्ष 25000 माताएं मृत्यु को प्राप्त होती हैं। माता के स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया जाना अति आवश्यक है, क्योंकि माता के स्वास्थ्य पर शिशु का स्वास्थ्य निर्भर करता है। अतः माता के स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए गर्भावस्था के समय, प्रसव समय एवं प्रसव पश्चात् देखभाल आवश्यक होती है। स्त्री को संतुलित आहार जैसे- हरी पत्तेदार सब्जियां, मछली, पपीता, गाजर आदि तथा आयरन की गोलियां एवं टीकारण आवश्यक होता है, जिससे स्त्री एवं उसका शिशु दोनों

स्वस्थ रहते हैं। आदिवासियों में गर्भावस्था एवं प्रसव के समय स्त्री की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। प्रसव किसी भी स्थान पर घरेलू महिलाओं द्वारा परम्परागत तरीकों से कराया जाता है।

आहार भी सामान्य ही दिया जाता है। फलस्वरूप स्त्री को कई प्रकार के प्रसूति रोग लग जाते हैं तथा वे कमजोर हो जाती है। भारत पिछड़ा हुआ देश है यहां की अधिकांश जनता गरीब है। प्रायः देखा जाता है कि गरीबों में स्वास्थ्य से संबंधित अनेक समस्याएं पाई जाती हैं। शरत में विशेषतः मध्यप्रदेश के आदिवासियों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के स्वास्थ्य का स्तर निम्न है तथा मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक है। आदिवासी महिलाओं के गिरते स्वास्थ्य स्तर को देखते हुए भारत एवं मध्यप्रदेश सरकार द्वारा कई प्रकार के कार्यक्रम, जो माता एवं शिशु स्वास्थ्य से संबंधित हैं, संचालित किये जा रहे हैं।

3.6 जीवन आयु

जीवन अमूल्य है। जीवन की अवधि निश्चित होती है। विश्व के विभिन्न देशों की जीवन अवधि भी अलग-अलग है। भारत की जीवन आयु 65 वर्ष है। भारत के आदिवासियों की (विशेषतः मध्यप्रदेश के) जीवन आयु सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कम है। पुरुषों की 63 वर्ष जबकि महिलाओं की 65 वर्ष है।

3.7 वन पारिस्थितिकी एवं महिला स्वास्थ्य

वन पारिस्थितिकी के अन्तर्गत वन पर्यावरण एवं वन्य जीव का तथा वनों में पाए जाने वाले समस्त पेड़-पौधों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है। अर्थात् वन पारिस्थितिकी शूक्ष्म जीवों एवं पादपों एवं जन्तुओं से संबन्धित है। वन में निवास करने वाली जनजातियां वन पर्यावरण को काफी हद तक प्रभावित करती हैं। आदिवासी मुख्य रूप से जंगली एवं पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करते हैं (डॉ. ललित प्रसाद, 1975) तथा अपने भरणपोषण एवं जीविका चलाने के लिए वन्य जीव-जन्तुओं, वनोपज तथा पादपों पर निर्भर होते हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों एवं छोटे-छोटे भागों में निवास करने वाली जनजातियां फैली हुई हैं। भारत में बिरहोर, पहाड़ी खड़िया, विर्जिया, केरल में मालाबार की कदार, मालपतरा तथा कुरुम्बा जनजाति, तमिलनाडू में मदुरई की पलियन तथा अंदमान निकोबार द्वीप समूह की ओंगे, जाखा एवं सेंटिनल आदि जनजातियां वन्य क्षेत्र में निवास करती हैं। वनों में खाद्य संग्रह तथा शिकार करने वाली जनजातियों की संख्या दक्षिण भारत में सर्वाधिक है। जंगली आदिवासियों की प्रकृति बहुत सरल होती है। उनकी जीविका का निर्वाह वनोपज संग्रहण, वन्य जीवों का शिकार (जैसे जंगली भैंसा, सुअर आदि), मधु को प्राप्त करना तथा मछली पकड़ना है। ये लोग शिकार में जाने के पहले अपने औजारों की, जालों-फंदों की, दुर्गा देवी की पूजा करते हैं। शिकार के लिए छुरी, बरछी आदि का उपयोग करते हैं।

आदिवासी पुरुष शिकार करते हैं तथा महिलाएं वनोपज संग्रहण करती हैं तथा घर का काम करती हैं। वनोपज संग्रहण में तन्दु पत्ता, महुआ, कन्दमूल आदि हैं। मध्यप्रदेश के आदिवासी वनों में स्थानान्तरण कृषि करने लगे हैं। आदिवासियों को जड़ी-बूटियों का काफी ज्ञान होता है ये लोग बीमार होने पर घरेलु उपचार करते हैं। आदिवासी परिवार में महिलाओं की ओर उनके स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। उनका काम बच्चे पैदा करना तथा घर का काम करना है। स्त्री ईश्वर द्वारा दिया गया एक अनमोल उपहार है। यह समस्त संसार की जननी है। अतः महिला स्वस्थ होगी तो समाज स्वस्थ होगा, समाज स्वस्थ होगा तो देश स्वस्थ होगा अतः विश्व स्वस्थता के लिए महिला स्वास्थ्य अति आवश्यक है। महिला के पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए (डॉ. राजीव शर्मा, 2008)।

भारत क्योंकि पिछड़ा देश है। सामान्यतः देखा गया है कि उच्च वर्गों की अपेक्षा निचले वर्गों की महिलाएं अधिक अस्वस्थ होती हैं, जिसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे पर्याप्त आहार का न मिल पाना, आर्थिक समस्या आदि। स्त्री के स्वास्थ्य खराब होने के कारण उसकी मृत्यु भी हो सकती है यही कारण है कि भारत में विशेषतः मध्यप्रदेश में महिला मृत्यु दर अधिक है जिसमें आदिवासी महिलाओं का प्रतिशत अधिक है। एक रिपोर्ट के अनुसार प्रदेश की लगभग 8 प्रतिशत आदिवासी महिलाओं की मृत्यु प्रजनन संबंधी असावधानियों से होती है। आदिवासियों में चूँकि धन की कमी, भोजन में पोषक तत्वों की कमी, शिक्षा का आभाव तथा चिकित्सीय सुविधाओं का आभाव होता है तथा ये रूढ़िवादी परम्पराओं को अपनाते हैं इसलिए अज्ञानतावश महिला के गर्भवति होने से प्रसव तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। यही कारण है कि आदिवासी महिलाओं में रक्ताल्पता, रक्तविषाक्तता, प्रदर तथा अन्य प्रजनन संबंधी रोग हो जाते हैं जिससे इनकी मृत्यु दर अधिक है।

3.8 गर्भधारण एवं मातृ मृत्यु-दर

गर्भधारण करना स्त्रियों के लिए प्राकृतिक वरदान है। (श्रीमती विजया मिश्रा, 1998) जो स्त्री इस योग्य नहीं होती उन्हें मानसिक कष्ट सहना पड़ता है। गर्भधारण करने तथा शिशु को जन्म देने में स्त्री को गौरव अनुभव होता है। स्त्री को माता बनने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार रहना आवश्यक होता है। उसे गर्भ के कारण कोई घृणा या भय नहीं होना चाहिये, क्योंकि माता के कार्यकलापों का, मानसिकता का प्रभाव उसके शिशु पर पड़ता है। शिशु के गर्भ में आने के कुछ दिनों बाद से ही स्त्री को परेशानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। गर्भवति स्त्री को गर्भकाल में अत्यन्त सावधानियाँ बरतनी चाहिए क्योंकि थोड़ी-सी भी लापरवाही से वह तथा उसका शिशु दोनों को खतरा हो सकता है।

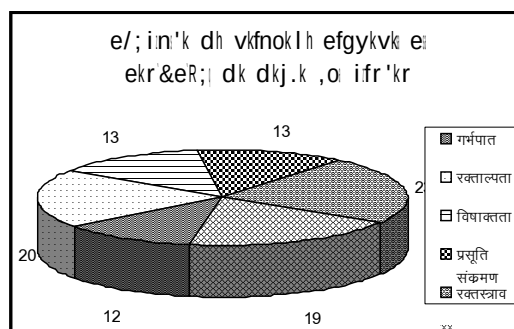
भारत में प्रतिवर्ष 2.8 करोड़ गर्भधारण किये जाते हैं। अध्ययनों में पाया गया है कि सामान्य महिलाओं की अपेक्षा निर्धन एवं पिछड़ी जातियों की महिलाओं में

अधिक गर्भधारण किए जाते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ इसके लिए जिम्मेदार होती हैं। आदिवासियों में गर्भधारण से संबंधित कई मान्यताएँ पाई जाती हैं। आदिवासी आधुनिक चिकित्सीय पद्धति को पूर्ण रूप से नहीं अपनाते। एन.एफ.एच.एस. I, II की रिपोर्ट के अनुसार इनमें प्रजनन दर 3.06 तथा 3.12 प्रति हजार है। आदिवासियों में चूँकि स्त्री को विशेष मान्यता नहीं दी जाती, न ही गर्भावस्था में, प्रसव समय या प्रसव पश्चात् उसकी ओर कोई ध्यान दिया जाता है, परिणाम यह होता है कि अधिकांश स्त्रियाँ एवं शिशु मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं। अतः आदिवासियों में मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक पाई जाती है। भारत की प्रति हजार में से 22 माताएँ मृत शिशुओं को जन्म देती हैं। देश की लगभग 60 प्रतिशत महिलाएँ जो गरीब समूह में आती हैं रक्ताल्पता से ग्रसित हैं, इनमें आदिवासी महिलाएँ अधिक हैं। एन.एफ.एच.एस. की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 2.8 करोड़ गर्भधारण किये जाते हैं, जिसमें 2.5 करोड़ प्रसव होते हैं। वर्तमान समय में भारत की मातृ मृत्यु दर 301 प्रति हजार है जबकि प्रदेश की 335 प्रति हजार है, जिसमें आदिवासी महिलाओं का प्रतिशत अधिक है। एन.एफ.एच.एस. की एक रिपोर्ट से ज्ञात हुआ है कि आदिवासी महिलाएँ प्रजनन संबंधी समस्याओं से पीड़ित हैं। लगभग 30.2 प्रतिशत महिलाओं को श्वेत प्रदर (पानी स्राव) की शिकायत है।

मातृ मृत्यु दर के कई कारण हो सकते हैं जैसे— गर्भपात, रक्ताल्पता, संक्रमण, रक्त-स्राव आदि। मातृ मृत्यु दर को एवं मातृ तथा बाल स्वास्थ्य में सुधार तथा बेहतर स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराने के लक्ष्य से भारत एवं मध्यप्रदेश सरकार द्वारा प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम तथा परिवार नियोजन कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। मध्यप्रदेश के पिछड़े तथा दूरस्थ क्षेत्रों में निवास करने वाले आदिवासियों के स्वास्थ्य स्तर के सुधार के लिए तथा शिशु एवं माता को बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ, पोषण प्राप्त हो सके इसके लिए प्रयास किये जा रहे हैं। सरकार का लक्ष्य मातृ मृत्यु दर को सन् 2012 में घटाकर 2.1 तक करना है। भारत में मातृ मृत्यु के प्रमुख कारणों को निम्न तालिका में दर्शाया गया है—

सारणी-4 : मातृ मृत्यु के प्रमुख कारणों का प्रतिशत

कारण	प्रतिशत
गर्भपात	12
रक्ताल्पता	20
विषाक्तता	13
प्रसूति संक्रमण	13
रक्त-स्राव	23
अन्य	19



उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि भारत में सर्वाधिक मातृ मृत्यु रक्ताल्पता के कारण होती है। जबकि गर्भपात के कारण मृत्यु का प्रतिशत 12 है और अन्य कारणों से 19 प्रतिशत मातृ मृत्यु होती है।

3.9 मातृत्व एवं बाल स्वास्थ्य संरक्षण

माता बनना स्त्री के लिए गौरव एवं सम्मान की बात है माता से शिशु का सीधा संबंध होता है। शिशु का स्वास्थ्य माता के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। (डॉ. राजीव शर्मा, 2008) मातृ एवं शिशु मृत्यु दर को देखते हुए सरकार द्वारा कई कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं, जिनमें प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम तथा परिवार नियोजन कार्यक्रम मुख्य हैं। मातृ एवं बाल स्वास्थ्य संरक्षण बहुत ही महत्वपूर्ण आयाम है, जिससे जन समुदाय का अधिकाधिक हित होता है। मातृ एवं बाल स्वास्थ्य सेवा में माता को निःशुल्क आयरन की गोलियां, टीकाकरण तथा समय-समय पर जाँच तथा महिला को स्वस्थ रहने की सलाह दी जाती है। सामान्यतः देखा गया है कि आदिवासियों में मातृ एवं बाल मृत्यु दर अधिक पाई जाती है जिसके सामाजिक, आर्थिक कारण हो सकते हैं। आदिवासी चूँकि परम्परागत चिकित्सीय तकनीकें अपनाते हैं तथा स्त्री की गर्भ एवं प्रसव के समय उचित देखभाल नहीं की जाती जिसके कारण अधिकांश आदिवासी महिलाएँ एवं शिशु मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं या कुपोषण के शिकार हो जाते हैं। आदिवासी बच्चों में डायरिया सामान्य रूप से पाया जाता है। एन.एफ.एच.एस. III की रिपोर्ट के अनुसार मध्यप्रदेश में लगभग 20 प्रतिशत बच्चों की मृत्यु डायरिया के कारण होती है, जिसमें अधिकांश बच्चे आदिवासी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के होते हैं।

3.10 परिवार कल्याण कार्यक्रम

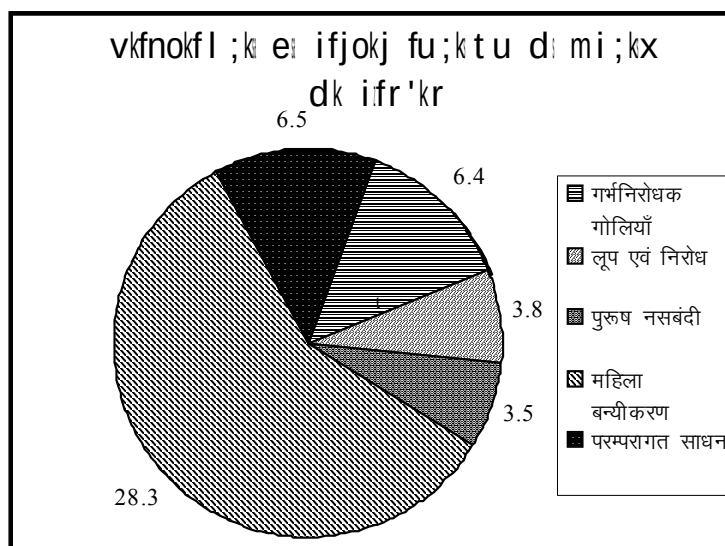
भारत सरकार द्वारा चलाए जाने वाले कार्यक्रमों में परिवार कल्याण कार्यक्रम महत्वपूर्ण है। इस कार्यक्रम का प्रारंभ 1952 में परिवार नियोजन के रूप में हुआ (टेखरे यादेलाल, 1989)। परिवार नियोजन का अर्थ है 'परिवार का सामाजिक एवं आर्थिक विकास'। परिवार कल्याण कार्यक्रम वास्तव में समाज के स्वास्थ्य रक्षण और जन चेतना को उभारने का प्रयास है। परिवार कल्याण कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य

जनसंख्या वृद्धि को कम करना तथा जनता में सन्तान उत्पत्ति नियंत्रण के साधनों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दी जाने वाली सेवाओं में विवाह परामर्श, गर्भावस्था के लिए परीक्षण पोषण सम्बन्धी शिक्षा, परिवार नियोजन के साधन, यौन संक्रमित रोगों की जाँच एवं उपचार आदि सेवाएं प्रत्येक स्वास्थ्य केन्द्रों पर उपलब्ध हैं। समय-समय पर विशेष स्वास्थ्य शिविरों, मेलों का आयोजन किया जाता है। मध्यप्रदेश भारत का पिछड़ा राज्य है, एवं यहां की अधिकांश जनता गरीब है। आदिवासी बहुलता की दृष्टि से भारत में मध्यप्रदेश का स्थान प्रथम है। आदिवासी प्रारंभ से ही पिछड़े हुए हैं, इनकी स्थिति में आज भी सुधार नहीं हो पाया है। आदिवासियों का स्वास्थ्य स्तर निम्न पाया जाता है, इनमें पोषण की कमी पाई जाती है। परिवार कल्याण कार्यक्रम द्वारा इनकी स्थिति में सुधार के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। आदिवासी चूंकि परम्परागत तरीकों को अपनाते हैं तथा शिक्षा में आभाव के कारण ये लोग परिवार नियोजन के साधनों का महत्व नहीं समझ पाते तथा इन्हें नहीं अपनाते, इसके अतिरिक्त शहरों में निवास करने वाले आदिवासी परिवार नियोजन की महत्ता को समझते हैं तथा परिवार नियोजन के साधनों को अपनाते हैं।

परिवार कल्याण कार्यक्रम को 1966 के बाद से मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रम से जोड़ दिया गया (कम्यूनिटी हेल्थ डॉ. मुकुन्द केतकर, 2000) है। परिवार कल्याण कार्यक्रम के माध्यम से स्त्रियों को अनचाहा गर्भ तथा बार-बार होने वाली गर्भावस्था से छुटकारा मिल गया है जिससे स्त्रियों के स्वास्थ्य स्तर में सुधार हुआ है। परिवार कल्याण कार्यक्रम को सफल बनाने में समाज के हर व्यक्ति का सहयोग होना चाहिए। सरकार दूरस्थ निवास करने वाले आदिवासियों के लिए भी यह स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराने के प्रयास कर रही है। परिवार कल्याण कार्यक्रम के अन्तर्गत चलाए जा रहे कार्यक्रमों में प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम के अन्तर्गत आदिवासी महिलाओं में प्रजननता से जुड़ी समस्त समस्याओं को दूर करने के तथा उन्हें बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने के प्रयास किए जा रहे हैं। लगभग 48.5 प्रतिशत आदिवासी परिवार नियोजन के आधुनिक तरीकों को नहीं अपनाते। अतः आदिवासियों में परिवार नियोजन एवं उनके प्रतिशत को निम्न तालिका में दिखाया गया है-

सारणी-5 : आदिवासियों द्वारा परिवार नियोजन के साधनों का उपयोग

परिवार नियोजन के साधन	उपयोग का प्रतिशत
गर्भनिरोधक गोलियाँ	6.4
लूप एवं निरोध	3.8
पुरुष नसबंदी	3.5
महिला बन्धीकरण	28.3
परम्परागत साधन	6.5
कुल	48.5



सारणी क्रमांक 5 से ज्ञात होता है कि प्रदेश में धीरे-धीरे आदिवासियों में परिवार नियोजन के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो रही है एवं ये लोग परिवार नियोजन के साधनों को अपनाने लगे हैं। सर्वाधिक प्रतिशत महिला बन्धुकरण का है, जो 28.9 है एवं सबसे कम पुरुष नसबंदी का प्रतिशत है जो 3.5 प्रतिशत है।

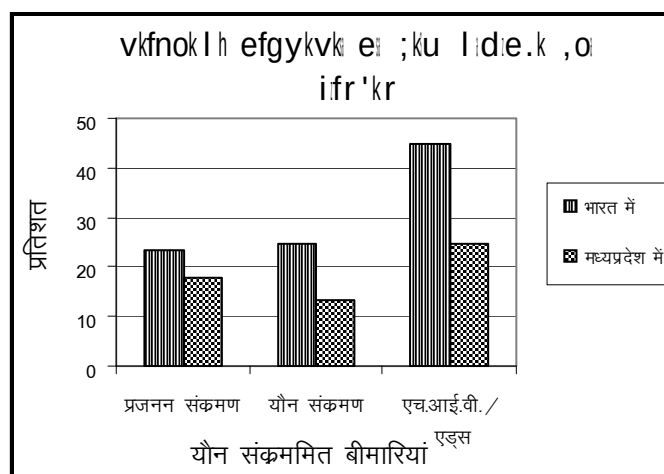
3.11 यौन संक्रामक बीमारियाँ

यौन संक्रामक बीमारियों को यौन संचारित बीमारियाँ (सेक्ससुअल ट्रांसमिटेड) भी कहा जाता है। यौन संक्रमण पीड़ित व्यक्ति के साथ बिना निराध के यौन संबंधों से तथा संक्रमित रक्त, संक्रमित सुई तथा गर्भवती स्त्री से उसके होने वाले बच्चे को ये रोग हो सकता है। ये भयानक रोग होते हैं जिससे व्यक्ति मर भी जाते हैं। गुप्त रोगों में सुजाक, क्लैमीडिया, आतशक, उपदंश, यौनिक मस्से, कक्ष्या आदि रोग मुख्य हैं। गुप्तांगों से मवाद आना, बदबूदार रिसाव, फोड़े-फुन्सी, जलन आदि इन रोगों के लक्षण हैं। प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम के अन्तर्गत बच्चों तथा माता के स्वास्थ्य से संबंधित रोगों की जाँच एवं उपचार किया जाता है। भारत एवं प्रदेश के अन्य लोगों की अपेक्षा आदिवासियों में यौन संक्रमण अधिक पाया जाता है जिसका मुख्य कारण स्वच्छन्द यौन संबंध एवं बाहरी लोगों से संबंध है। आदिवासी महिलाएँ यौन संबंधी बीमारियों से अधिक ग्रसित हैं। यौन संक्रमण से लगभग 32 प्रतिशत, मासिक धर्म अनियमितता से 9 प्रतिशत एवं प्रजनन संक्रमण से लगभग 7.9 प्रतिशत महिलाएँ पीड़ित हैं। (स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय रिपोर्ट 2010) यौन संक्रमण से पीड़ित महिलाओं में 18 से 45 वर्ष की आयु की महिलाओं की संख्या

अधिक है। अतः आदिवासी महिलाओं में यौन संबन्धी बीमारियों को निम्न सारणी में दर्शाया जा रहा है

सारणी-6 : आदिवासी महिलाओं में यौन संक्रमण एवं प्रतिशत

संक्रमण	भारत में (प्रतिशत)	मध्यप्रदेश में (प्रतिशत)
प्रजनन संक्रमण	23.4	17.8
यौन संक्रमण	24.6	13.5
एच. आई. वी.	44.8	24.5
योग	92.8	55.8



उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि प्रदेश की अपेक्षा भारत की आदिवासी महिलाओं में यौन संबन्धी बीमारियाँ कम पाई जाती हैं। सर्वाधिक संक्रमण एच.आई. वी./एड्स से है। मध्यप्रदेश में 44.8 प्रतिशत तथा भारत में 24.5 प्रतिशत महिलाएँ पीड़ित हैं।

3.12 आनुवांशिक अव्यवस्था

जीवों के लक्षण कारक द्वारा निर्धारित होते हैं। कारकों को 'जीन' कहा जाता है। प्रजनन के द्वारा अपने ही समान जीवों को जन्म देना जीवधारियों का विशिष्ट लक्षण है। इस प्रकार उत्पन्न सन्तति में दोनों जनकों के लक्षण पाए जाते हैं जो माता पिता के द्वारा अपनी सन्तति तक पहुँचते हैं। अतः जीवों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी विभिन्न लक्षणों के संचरण को आनुवंशिकता या आनुवांशिकी कहते हैं। सामान्यतः सन्तानों में

पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने पूर्वजों के लक्षण आते हैं, लेकिन जीन की असमानताओं के कारण उत्पन्न सन्तान में पूर्वजों के लक्षण नहीं आते बल्कि उनसे हटकर सन्तान उत्पन्न होती है, अर्थात् सन्तान के रंग रूप, उँचाई तथा आचार-विचार में अन्तर आ जाता है। जीवों में जीन की समानताओं के कारण उत्पन्न इस अन्तर को आनुवंशिक अव्यवस्था कहा जाता है।

आदिवासी चूँकि धीरे-धीरे बाहरी सम्पर्क में आ रहे हैं, जिसके कारण इनमें आनुवांशिकी अव्यवस्था बढ़ती जा रही है। आनुवांशिकी अव्यवस्था के कारण कई प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो रही हैं तथा पहले की आदिवासी जनजातियाँ धीरे-धीरे विलुप्त होने की कगार पर हैं। आदिवासियों के रंग-रूप, आचार-विचार, व्यवहार तथा उनके क्रियाकलापों में अन्तर आने लगा है। इसका कारण आनुवांशिक अव्यवस्था ही है।

कार्य योजना

महिलाओं तथा बच्चों की सामाजिक, आर्थिक तथा स्वास्थ्य एवं पोषण की स्थिति में सुधार व उनके व्यक्तित्व के सभी पहलुओं को मजबूत बनाने के उद्देश्य से मध्यप्रदेश सरकार द्वारा कई योजनाओं, कार्यक्रमों तथा नीतियों का क्रियान्वयन किया गया है जो निम्न हैं-

1. जननी सुरक्षा योजना- इस योजना के अन्तर्गत गर्भवति माताओं को निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधाएँ दी जाती हैं तथा जननी एक्सप्रेस की व्यवस्था है जिसमें प्रसव समय आने पर स्त्री को चिकित्सालय ले जाया जाता है।
2. वित्त पोषित समेकित बाल विकास योजना- विश्व बैंक की सहायता से प्रदेश में 244 एकीकृत बाल विकास योजनाएँ संचालित हैं। इन योजनाओं का प्रमुख लक्ष्य निर्धन एवं पिछड़ी जाति के बच्चों व महिलाओं के पोषण एवं स्वास्थ्य स्थिति में सुधार लाना है। इसके अन्तर्गत 6 वर्षों के बच्चे, गर्भवति महिलाएँ एवं धात्री महिलाएँ इसका लाभ ले सकते हैं। आँगनवाड़ी केन्द्रों के माध्यम से बच्चों एवं महिलाओं के स्वास्थ्य की जाँच कर निःशुल्क दवाईयाँ तथा खण्ड चिकित्सालय में आने जाने का किराया दिया जाता है।
3. समेकित बाल विकास योजना (आइ. सी. डी. एस.)- इसके अन्तर्गत 6 वर्षों तक के बच्चों का मनोवैज्ञानिक, शारीरिक एवं सामाजिक विकास के लिए पूरक पोषण आहार, स्वास्थ्य जाँच, परामर्श सेवाएँ टीकाकरण, स्वास्थ्य शिक्षा प्रदान की जाती हैं। कमजोर वर्ग के बच्चों एवं महिलाओं को इसके माध्यम से लाभान्वित किया जाता है।
4. राष्ट्रीय मातृत्व सहायता योजना- यह योजना 15 अगस्त 1995 से पूरे देश में चलाई जा रही है। इसके अन्तर्गत महिलाओं को गर्भावस्था के समय चिकित्सा एवं आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। प्रथम दो जीवित जन्म तक महिला

को 300 रु. राशि प्रसव से 12 से 8 माह पूर्व प्रदान की जाती है। इसके लिए महिला की आयु 19 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

5. वात्सल्य योजना- सुरक्षित प्रसव के लिए 19 वर्ष से अधिक उम्र वाली गर्भवती माताओं को दो जीवित जन्म तक सरकारी अस्पताल में प्रसव कराने पर 500 रु. की राशि प्रदान की जाती है तथा निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ दी जाती हैं।
6. जाबाली योजना- वैश्यावृत्ति कुप्रथा को रोकने के लिए तथा आदिवासी महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए इस योजना को प्रारंभ किया गया है। इसके अन्तर्गत बच्चों के लिए आश्रम, महिलाओं के लिए आश्रम तथा स्वास्थ्य जाँच, उपचार एवं जनचेतना प्रचार प्रसार किया जाता है।
7. अन्य योजनाएँ-उपरोक्त योजनाओं के क्रियान्वयन से महिला एवं बाल स्वास्थ्य स्तर में पहले अपेक्षा काफी सुधार हुआ है। शिशु एवं मातृ मृत्यु दर में कमी आई है। सरकार द्वारा चालित योजनाओं का लक्ष्य माता एवं शिशु स्वास्थ्य स्तर को बहतर बनाना एवं मृत्यु दर में कमी लाना तथा दूरस्थ क्षेत्रों में चिकित्सीय स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराना है। नगरों तथा इसके आस-पास निवास करने वाले आदिवासी लोग इन योजनाओं का लाभ उठा रहे हैं। इनमें धीरे-धीरे जागृति पैदा हो रही है। वह दिन दूर नहीं जब आदिवासियों का स्तर भी सामान्य व्यक्तियों की तरह अच्छा होगा तथा ये पिछड़े नहीं रहेंगे।

निष्कर्ष एवं सुझाव

सामान्यतः देखा गया है कि आदिवासियों का स्वास्थ्य स्तर निम्न होता है जिसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे आर्थिक स्थिति का निम्न होना, बहतर स्वास्थ्य सेवाओं का न मिल पाना, शिक्षा की कमी आदि।

अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदिवासियों में सर्वाधिक लिंगानुपात गोंड जनजाति की महिलाओं में पाया जाता है तथा सबसे कम सहरिया जनजाति की महिलाओं में है।

यदि साक्षरता की बात की जाए तो साक्षरता प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण है। साक्षरता सामाजिक परिवर्तन का आधार है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का साक्षर होना आति आवश्यक है विशेषकर महिलाओं के लिये, क्योंकि महिला से ही सम्पूर्ण विश्व जुड़ा हुआ है। एक साक्षर माँ ही अपने परिवार को तथा उसके शिशु को स्वस्थ रख सकती है। आदिवासियों में शिक्षा का आभाव होता है जिसके कारण इनमें मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक पाई जाती है। अध्ययन में पाया गया है कि आदिवासियों महिलाओं में सर्वाधिक साक्षरता गोंड जनजाति की महिलाओं में है, तथा सबसे कम साक्षरता सहरिया जनजाति की महिलाओं में है।

यदि प्रजनन दर की बात की जाए तो आदिवासी महिलाओं में प्रजनन दर अधिक

है। ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा शहर में रहने वाली आदिवासी महिलाओं में प्रजनन दर का स्तर कम पाया जाता है। प्रायः देखा जाता है कि निर्धन एवं पिछड़ी जाती के लोगों में विशेषतः महिलाओं प्रजनन से संबंधित बीमारियाँ अधिक पाई जाती हैं, इनमें यौन संक्रमण अधिक पाया जाता है। आदिवासियों में महिला स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता परिणाम स्वरूप आदिवासी महिलाओं में रक्ताल्पता, रक्तविषाक्तता, प्रदर तथा प्रजनन से संबंधित कई प्रकार की बीमारियाँ पाई जाती हैं।

सामान्यतः आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य का स्तर निम्न होता है। आदिवासियों का भोजन पोषक तत्वों से रहित होता है अतः आदिवासी महिलाओं एवं बच्चों में कुपोषण से संबन्धित बीमारियाँ अधिक पाई जाती हैं। यही कारण है कि आदिवासी महिलाओं एवं बच्चों की मृत्यु दर अधिक है।

जनजातियाँ सामान्यतया वनों में निवास करती हैं। ये अपने जीवनयापन के लिए वनोपज संग्रहण, पशुपालन, पशुओं का शिकार तथा कृषि करते हैं।

सामान्यतः शिक्षित महिलाओं की अपेक्षा अशिक्षित महिलाओं में गर्भधारण अधिक पाया जाता है। अतः आदिवासी महिलाओं में ग्रामीण आदिवासी महिलाओं में शहरी आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा गर्भधारण का प्रतिशत अधिक पाया जाता है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं में मातृ-मृत्यु दर अधिक पाई जाती है। सर्वाधिक मातृ-मृत्यु रक्ताल्पता एवं रक्त-स्राव के कारण होती है।

मातृ-मृत्यु एवं शिशु मृत्यु को कम करने तथा मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए भारत सरकार द्वारा परिवार कल्याण कार्यक्रम प्रारंभ किया गया है। परिवार कल्याण कार्यक्रम बहुत ही महत्वपूर्ण आयाम है। इस कार्यक्रम के कारण स्त्रियों में बार-बार होने गर्भधारण की समस्या से छुटकारा मिल गया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छोटा एवं सुखी परिवार के लिये परिवार नियोजन के साधन उपलब्ध कराए जाते हैं। लेकिन आदिवासी लोग विशेषतः ग्रामीण आदिवासी इसके महत्व को नहीं समझ पाते तथा इसके साधनों का उपयोग नहीं करते हैं। अध्ययन में पाया गया है कि आदिवासियों में परिवार नियोजन के साधनों के उपयोग में महिला बन्धुीकरण का प्रतिशत सर्वाधिक है।

आदिवासियों में स्वच्छन्द यौन संबंध पाए जाते हैं जिससे इनमें यौन संक्रमण अधिक पाया जाता है। अध्ययन में पाया गया है कि भारत के लगभग 44.8 प्रतिशत आदिवासी एच.आई.वी./एड्स से ग्रसित हैं।

सुझाव

सरकार द्वारा तो योजनाएँ चलाई जा रही हैं, लेकिन इनका लाभ पूर्णतः आदिवासियों को नहीं मिल पा रहा है। आज भी आदिवासी महिलाओं एवं बच्चों की मृत्यु संख्या सामान्य की अपेक्षा अधिक है। महिलाओं का सामाजिक स्तर निम्न है तथा बच्चे

कुपोषण से ग्रसित हैं। इनमें शिक्षा का आभाव है। इन सभी समस्याओं को देखते हुए आदिवासियों की ओर विशेष रूपसे ध्यान देने की आवश्यकता है। इनकी स्थिति में सुधार के लिए इनमें शिक्षा की भावना जागृत करना आवश्यक है तथा स्वास्थ्य संबंधी सेवाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए। इनके आर्थिक स्तर में सुधार आवश्यक है क्योंकि सारी बीमारियों की जड़ गरीबी है। अतः आदिवासियों में आर्थिक एवं स्वास्थ्य विकास के लिए तथा आर्थिक एवं स्वास्थ्य स्तर में सुधार के लिए ठोस कदम उठाए जाने चाहिए।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य का स्तर निम्न पाया जाता है। आदिवासी महिलाओं में ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा नगरीय आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति बेहतर होती है। नगरीय आदिवासी महिलाओं में प्रजनन दर, मृत्यु दर यौन संक्रमण ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा कम पाया जाता है।

अध्ययन में पाया गया कि सामान्य महिलाओं की अपेक्षा आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति निम्न है। सामान्य महिलाओं की अपेक्षा आदिवासी महिलाओं में साक्षरता कम पाई जाती है। ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा नगरीय आदिवासी महिलाओं में साक्षरता अधिक पाई जाती है।

संदर्भ ग्रंथ

- * अग्रवाल, पी. सी. (1987), दण्डकारण्य “मध्यप्रदेश का प्रादेशिक भूगोल”, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
- * दुबे सुशील कुमार (1999) “परिवार कल्याण कार्यक्रम का जनजातीय स्वास्थ्य दशाओं पर प्रभाव” समाजशास्त्र विषय में पी. एच. डी. शोधग्रंथ रानीदुर्गावती विश्व विद्यालय, जबलपुर।
- * हीरालाल, (2000), “जनसंख्या भूगोल” राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।
- * केतकर, मुकुन्द, (2000), “कम्यूनिटी हेल्थ” एन. आर. ब्रदर्स, इन्दौर।
- * लोक स्वास्थ्य परिवार कल्याण मध्यप्रदेश (2006) “प्रसव परिचारिका मार्गदर्शिका” यूनिसेफ भोपाल म.प्र.।
- * मिश्रा विजया (1998) “गर्भधारण एवं पालन पोषण की मान्यतायें” (समाज शास्त्रीय अध्ययन) पी. एच. डी. शोधग्रंथ रानी दुर्गावती विश्व विद्यालय जबलपुर।
- * नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे, (I, II, III)
- * प्रसाद, ललित, (1975), “भारतीय आदिवासी” उत्तर प्रदेश शासन, राजग्रन्थि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मागांधी मार्ग, लखनऊ।
- * श्रीवास्तव, डॉ. लोकेश (2005), “ट्राइब्स ऑफ नर्मदा वैली”, श्री पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- * श्रीवास्तव, डॉ. लोकेश (2007), “ट्राइबल सिनेरियो”, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- * श्रीवास्तव, डॉ. लोकेश (2010), “मध्यप्रदेश का भूगोल” शारदा पुस्तक सदन, इलाहाबाद।
- * स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, रिपोर्ट 2010.
- * टेखरे यादलाल, (1989) “आदिवासी महिलाओं पर परिवार कल्याण का प्रभाव” समाजशास्त्र विषय में पी. एच. डी. शोध ग्रंथ रानी दुर्गावती विश्व विद्यालय, जबलपुर।

“भारत के संघीय ढाँचे में प्रांतीय स्वायत्तता की मांग: एक मूल्यांकन”

डॉ. रणजीत कुमार

सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

भारत में संघवाद का स्वरूप, उसकी कार्यप्रणाली तथा सियासी हालातों के आधार पर केन्द्र-राज्य संबंधों में होने वाले बदलाव राजनीतिक समीक्षकों के लिए हमेशा से एक मौजू विषय रहा है। आज भी संघीय ढाँचे के तहत राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न समकालीन भारतीय राजनीति में एक ज्वलंत मुद्दा है जिस पर गहन विचार मंथन की दरकार है। जबसे एकदलीय प्रभुत्व का जमाना समाप्त हुआ और केन्द्र में तथा राज्यों में अलग-2 दलों की सरकारें बननी शुरू हुई, केन्द्र सरकार पर विपक्षी दल की सरकारों को राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से अस्थिर एवं परेशान करने का आरोप लगने लगा। फलतः राज्यों की स्वायत्तता की माँग जोर-शोर से उठने लगी। यहाँ राज्यों की स्वायत्तता के अर्थ को समझ लेना जरूरी है।

भारत के संघीय ढाँचे के अंतर्गत ‘राज्यों की स्वायत्तता’ से मतलब है कि राज्यों के आंतरिक मामलों में केन्द्र सरकार की दखलंदाजी कम से कम हो तथा संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर उन्हें निर्बाध एवं निरपेक्ष सत्ता प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त बनाया जाए ताकि वे जनकल्याण के कार्यों को स्थानीय जरूरत एवं योजनाओं के अनुसार स्वतंत्र एवं निर्बाध रूप से कर सकें। केन्द्र की राजनीतिक एवं प्रशासनिक शक्तियाँ भी न्यूनतम रहे। उनका कार्य विदेश नीति, रक्षा, मुद्रा, रेल एवं जनसंचार के विषयों तक सीमित और संकुचित कर दिया जाय। केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जाए जिससे वे साधनों के अभाव में खुद को असहाय एवं दया का पात्र न समझे। राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतंत्रता से है और न सम्प्रभुता से। यह एक ऐसा वैधानिक दर्जा है जिससे राज्यों को कतिपय निर्दिष्ट क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्रता तथा कम से कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है।

राज्यों की स्वायत्तता पर विचार व्यक्त करते हुए पूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने कहा कि “राज्य सरकारों को सामाजिक सेवाओं और विकास के विषयों पर जो उत्तरदायित्व दिए गए हैं, उनके अनुरूप विस्तृत और लचीले राज्य कर के साधन उनके पास नहीं हैं। केन्द्र का रूझान विकास और शासन के अधिक से अधिक

विशयों का उत्तरदायित्व स्वयं लेने का है जो कि विकेन्द्रीकरण के स्वीकृत सिद्धांत के खिलाफ है। केन्द्र के पास राज्य में उपलब्ध सरकारी मशीनरी से अधिक कुशल और भिन्न तंत्र नहीं है और न अनुभव यह बताता है कि राज्यों की तुलना में अधिक बुद्धिमानी, योग्यता या बाहरी तत्वों के प्रभाव से स्वतंत्रता प्रदर्शित की हो। राज्यों ने केन्द्र की इस प्रवृत्ति को कभी पसन्द नहीं किया। यदि इस प्रवृत्ति को रोका नहीं गया तो राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की माँग कटुता के साथ उठाई जा सकती है।¹¹ आज की संघीय सरकार अपने कमजोर राजनीतिक चरित्र के कारण बड़े भागीदार की भूमिका निभाने में असमर्थ है। जिन परिस्थितियों के कारण संविधान निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, वे परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। अब संविधान में संशोधन करके केन्द्र और राज्यों को संघवादी ढाँचे में समान एवं स्वायत्त भागीदार बनाया जाना चाहिए। इसी से भारतीय संघात्मक व्यवस्था प्रभावशाली ढंग से काम करेगी।¹²

भारत में संघीय ढाँचे के तहत राज्यों की स्वायत्तता की माँग वस्तुतः 1967 के आम चुनाव के बाद ही बुलंद हुई जब 8 राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई। इस सियासी बदलाव के फलस्वरूप राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों तथा केन्द्र सरकार के बीच कदम-2 पर टकराव आरंभ हुआ। इसीलिए लगभग सभी गैर कांग्रेसी सरकारों वाले राज्यों की ओर से केन्द्र के बढ़ते हुए नियंत्रण के खिलाफ आवाज उठाई गई और यह माँग की गई कि राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिलनी चाहिए और इस दृष्टिकोण से केन्द्र और राज्यों के संबंधों को नए सिरे से निश्चित किया जाना चाहिए। केन्द्र के विरुद्ध अधिकतम स्वायत्तता की माँग एक ओर प. बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार की ओर से उठाई गई और दूसरी ओर तमिलनाडु में डी.एम.के. सरकार ने इसे एक आंदोलन का रूप दे दिया। करुणानिधि ने यह नारा दिया कि “सेल्फ रूल इन दि स्टेट्स एंड कंपोजिट रूल एट दि सेंटर” और इस नारे को डी.एम.के. दल के संविधान में भी शामिल किया गया।¹³ इसी तरह उड़ीसा के तत्कालीन मुख्यमंत्री बीजू पटनायक ने अपने प्रदेश के आर्थिक संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने तथा विदेशों से प्रत्यक्ष रूप से सहायता लेने की माँग की।¹⁴ नेशनल कांफ्रेंस एवं अकाली दल की ओर से भी राज्यों के लिए अधिक से अधिक स्वायत्तता देने की माँग की गई और कहा गया कि रक्षा, विदेश नीति, रेल, मुद्रा एवं संचार व्यवस्था के अतिरिक्त सारे अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए।

केन्द्र और राज्यों के बीच 1967 के बाद से जो टकराव उत्पन्न हुए, उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) संस्थागत विवाद (2) कार्यात्मक विवाद तथा (3) आर्थिक विवाद।

(1) **संस्थागत विवाद**- संस्थागत विवाद में सबसे मत्वपूर्ण है केन्द्र सरकार के एजेंट के रूप में राज्यों की राजनीति में राज्यपाल की भूमिका। केन्द्र सरकार राज्यों में विपक्षी दल की सरकारों को कानून-व्यवस्था खराब होने या संवैधानिक मशीनरी

के विफल होने संबंधी रिपोर्ट संबंधित राज्य के राज्यपाल से माँगवाती है और धारा 356 का प्रयोग कर राज्य सरकारों को बर्खास्त करने का उपक्रम करती रहती है। अब तक 104 बार इस धारा का प्रयोग कर विपक्षी दल की सरकार को बर्खास्त किया गया है। सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों तथा केन्द्र में 1990 के बाद लगातार गठबंधन सरकारें बनने के कारण इस प्रवृत्ति पर एक हद तक लगाम लगा है।⁵

राज्यों की माँग रही है कि केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उनके बीच संतुलन बना रहे और केन्द्र का राज्यों पर जो प्रभुत्व है, उसका अंत किया जा सके। राज्यों की ओर से की जाने वाली माँगों में समवर्ती सूची का विस्तार, स्वविवेक अनुदानों की समाप्ति, योजना आयोग को स्थायी एवं संवैधानिक स्वरूप प्रदान करना, अनुच्छेद 263 के अधीन अंतर्राज्यीय परिषद का गठन, राज्य सरकार के सलाह से राज्यपाल की नियुक्ति आदि प्रमुख रहे हैं।

केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक संबंधों को पुनर्निर्धारित करने और उसमें संस्थागत परिवर्तन लाने के उद्देश्य से अगस्त 1969 में तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्यमंत्री करुणानिधि ने डा. पी. वी. राजमन्मार की अध्यक्षता में एक तीन सदस्यीय समिति गठित की जिसने राज्यों की स्वायत्तता के परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित सुझाव दिए।⁶

- (क) एक अंतर्राज्यीय परिषद स्थापित की जाए जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री तथा राज्यों के मुख्यमंत्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हों। इस परिषद से सलाह किए बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाए जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हों।
- (ख) योजना आयोग को समाप्त कर दिया जाए तथा उसके स्थान पर एक संवैधानिक निकाय स्थापित किया जाय।
- (ग) करों के वितरण में राज्यों का हिस्सा बढ़ाया जाए।
- (घ) राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मंत्रीमंडल के सलाह से की जाए।
- (ङ.) अनु. 256, 257 और 339 (2) को संविधान से निकाल दिया जाए। इसके अलावे धारा 356, 357 को स्थगित कर दिया जाय।

डी.एम.के. के बाद पंजाब के अकाली दल ने भी राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने हेतु 1973 में आनंदपुर साहिब प्रस्ताव पास किया जिसमें माँग की गई कि केन्द्र सरकार का अधिकार देश की प्रतिरक्षा, विदेशनीति, संचार, मुद्रा एवं रेलवे तक ही सीमित रहना चाहिए।⁷

(2) कार्यात्मक विवाद- केन्द्र तथा राज्यों के बीच विरोध का दूसरा विषय राज्य में कानून-व्यवस्था के प्रश्न पर केन्द्र का कहना रहा है कि अनु. 256 एवं 257 के अनुसार राज्य सरकार अपनी सीमाओं में केन्द्र द्वारा बनाई गई विधियों को लागू करने और केन्द्र के निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य है। कानून-व्यवस्था बनाए

रखने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार केन्द्रीय सुरक्षा बलों को राज्य के बिना अनुमति से तैनात करती रही है। जबकि कानून-व्यवस्था राज्य सूची का विषय है। अभी इसी माह में केन्द्रीय कैबिनेट ने NCTC (National Counter Terrorism Centre) का गठन किया है जिसे 01 मार्च 2012 से काम करना है लेकिन केन्द्र ने इस मुद्दे पर राज्यों से सलाह-मशविरा नहीं किया। फलतः सभी गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों ने इस पर आपत्ति जतायी है तथा इसे राज्यों की स्वायत्तता पर चोट एवं संघीय भावना के प्रतिकूल बताया है।⁸ राज्यों की दूसरी शिकायत केन्द्र द्वारा सी.बी.आई. के राजनीतिक उपयोग से संबंधित है। केन्द्र अपने राजनीतिक फायदे के लिए विपक्षी दल के नेताओं को सी.बी.आई. जाँच में उलझाकर उनका समर्थन हासिल करती है और मामला सालों-साल खींचता रहता है। मुलायम सिंह यादव, मयावती, लालू प्रसाद जैसे नेता इसके सटीक उदाहरण हैं।

(3) **आर्थिक विवाद**— वर्तमान राजनीतिक परिवेश में केन्द्र और राज्यों के बीच विवाद एवं टकराव का मूल कारण राज्यों की आर्थिक स्थिति का खस्ताहाल होना, केन्द्रीय सहायता दिए जाने में राजनीतिक आधार पर भेदभाव करना, जरूरत के हिसाब से सहायता एवं अनुदान नहीं देना एवं केन्द्र का असहयोगपूर्ण एवं अहंकारी रवैया रहा है। राज्यों की शिकायत रही है कि योजना आयोग जैसे संविधानोत्तर संस्था का बजट एवं अनुदान, आवंटन में निर्णायक भूमिका होने से राज्यों की स्थिति भिखारी जैसी बना दी गई है। आर्थिक सहायता, अनुदान, रियायती दर पर कर्ज, आपदा के समय सहायता देने जैसे वित्तीय मामले में केन्द्र द्वारा विरोधी दल के राज्य सरकारों के साथ सौतेले व्यवहार ने राज्यों की स्वायत्तता की माँग को बल प्रदान किया है। राज्यों के पास आय के साधन नहीं के बराबर है तथा विभिन्न करों का अधिकांश भाग केन्द्र के पास चला जाता है। राज्यों की माँग है कि राज्यों से वसूले गए करों में राज्य का हिस्सा 75 प्रतिशत होना चाहिए। पं. बंगाल के पूर्व वित्तमंत्री अशोक मित्र ने राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता के पक्ष में जोरदार तर्क देते हुए कहा कि केन्द्र को सभी प्रत्यक्ष करों और अधिकांश अप्रत्यक्ष करों के नियंत्रण का अधिकार है। केन्द्र के पास विदेशी मुद्रा का सुरक्षित भंडार भी है जिसमें वह घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकता है जबकि राज्यों के पास इस तरह के स्रोत नहीं हैं। यदि राज्यों को अधिक वित्तीय शक्तियाँ नहीं दी गई तो उन्हें उत्तरदायित्व सौंपने का कोई लाभ नहीं होगा।⁹ अभी हाल में राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में जय ललिता ने राज्यों की जर्जर वित्तीय स्थिति के लिए केन्द्र को जिम्मेवार ठहराया।¹⁰ वास्तविकता यह है कि केन्द्र में गठबंधन सरकारों के दौर में राज्यों की राजनीतिक स्थिति तो मजबूत हुई है लेकिन आर्थिक मामलों में हालात जस के तस है। आज सारा विवाद आर्थिक संसाधनों के न्यायोचित एवं निष्पक्ष बटवारे को लेकर है। बिहार का उदाहरण सामने है। बटवारे के बाद सारे कल-कारखाने खान-खनिज झारखंड में चले गए। बिहार आर्थिक संसाधनों के मामले में कंगाल हो गया। ऐसे में बिहार की वर्तमान सरकार केन्द्र से 'विशेष राज्य' का दर्जा देने हेतु गुहार लगा रही है जिससे राज्य में

आर्थिक विकास की गति तेज हो सके, लेकिन राजनीतिक कारणों से केन्द्र ऐसा करने से इंकार कर रहा है। ऐसे तमाम प्रश्न हैं जो राज्यों को उद्देलित करते रहते हैं।

संघीय ढाँचे के अंतर्गत केन्द्र राज्य संबंधों पर पुनर्विचार करने हेतु केन्द्र सरकार ने 1983 में रणजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में तीन सदस्यीय आयोग बनाई जिसने 1987 में एक विस्तृत एवं व्यापक रिपोर्ट प्रस्तुत किया। आयोग ने अपने सर्वसम्मति रिपोर्ट में कहा कि राज्यों को अधिक अधिकार देने के लिए संविधान संशोधन की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि संविधान में पहले ही राज्यों को उनके क्षेत्र में अधिक स्वायत्तता देने का प्रावधान है।¹¹ आयोग ने संस्तुति करते हुए कहा कि राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति संबंधित राज्य सरकार के सलाह से गैर राजनीतिक लोगों में से की जानी चाहिए तथा बहुमत का निर्णय सदन में होनी चाहिए न कि राजभवन में। धारा 356 का प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप में किया जाना चाहिए। आयोग ने राज्यों के पारस्परिक विवाद के निपटारे हेतु प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक अंतर्राज्यीय परिषद् के गठन की सिफारिश की जिसमें सभी राज्य के मुख्यमंत्री भी सदस्य होंगे। इस आयोग की अधिकांश सिफारिशें आज तक लागू नहीं हो पाए।

उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन-विश्लेषण से राज्यों की स्वायत्तता के पक्ष में कुछ मजबूत तर्क उभर कर सामने आते हैं-

- (1) राज्यों द्वारा स्वायत्तता की माँग संघीय ढाँचे के तहत ही की जा रही है, अतः इससे विघटन का खतरा नहीं है।
- (2) आर्थिक नियोजन एवं ग्रामीण विकास संबंधी बढ़ते हुए कार्यों को देखते हुए राज्यों को वित्तीय साधनों की दृष्टि से केन्द्र का मोहताज बनाए रखना उचित नहीं है।
- (3) केन्द्र और राज्यों में अलग-2 दलों की सरकारें होना स्वाभाविक है, किन्तु यह देखा गया है कि राज्यों को अनुदान एवं सहायता देते समय केन्द्र सरकार सौतेला व्यवहार करती है। वह अपने दल की राज्य सरकारों पर मेहरबान होती है लेकिन विरोधीदल की राज्य सरकारों की जायज माँगों को भी नकार देती है।
- (4) राज्य-स्वायत्तता से भारत में सच्ची संघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। फिलहाल तो राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी है। यद्यपि 1990 से केन्द्र में लगातार गठबंधन सरकार के बनने से क्षेत्रीय दलों और राज्य सरकारों की राजनीतिक ताकत में इजाफा हुआ है तथापि राज्य स्वायत्तता की अवधारणा के क्रियान्वयन से ही 'समान और स्वायत्त भागीदारी' वाली संघ व्यवस्था अस्तित्व में आ सकेगी।
- (5) राज्य-स्वायत्तता से राज्यों में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। वे अपनी आय के अधिकतम स्रोत खोजें और केन्द्र पर उनकी निर्भरता धीरे-धीरे कम हो जाएगी। पुनः राज्य सरकारें लोक लुभावन वादों से भी बचने का प्रयास करेंगी।

यहाँ यह समझने की दरकार है कि शक्तिशाली केन्द्र का अर्थ दिल्ली में शक्ति का केन्द्रीकरण करने से नहीं है और राज्यों को अधिक स्वायत्तता देना केन्द्र को कमजोर करना नहीं है। केन्द्र, राज्यों से उनकी पहल करने और निर्णय करने की शक्ति लेकर ताकतवर नहीं बनता, वह केवल तभी शक्तिशाली होता है जब राज्य को अपनी प्रशासनिक एवं विकास की समस्याओं को स्वयं हल करने की क्षमता और स्वतंत्रता प्राप्त होती है।¹² स्पष्ट है कि राज्यों की स्वायत्तता भारत में संघवाद के सेहत के लिए जरूरी है। तभी केन्द्र और राज्य सहयोगी के रूप में कार्य करेंगे न कि प्रतियोगी के रूप में। इससे देश में राजनीतिक सौदेबाजी की प्रवृत्ति पर भी लगाम लगेगा। दूसरे, केन्द्र और राज्यों के बीच संबंधों की एक संतुलनकारी स्थिति को अपनाए जाने की नितांत आवश्यकता है क्योंकि राज्यों की वित्तीय दुर्दशा ऐसी है कि राज्य सरकारें अपने बलबूते पर कोई योजना चालू नहीं कर सकती और प्राकृतिक आपदा का सामना करने के लिए केन्द्र से अनुनय-विनय करना पड़ता है। हर छोटे-बड़े काम के लिए मुख्यमंत्रियों को दिल्ली दरबार में हाजिरी देनी पड़ती है। सुशासन एवं विकास की दृष्टि से भी राज्यों की माँग एक सीमा तक जायज प्रतीत होती है। अतः मेरा स्पष्ट मत है कि राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा की दृष्टि से केन्द्र के सशक्त होने की आवश्यकता निर्विवाद है तो जनहितकारी कार्यों के विस्तार तथा सेवाओं को क्षमतावान बनाने के लिए राज्यों की स्वायत्तता की माँग भी तर्क संगत ठहरती है। अतः राज्यों की स्वायत्तता एवं उनके शासनाधिकार के विस्तार के प्रश्न पर गंभीर चिन्तन-मनन की दरकार है और वह भी संवधान के वर्तमान ढांचे के अंतर्गत एक समय-सीमा के भीतर।

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. नीलम संजीव रेड्डी : राष्ट्रपति के संस्मरण, 1989 पृ. 79 (यह विचार उन्होंने 31 अक्टूबर 1981 को राष्ट्रीय एकता पर सरदार पटेल मेमोरियल लेक्चर देते हुए व्यक्त किया था)
2. नंदकिशोर त्रिखा 'संघ और राज्य-एक और गोष्ठी : नतीजा कुछ नहीं' नवभारत टाइम्स, 23 दिनांक 1981, पृ. 41
3. दि टाइम्स ऑफ इंडिया, दिल्ली, 11 जनवरी 1973
4. हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड दिल्ली, 26 दिसम्बर 1973
5. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, पटना 7 जून 2009
6. रिपोर्ट ऑफ सेंटर स्टेट रिलेशन्स इन्वारी कमिटी (तमिलनाडु सरकार, 1971) पृ. 215-27
7. दिनमान, दिल्ली, 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर, 1977 पृ. 21-22
8. दि टाइम्स ऑफ इंडिया, पटना, 18 फरवरी 2012 (ममता बनर्जी, जय ललिता, नवीन पटनायक, नरेन्द्र मोदी, प्रकाश सिंह बादल, मायावती एवं शिवराम सिंह चौहान ने NCTE के गठन का विरोध किया है।)
9. दि टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 12 जुलाई 1977
10. पंटेलाइन, चेन्नै, 25 दिसम्बर 2011, पृ. 18-19
11. कुलदीप नायर, सरकारिया आयोग की रिपोर्ट, राजस्थान पत्रिका, 6 दि. 1987
12. नीलम संजीव रेड्डी, राष्ट्रपति के संस्मरण, पृ.-81

बिहार में चुनाव की राजनीति एवं दवाब समूह

डॉ. पवन कुमार सिंह

व्याख्याता राजनीतिशास्त्र, वर्धमान महावीर महाविद्यालय, पावापुरी

बिहार का आम चुनाव चाहे वह संसदीय चुनाव हो अथवा विधान सभा का चुनाव, संपूर्ण देश के चुनाव को प्रभावित करता रहा है। सवाल है तो यह खुला सत्य है कि बिहार की राजनीति जाति-पाति तथा धर्म पर आधारित रही है। आजादी पूर्व कांग्रेस की चालीस साल की सत्ता तथा गैर कांग्रेसी सरकार की यह त्रासदी रही है कि ये सभी जाति धर्म के आधार पर बिहार की सत्ता पर काबिज होते आए हैं। जो इसकी सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियां इस विषमता की साक्षी है। जब व्यक्ति लोकतंत्र में योगदान करता है तो उसे जनप्रतिनिधियों के बेनाम चेहरों से धोखा खाना पड़ता है वे व्यक्ति साधु नहीं बल्कि साधुवेशधारी सेवित होते हैं जो सत्ता पाते ही अपना असली रूप प्रस्तुत कर देते हैं।

देश में विभिन्न राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दल हैं तो बिहार जैसे प्रांत में भी काम करते रहे हैं।

(1) अखिल भारतीय कांग्रेस पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, समता पार्टी, पिपुल्स पार्टी, राष्ट्रीय जनतादल, लोक जनशक्ति पार्टी इत्यादि। ये दल राष्ट्रीय स्तर पर तथा कुछ, प्रांतीय स्तर पर क्रियाशील हैं। ये सभी पार्टियां चुनाव में बेहिसाब खर्च की परिपार्टी अपनाये हुए हैं जिसका पूरा-पूरा भार जनता वहन करती है। यह देश के प्रथम आम चुनाव से ही परिपार्टियां बनी हुई है जैसे 1952 के आम चुनाव में पंडित जवाहर लाल नेहरू को चुनाव से ही परिपार्टियां बनी हुई है जैसे 1952 के आम चुनाव में पंडित जवाहर लाल नेहरू को चुनाव प्रचार के लिए यह खास व्यवस्था की गई कि पूरे देश में चुनाव प्रचार के लिए इन्हें किस प्रकार भेजा जाय। इसके लिए वायु सेना का विशेष विमान उपलब्ध कराया गया जिसका खर्च अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी वहन करेगी। किन्तु कालान्तर में यह खर्च पुनः जनता पर कर भार के रूप में छोड़ दिया गया।

समय के साथ सरकारी खर्च और पार्टी के खर्चों का अंतर मिटता गया जिसका परिणाम कालान्तर में यह हुआ कि देश में कालेधन कमाने वाले नेताओं में कालेधन कमाने की होड़ लग गई। फलतः चुनाव महंगा होता चला गया तथा चुनाव में अपराध की प्रवृत्ति बढ़ती गई जिससे राजनीति का अपराधी करण के कारण देश की जनता अपनी तबाही भरपूर महसूस किया और अपराधी प्रवृत्ति के लोगों को राजनीति से

बाहर करने का भरपूर प्रयास किया। जिसका परिणाम देश और राज्य में बार-बार चुनाव की नौबत आयी। उसका ताजा उदाहरण बिहार विधानसभा 2005 का चुनाव परिणाम देखने को मिलता है जिसमें एक साल में दो चुनावी खर्च राज्य की जनता को झेलना पड़ा। फलतः बिहार की जनता पूर्ण रूपेण अपराधी प्रवृत्ति के नेताओं का विरोध करने का मन बनाया अतः बाहुवलियों की चुनाव में जबरदस्त हार हुई। यह परिणाम जन-दबाव का नतीजा रहा। चुनाव खर्च में बेतहाशा वृद्धि ने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया साथ ही जनता को भी भ्रष्ट बना दिया।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चुनाव प्रक्रिया में व्यापक सुधार की आवश्यकता है जिसमें कई सुझाव लाये गये हैं। मुख्य चुनाव आयुक्त टी.एस. कृष्णामूर्ति ने वर्तमान प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह को पत्र लिखकर यह सलाह दी है कि ऐसा कानून का प्रावधान किया जाय जिसमें चुनाव से छः माह पूर्व जिनके खिलाफ अदालत में आरोप पत्र दाखिल हो चुका है उन्हें चुनाव लड़ने से रोक दिया जाना चाहिए। इससे देश की राजनीति में बड़ा सुधार लाया जा सकता है। उसने यह भी अपने सुझाव में संकेत दिया कि कानून तोड़ने वाला व्यक्ति कानून बनाने वाली संसद में बैठे तो इससे बड़ा अपराध क्या हो सकता है।

यह खुलेआम जनतंत्र का मखौल है। उसने इस पर जोर दिया कि जेल में बंद व्यक्ति चुनाव लड़ने से वंचित रहे। चुनाव आयोग ने भारत सरकार को यह भी सलाह दिया कि नामांकन पत्र भरते समय यदि गलत सूचनाएं दी जाती है तो चुनाव बाद भी उन्हें दंड का भागी बनना पड़ेगा। शायद वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांसद मंगली लाल मंडल के साथ जो घटना घटी इसी सुझाव का प्रतिफल है। देश एवं राज्य में दल-बदल के कारण बार-बार चुनाव की नौबत से निपटने के लिए दल-बदल निषेधात्मक कानून अस्तित्व में लाया गया।

देश और राज्य के विकास के लिए स्थाई सरकार आवश्यक है। किन्तु बिहार, हरियाणा और झारखंड ऐसे उदाहरण हैं जहां दल-बदल के कारण कई सरकारें शूली पर चढ़ गईं और चुनावी खर्च जनता पर डाल दिया गया। 1967 से 1972 तक का राजनीति परिप्रेक्ष्य साक्षी रही जिसमें दल-बदल के कारण बिहार में कर्पूरी जी की सरकार 2 जून 1971 को गिर गई और तीसरे मुख्यमंत्री के रूप में भोला पासवान शास्त्री आए किन्तु छः महीने के अंदर 9 जनवरी 1972 को राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। फलस्वरूप समय से पूर्व चुनाव की नौबत आ गई। धीरे-धीरे राजनीति में अपराधीकरण एवं भ्रष्टाचार बढ़ता चला गया जो भारतीय लोकतंत्र के लिए अशुभ संकेत के रूप में देखा गया यह भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरे की घंटी साबित हुई। इसी प्रकार की स्थिति केंद्रीय सरकार के सामने आई। जब श्रीमती गांधी केंद्रीय सत्ता के मुख्य बिन्दु थी उसने समय से पूर्व 1971 में चुनाव का संकेत दे दिया जो सरकार कम्युनिष्ट के सहयोग से अल्पमत में होते हुए चल रही थी। ये सभी स्थितियां देश और राज्य को पीछे धकेलने में सहायक सिद्ध हुईं।

1967 के बाद बिहार के नेतृत्व में अस्थिरता रही जिसका मुख्य कारण दल-बदल व्यवस्था ही रहा। 1972 से 1977 के बीच बिहार में कांग्रेस को बहुमत मिली किन्तु पार्टी गुटबंदी के कारण केदार पाण्डेय की कुर्सी चली गई बाद में अब्दुल गफूर मुख्यमंत्री बनाये गए किन्तु समस्तीपुर बम विस्फोट में ललित नारायण मिश्रा की मृत्यु हो जाने से उसके परिवार पर स्नेह व्यक्त करने के लिए उनके अनुज डॉ. जगन्नाथ मिश्र को मुख्यमंत्री की कुर्सी दी गई। किन्तु जे.पी. आंदोलन 1974 में बिहार की धरती से प्रारंभ होकर पूरे देश में फैल गया जिसमें विद्यार्थियों की मुख्य भूमिका रही। जे.पी. आंदोलन का उग्र रूप सरकार की हठधर्मिता के कारण बढ़ती चली गई। उस समय केंद्र में श्रीमती गांधी की सरकार थी। श्रीमती गांधी अपनी जिद्द पर अड़ी रही फलतः आपातकाल देश में लागू किया गया। पुनः 1977 में आम चुनाव हुए जिसमें संपूर्ण उत्तरी भारत में कांग्रेस की भारी हार हुई और श्रीमती गांधी की सरकार चली गई। 1977 में पहली बार गैर कांग्रेसी सरकार बनी जिसके नेता मुरारजी देसाई बनाये गये।

इसी अवधि में बिहार में जनता पार्टी की सरकार बनी जिसका मुखिया कर्पूरी ठाकुर को बनाया गया। नौकरी में आरक्षण से विवाद उत्पन्न हुआ जिसका परिणाम हुआ कि सरकार का मुखिया राम सुंदर दास को बनाया गया। किन्तु जनता पार्टी सरकार में भी आंतरिक खींचतान जोरों पर रहा। जयप्रकाश नारायण सरकार को सलाह देने के लिए मौजूद थे किन्तु आंतरिक गुटबंदी के कारण इसका लाभ भी सरकार नहीं ले सकी। जयप्रकाश नारायण भूमि सुधार कर भूमि सुधार को सुचारू रूप से संचालित कर नक्सल आंदोलन को दबाना चाहते थे किन्तु यह भी सफल नहीं हुआ और केन्द्र में जैसे ही मोरारजी देसाई की सरकार गिरी उसका परिणाम बिहार की राजनीति पर भी पड़ा।

आरक्षण नीति के कारण बिहार का पूरा समाज अगड़ा-पिछड़ा में बंटता चला गया। इस प्रकार बिहार की राजनीति में जातिवाद, भ्रष्टाचार एवं शैक्षणिक कदाचार बढ़ता चला गया। 1977 के मध्य में आंतरिक कलह के कारण जनता पार्टी का विघटन हो गया उस समय बिहार में राम सुन्दर दास की सरकार चल रही थी कांग्रेस ने समर्थन देकर श्री दास की सरकार को बचा लिया किन्तु 1980 में मध्यावधि चुनाव में पुनः कांग्रेस केन्द्र में सत्ता में आ गई।

इस प्रकार उपरोक्त परिदृश्य से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय राजनीति में आजादी के बाद से ही उथल-पुथल एवं जातिवाद, वंशवाद तथा संप्रदायवाद का बोलबाला रहा है। जिसका समय-समय पर जन आंदोलन के सहारे ही दबाव बनाकर सरकार पर कुछ सकारात्मक कार्य कराया गया है। वर्तमान राजनीति में जो उथल-पुथल एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला है जिसका विरोध हमारे देश में गांधीवादी व समाज सेवी अन्ना हजारे जन आंदोलन के सहारे कुछ कानून बनवाने जैसे लोकपाल व लोकायुक्त विधेयक में सफल रहे हैं। यह दबाव समूह का ही परिणाम है।

हरित क्रांति के समान ही किसी नवीन क्रांति की आवश्यकता है। आज हरित क्रांति, श्वेत क्रांति, नीली क्रांति, भूरी क्रांति, लाल क्रांति, सुनहरी क्रांति, गुलाबी क्रांति, रजत क्रांति, पीली क्रांति, गोल क्रांति, ब्राउन या ब्लैक क्रांति के सामान 21वीं सदी में एक इंद्रधनुष क्रांति की आवश्यकता है। अर्थात् एक ऐसी क्रांति की जिसमें यह समस्त क्रांतियाँ एक होकर साथ-साथ चलने में सक्षम हो और भारत की अर्थव्यवस्था को 10 गुना मजबूत करने में कारगर सिद्ध हों।

- भारतीय कृषि उत्पादन में प्रयुक्त सिंचाई, उन्नत बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयों के क्षेत्र में निरंतर खोज प्रशिक्षण एवं प्रयोग द्वारा नई तकनीक का विकास करके भारतीय कृषि को मजबूत किया जा सकता है। तकनीकी परिवर्तन एवं नवीन अनुसंधान भारतीय कृषि को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया आदि के समान पूर्ण विकसित कृषि प्रणाली को निर्मित करने के लिए एक सुव्यवस्थित ठोस आधार प्रदान करेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. अशोक गुलाटी एंड टिम कैली (2003), ट्रेड लिब्रलाइजेशन एंड इंडियन एग्रीकल्चर ऑक्सफोर्ड, न्यू दिल्ली।
2. जी०एस०भल्ला, (2007) इंडियन एग्रीकल्चर साइंस इंडिपेंडेंस NBT, न्यू दिल्ली
3. करतार सिंह (2009) रूलर डेवलपमेंट प्रिंसिपल, पॉलिसीज एंड मैनेजमेंट, पेज 3, एडिशन 3.
4. Ranis, Gustav(2004) author -Lewis's contribution to development thinking and policy, The Manchester School, volume 72,number 6, December pp- 7 12-723
5. राजीव रंजन श्रीवास्तव (2007) इमर्जिंग ट्रेड्स ऑफ क्रॉपिंग पेटर्न इन इंडिया, डी.के. पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली.
6. अय्यर रामस्वामी आर (2011) नेशनल वॉटर पॉलिसी: एन अल्टरनेटिव ड्राफ्ट फॉर कंजर्वेशन इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली सप्लीमेंट, जून 25.

फुटनोट

- 1 प्रो०दंतवाला- द ग्रीन रिवॉल्यूशन, नेसेसिटी ऑफ न्यू एनट्रीकल्युरल डेवलपमेंट।
- 2 मेयर एवं वाल्डविन -इकोनामिक डेवलपमेंट।
- 3 स्वामीनाथन- उन्नत कृषि चयनिका, नई दिल्ली से प्रकाशित 1985.
- 4 आनंद स्वरूप गर्ग- भारतीय अर्थव्यवस्था, राजहंस प्रकाशन 1980, पृष्ठ- 2131.
- 5 आनंद स्वरूप गर्ग- भारतीय अर्थव्यवस्था, राजहंस प्रकाशन 1980,पृष्ठ-2131
- 6 ड्यूइट-इन्डियनइकॉनॉमिक, एस०चाँद प्रकाशन, नईदिल्ली 1980, पृष्ठ- 19
- 7 कृषि विज्ञान अंक- प्रतियोगिता दर्पण पत्रिका- 2009, उपकार प्रकाशन, पृष्ठ- 26

Origins of Guru–Shishya Parampara

Rajesh Prasad

Research Scholar, JPU Chapra

Thus our great sanathana darma tradition has been enriched by the Guru-Sishya relationship. Lord Rama's greatness lay in His relationship with His most loyal disciple Hanuman who taught the essence of Ramanamamritim. Lord Krishna gave us the Bhagavad Gita, thanks to his devoted and most trusted disciple Arjuna. Saint Ramakrishna Paramahansa gave to the world Swami Vivekananda who in turn gave to the world the Ramakrishna Mission, embodying the soul of India.

Saint Thyagaraja, an avatar of Sage Valmiki, composed hundreds of soulful Krithis in praise of God. Two Krithis, in particular, refer to the GURU'S role in guiding the seeker on the right path. Guru leka in 'Gowrimanohari' raga is a Krithi in which the Saint of Thiruvaiyar sings how one who is trapped in the jungle of desire, can come out of it with help of the right Guru. Saint Thyagaraja says however learned and good a person might be, life would be meaningless without the guidance of a Satguru. In another Krithi, Sri Naradamuni Gururaya ganti in Bhairavi raga, Thyagaraja explains how Satguru Smaranam helps one in getting rid of ignorance.

History

Parshvanatha, the twenty-third Tirthankar, is the earliest Jain leader who can be reliably dated. As noted, however, Jain mythology asserts that the line of Tirthankars began with Rushabhdeva; moreover, Jains themselves tend to believe that Jainism has no single founder, and believe that Jainism is the one of the world's oldest religions, predating Hinduism. According to scholars, Parshvanatha probably lived in the 9th Century BCE. In the sixth century BCE, Vardhamana Mahavira became one of the most influential Jainism teachers. He built up a large group of disciples that learned from his teachings and followed him as he taught an ascetic doctrine in order to achieve enlightenment. The disciples referred to him as Jina, which means "the conqueror" and later his followers would use this title to refer to themselves.

It is generally accepted that Jainism started spreading in south India from the third century BCE. i.e. since the time when Badrabahu, a preacher of this religion and the head of the monks'

community, came to Karnataka from Bihar.

Kalinga (modern Orissa and Osiaji) was home to many Jains in the past. Rushabh, the first Tirthankar, was revered and worshipped in the ancient city Pithunda. This was destroyed by Mahapadma Nanda when he conquered Kalinga and brought the statue of Rushabhanatha to his capital in Magadh. Rushabhanatha is revered as the *Kalinga Jina*. Ashoka's invasion and his Buddhist policy also subjugated Jains greatly in Kalinga. However, in the 1st century BCE Emperor Kharvela conquered Magadha and brought Rushabhnath's statue back and installed it in Udaygiri, near his capital, Shishupalgadh. The Khandagiri and Udaygiri caves near Bhubaneswar are the only surviving stone Jain monuments in Orissa. Earlier buildings were made of wood and were destroyed.

Deciphering of the Brahmi script by James Prinsep in 1788 enabled the reading of ancient inscriptions in India and established the antiquity of Jainism. The discovery of Jain manuscripts has added significantly to retracing Jain history. Archaeologists have encountered Jain remains and artifacts at Maurya, Sunga, Kishan, Gupta, Kalachuries, Rashtrakut, Chalukya, Chandel and Rajput as well as later sites. Several western and Indian scholars have contributed to the reconstruction of Jain history. Western historians like Bühler, Jacobi, and Indian scholars like Iravatham Mahadevan, worked on Tamil Brahmi inscriptions.

Geographical Spread and Influence

Jainism has been a major cultural, philosophical, social and political force since the dawn of civilization in Asia, and its ancient influence has been noted in other religions, including Buddhism and Hinduism. This pervasive influence of Jain culture and philosophy in ancient Bihar may have given rise to Buddhism. The Buddhists have always maintained that during the time of Buddha and Mahavira (who, according to the Pali canon, were contemporaries), Jainism was already an ancient, deeply entrenched faith and culture there. Over several thousand years, Jain influence on Hindu philosophy and religion has been considerable, while Hindu influence on Jain rituals may be observed in certain Jain sects. Certain Vedic Hindu holy books contain beautiful narrations about various Jain Tirthankaras (e.g., Lord Rushabdev). There have been no wars fought in the name of Jainism.

For instance, the concept of *puja* is Jain. The Vedic Religion prescribed *yajnas* and *havanas* for pleasing the gods. *Puja* is a specifically Jain concept, arising from the Kannada words, "pu" (flower) and "ja" (offering).

There are many Jain communities in different parts of India and around the world. They may speak local languages or follow

different rituals but essentially follow the same principles. Outside India, the United States, United Kingdom, Canada and East Africa (Kenya, Tanzania and Uganda) have large Jain communities. The first Jain temple to be built outside India was constructed and consecrated in the 1960s in Mombasa, Kenya, although Jainism in the West mostly came about after the Oshwal and Jain diaspora spread to the West in the late 1970s and 1980s. Jainism is presently a strong faith in the United States and several dozen Jain temples have been built there. American Jainism accommodates all the sects. Smaller Jain communities exist in Nepal, South Africa, Japan, Singapore, Malaysia, Australia, Fiji, and Suriname. In Belgium the very successful Indian diamond community, almost all of whom are Jain, are also establishing a temple to strengthen Jain values in and across Western Europe.

Denominations

It is generally believed that the Jain *sangha* divided into two major sects, Digambar and Svetambar, about 200 years after Mahavira's nirvana. Some historians believe there was no clear division until the 5th century. In the book *Outlines of Jainism*, it states, "It seems certain that even at the time of Mahavira the two sects were in existence, though he was able to maintain at least a semblance of unity between them. The final 'parting of ways' came much later". The best available information indicates that the chief Jain monk, Acharya Bhadrabahu, according to the Svetambara version of the split between the two sects, foresaw a 12-year famine and led about 12,000 Digambar followers to southern India. Twelve years later they returned to find the Svetambara sect, and in 453 the Valabhi council edited and compiled the traditional Svetambara scriptures.

References

- Eppsteiner, F. *The Path of Compassion: Writings on Socially Engaged Buddhism*, Berkeley, Ca.: Parallax Press, 1988.
- Faure, B. : *The Rhetoric of Immediacy: A Cultural Critique of Chan/Zen Buddhism*, Princeton: Princeton University Press, 1991.
- Gallay-Pap, P. and R. Bottomley : *Towards and Environmental Ethic in Southeast Asia*, Phnom Penh, Cambodia: The Buddhist Institute, 1997.
- Glasenapp, Helmuth Von : *The Doctrine of Karman in Jain Philosophy*, Fremont, CA: Asian Humanities Press, 2003.
- Gombrich, R. : *Theravada Buddhism: A Social History from Ancient Benares to Modern Colombo*, London and New York, 1988
- Gombrich, R. : *Precept and Practice: Traditional Buddhism in the Rural Highlands of Ceylon*, Oxford: Clarendon Press, 1971.
- Grimes, John : *A Concise Dictionary of Indian Philosophy: Sanskrit Terms Defined in English*, New York, 1996.
- Jaini, Padmanabh : *Collected Papers on Jaina Studies*, Delhi: Motilal Banarsidass Publ, 2000.

Jain Doctrines of Relativity

Dr. Pawan Kumar

Bisanpur, Katra, Muzaffarpur

Anekântavâda is one of the three Jain doctrines of relativity used for logic and reasoning.

The other two are:

- *syâdvâda*—the theory of conditioned predication and;
- *nayavada*—the theory of partial standpoints.

These Jain philosophical concepts made important contributions to ancient Indian philosophy, especially in the areas of skepticism and relativity.

Syadvada

Syadvada is the theory of conditioned predication which provides an expression to *anekanta* by recommending that the epithet *Syad* be prefixed to every phrase or expression. *Syadvada* is not only an extension of *anekanta* ontology, but a separate system of logic capable of standing on its own. The Sanskrit etymological root of the term *Syad* is “perhaps” or “maybe”, but in the context of *Syadvada*, it means “in some ways” or “from a perspective”. As reality is complex, no single proposition can express the nature of reality fully. Thus the term “*syat*” should be prefixed before each proposition giving it a conditional point of view and thus removing any dogmatism in the statement. Since it ensures that each statement is expressed from seven different conditional and relative viewpoints or propositions, *Syadvada* is known as *saptibha Eginaya* or the theory of seven conditioned predications.

These seven propositions, also known as *saptibha Egi*, are:

1. *Syad-asti*—in some ways, it is,
2. *Syad-nasti*—in some ways, it is not,
3. *Syad-asti-nasti*—in some ways, it is, and it is not,
4. *syd-asti-avaktavya*—in some ways, it is, and it is indescribable,
5. *syd-nsti-avaktavya*—in some ways, it is not, and it is indescribable,
6. *syd-asti-nsti-avaktavya*—in some ways, it is, it is not, and it is indescribable,
7. *syd-avaktavya*—in some ways, it is indescribable.

Each of these seven propositions examines the complex and multifaceted nature of reality from a relative point of view of time,

space, substance and mode. To ignore the complexity of reality is to commit the fallacy of dogmatism.

Nayavada

Nayavada is the theory of partial standpoints or viewpoints. *Nayavada* is a compound of two Sanskrit words—*naya* (“partial viewpoint”) and *vada* (“school of thought or debate”). It is used to arrive at a certain inference from a point of view. An object has infinite aspects to it, but when we describe an object in practice, we speak of only relevant aspects and ignore irrelevant ones. This does not deny the other attributes, qualities, modes and other aspects; they are just irrelevant from a particular perspective. Authors like Natubhai Shah explain *nayavada* with the example of a car; for instance, when we talk of a “blue BMW” we are simply considering the colour and make of the car.

However, our statement does not imply that the car is devoid of other attributes like engine type, cylinders, speed, price and the like. This particular viewpoint is called a *naya* or a partial viewpoint. As a type of critical philosophy, *nayavada* holds that all philosophical disputes arise out of confusion of standpoints, and the standpoints we adopt are, although we may not realize it, “the outcome of purposes that we may pursue”. While operating within the limits of language and seeing the complex nature of reality, Mahavira used the language of *nayas*. *Naya*, being a partial expression of truth, enables us to comprehend reality part by part.

Syncretisation of Changing and Unchanging Reality

The age of Mahavira and Buddha was an age of intense intellectual debates, especially on the nature of reality and self. Upanishadic thought postulated the absolute unchanging reality of *Brahman* and *atman* and claimed that change was mere illusion. The theory advanced by Buddhists denied the reality of permanence of conditioned phenomena, asserting only interdependence and impermanence. According to the *Vedānta* (Upanishadic) conceptual scheme, the Buddhists were wrong in denying permanence and absolutism, and within the Buddhist conceptual scheme, the vedāntins were wrong in denying the reality of impermanence.

The two positions were contradictory and mutually exclusive from each others’ point of view. The Jains managed a synthesis of the two uncompromising positions with *anekantavada*. From the perspective of a higher, inclusive level made possible by the ontology and epistemology of *anekantavada* and *Syadvada*, Jains do not see such claims as contradictory or mutually exclusive; instead, they are seen as *ekantika* or only partially true. The Jain breadth of vision embraces the perspectives of both Vedānta which, according

to Jainism, “recognizes substances but not process”, and Buddhism, which “recognizes process but not substance”. Jainism, on the other hand, pays equal attention to both substance (*dravya*) and process (*Paryaya*).

Mahavira’s responses to various questions asked by his disciples and recorded in the Jain canon *Bhagvatisûtra* demonstrate recognition that there are complex and multiple aspects to truth and reality and a mutually exclusive approach cannot be taken to explain such reality:

Gautama: Lord! Is the soul permanent or impermanent?

Mahavira: The soul is permanent as well as impermanent. From the point of view of the substance it is eternal. From the point of view of its modes it undergoes birth, decay and destruction and hence impermanent.

Jayanti: Lord! Of the states of slumber or awakening, which one is better?

Mahavira: For some souls the state of slumber is better, for some souls the states of awakening. Slumber is better for those who are engaged in sinful activities and awakening for those who are engaged in meritorious deeds. — *Bhagvatisutra*, 12:53–54.

Thousands of questions were asked and Mahavira’s responses suggested a complex and multifaceted reality with each answer qualified from a viewpoint. According to Jainism, even a *T+rthaGkara*, who possesses and perceives infinite knowledge, cannot express reality completely because of the limitations of language, which is of human creation.

References

- Aitken, R. : *The Mind of Clover: Essays in Zen Buddhist Ethics*, San Francisco: North Point Press, 1984.
- Bhattacharya, Dr. H. S. : *Reals in the Jaina Metaphysics*, Bombay: Seth Santi Das Khetsy Charitable Trust, 1966.
- Duli Chandra Jain : *Studies in Jainism*, New York, 1997.
- Dundas, Paul; John Hinnels : *The Jains*, London, 2002.
- Faure, B. : *The Rhetoric of Immediacy: A Cultural Critique of Chan/Zen Buddhism*, Princeton: Princeton University Press, 1991.
- Glasenapp, Helmuth Von : *The Doctrine of Karman in Jain Philosophy*, Fremont, CA: Asian Humanities Press, 2003.
- Grimes, John : *A Concise Dictionary of Indian Philosophy: Sanskrit Terms Defined in English*, New York, 1996.
- Guenther, H. V. : *Sam-po-pa’s Jewel Ornament of Liberation*, London: Rider. Reprint, Berkeley, Ca.: Shambhala, 1971.
- Hall, F. : *The Soul of a People*, London: Macmillan, 1902.
- Heng-ching Shih : *The Sutra on Upasaka Precepts*, Berkeley: Numata Center for Buddhist Translation and Research, 1994.

Jain Contribution to Art and Architecture

Amar Kumar Mishra

NET & JET Qualified

The Jainas have been amongst the foremost in contributing to the field of art and architecture since early days. The images of Tirthankara Risabhadeva and the figures of standing or seated nude Yogins found inscribed on some terracotta seats, relics of the prehistoric Indus Valley Civilization, discovered at Mohenjodaro, as well as nude Harrappan red stone statue are almost equally old. The latter is remarkably akin to the polished stone torso of a Jana image from Lohanipur (Patna), which is ascribed to the Mauryan times (4th c. B.C.) King Kharavel of Kalinga, as the Hathigumpha inscriptions speaks, reinstalled the Jain image which had been taken away by Nanda to Magadha in (4th c. B.C.)

During the Satavahana period (60 B.C. to 225 A.D.) Mathura and Saurashtra were the main centres. The earliest Mathura sculpture represented by Kankalitila where from Ayagapatta, Stupa, images, and other Jain cultural material are recovered. Gandhara art and Mathura art belong to Kusana period (First B.C. to 2nd A.D.) in which Jainism flourished to Mathura and the Ardhamphalaka sect, Yapaniya Sangha and Nagara art came into existence.

Gupta period (4th to 7th C.A.D.) is said to be the golden period of ancient Indian Culture. Harigupta, Siddhasena, Harisena, Ravikirti, Pujiyapada, Patrakasari, Udyotanasuri and other Jainacaryas have been in existence during the period. Karnataka, Mathura, Hastinapur, Saurashtra, Avanti, Ahichchatra, Bhinnamala, Kausambi, Devagumpha, Vidisa, Sravasti, Varanasi, Vaisali, Pataliputra, Rajagraha, Campa etc. were the main Jain centres of art and architecture.

After the Gupta period, Kakkula, Vatsaraja, and Mahendrapala were the Jain kings in the Pratihara dynasty. King Moni, Navasahasanka and Bhoja were followers of Jainism. Dhanapala, Amitagati, Manikyanandi, Prabhacandra, Asadhara, Dhananjaya etc. had contributed to the literary field during the same period. Chittod was the capital of Paramaras where Kalakacharya and Haribhadra devoted their lives for the development of Jain art and architecture. During Candela dynasty, Khajuraho, Devagadh, Mahoba, Madanapur, Canderi, Ahar, Papora, and Gwalior became

famous for their Jain art. Some important inscriptions, Toranas, images and other sculptural material are found in Tripuri.

As mentioned earlier, Bihar has been a prominent state since very early days with regard to Jain culture. It is the Parinirvanabhumi of so many Tirthankaras and is enriched through Jain statues, relics, sculpture etc. at Radiograph, Melinda, Parsvanatha hill, Simbhabhumi, Barabar hill, Patna, Pavapuri etc. The earliest Jain images are recovered in Bengal from Surohar and Mandoil of Mathura style. The images of Jain Tirthankaras found in Udisa at Udaigiri-Khandagiri, and some other places such as Keonjhar, Mayurabhanja, Jaipur, Cuttack are very beautiful from artistic point of view.

Gujarat and Rajasthan have been strongholds of Jainism since an early time. Satrunjaya, Girinar, are Siddhaksetras of Jainism. Rastrakutas and Calukyas, Pratiharas, Paramaras, Cauhan and other dynasties patronized Jainism and its art and architecture. Hemacandracarya was a court poet of Jayasimha and Kumarapala. Vastupala and Tejapala who were ministers of Baghelas of Solanki branch built a large number of Jain temples at Girinar, Abu, Satrunjaya, etc. They are also found in large number at Ranakapur, Udaipur, Sirohi, Jaisalmer, Jodhpur, Jaipur, Alwar and so many places. The existence of Jainism in Punjab and Sindh can traced out long before the Christian era, from the sites of Mohanjodaro, Harappa, Taksasila, Simhapur, Sindhudesh, Lahore etc. The inscriptional history of Jainism in Maharashtra starts with the Parle inscription of first c. A.D. that commences with "Namo Arihantanam".

Keljher, Pavanar, Nagpur, Bhandara, Remtek, Akola, Karanja, Achalpur, Latur, Bhadravati etc. are main Jain ancient sites with archaeological remains. Sirpur is famous for its artistic decoration. Malakhed was found inhabitant when Padaliptacarya visited in about 1st c. A.D., Jain caves are found at Ellora, Nasik, Dharasiva, (Osmanabad) etc. Pratishthanpur, Belgaon, Kolhapur, Ehol, Alaktakanagara, Kunthalgiri, Ardhapur, Kandhar Karanataka (Karad), Mahimagiri, Vatapi, Meghuni etc. have been main centres of Jainism where huge and magnificent Jain temples idols and inscriptions are found. Mrgesavarvarman's inscription (450-478 A.D.) states that a huge donation was made to Digambaras, Svetambaras, Kurcakas and Yapaniyas. Belagaon and Kolhapur were also ruled over by Silaharas of Konkana who built their huge Jain temples like Adataraditya, Satyavakya, Candraprabha, Ratta, etc. Vatapi, Ehol, Meguli were also Jain centres of this period when Pulakesi First, Kirtivarman, and Ravikirti constructed Jain temples.

Andhra Pradesh has been a stronghold center of Jainism. Acarya Kundakunda (1st c. A.D.), the spiritual leader of the time hails from Kondakunda situated on the boarder of Andhrapradesh. King Vishnuvardhan of Calukyas, Akalavarsa, Amoghavarsa, and Krashnaraja of Rashtrakutas, Bhima, Ganga Vijayaditya, Durgaraj etc. of Vengis, Tailapa, Vikramaditya of Badami Calukyas, some kings of Velanatichoda period patronized Jainism by way of constructing temples, Vasadis and Vidyapeethas. Some of them, afterwards, were occupied by Virasaivaitas and Lingayatas, who have been great destructors of Jain monuments and the community as well. Jainism in Karnataka goes back at least to Bhadrabahu and Candragupta Maurya who migrated to South India via Ujjain with twelve thousand disciples due to severe calamity and famine into he North. Simhanandin, the Jainacarya, established Gangavadi dynasty. Jainism was its state religion for about seven hundred years during which hundreds of Jain monuments were erected by the kings. Pujiyapada, Prabhacandra, Jinasena, Gunanandi, Patrakesari, Puspadanta, Vidyanada, Anantavirya, Joindu etc. get the patronage of the dynasty. Of the kings the name of Racamalla Satyavakya may be specially mentioned under whose reign Camundaraya, his great minister erected the colossal statue of Gomatesvara Bahubali, the unparallel statue in the world. After Rashtrakutas Jainism got set back. One Vasava murdered his master Vijjala, the Kalacuri Jain king and perished Jainism and its adherents. He established an independent sect named Lingayata and persecuted the Jainas. From Jain archaeological standpoint, the main sites are Mangal, Nandidurga, panditarahalli, Candrasala vasadi, Aarapur, Arkettar, Sarangipattam, Halebid, Kelasaur, Aihole, Marol, Honwad, Honnur, Kalholi, Mulguna, Lakkundi, Nagire, Billigi are the main places where the Jain monuments are richly available.

References

- Kalghatgi, Dr. T. G. : *Study of Jainism*, Jaipur: Prakrit Bharti Academy, 1988.
- Kirtivijay, M. : *Jainism in Nutshell*, Bombay: Navprabhat Printing Press, 1957.
- Looi, J. D. : *The Heart of Being: Moral and Ethical Teachings of Zen Buddhism*, Tokyo: Charles E. Tuttle, 1996.
- Smart, Ninian : *Doctrine and Argument in Indian Philosophy*, London: George Allen & Unwin, 1964.
- Stevenson, M.Sinclair : *Heart of Jainism*, Munshiram Manoharial Publishers Private, Limited, 1999.
- Tatia, Nathmal : *Studies in Jaina Philosophy*, Fremont, CA: Jain Publishing Co, 2006.
- Tukul, T. A. : *Compendium of Jainism*, Dharwad: Karnataka University, 1980.

Trade and Commerce under Vijayanagara and its Offshoots

Dr. Kahkashan

Sr. Lecturer, RDS College, Muzaffarpur

The rulers of the Vijayanagara empire maintained the well-functioning administrative methods developed by their predecessors, the Hoysala, Kakatiya and Pandya kingdoms, to govern their territories and made changes only where necessary. The King stood as the ultimate authority, assisted by a cabinet of ministers (Pradhana) headed by the prime minister (Mahapradhana). Other important titles recorded in inscriptions included the chief secretary (Karyakartha or Rayaswami) and the imperial officers (Adhikari). The government required all high ranking ministers and officers to have military training. A secretariat near the king's palace employed scribes and officers to maintain records made official by using a wax seal imprinted with the ring of the king. At the lower administrative levels, wealthy feudal landlords (Goudas) supervised accountants (Karanikas or Karnam) and guards (Kavalu). The palace administration divided into 72 departments (Niyogas), each having several female attendants chosen for their youth and beauty (some imported or captured in victorious battles), trained to handle minor administrative matters and to serve men of nobility as courtesans or concubines.

The empire had been divided into five main provinces (Rajya), each under a commander (Dandanayaka or Dandanatha) and headed by a governor, often from the royal family, who used the native language for administrative purposes. A Rajya divided into regions (Vishaya Vente or Kottam), and further divided into counties (Sime or Nadu) themselves subdivided into municipalities (Kampana or Sthala). Hereditary families ruled their respective territories and paid tribute to the empire while some areas, such as Keladi and Madurai, came under the direct supervision of a commander.

On the battlefields, the king's commanders led the troops. The empire's war strategy rarely involved massive invasions; more often it employed small scale methods such as attacking and destroying individual forts. The empire emerged among the first in India to use long range artillery commonly manned by foreign gunners. (Gunners from present day Turkmenistan had been considered the

best). Army troops consisted of two types: The king's personal army directly recruited by the empire and the feudal army under each feudatory.

King Krishnadevaraya's personal army consisted of 100,000 infantry, 20,000 cavalymen and over 900 elephants. That number constituted only a part of the army numbering over 1.1 million soldiers, a figure that varied as an army of two million has also been recorded along with the existence of a navy as evidenced by the use of the term Navigadaprabhu (commander of the navy). The army recruited from all classes of society (supported by the collection of additional feudal tributes from feudatory rulers), and consisted of archers and musketeers wearing quilted tunics, shieldmen with swords and poignards in their girdles, and soldiers carrying shields so large that they fought without armour. The horses and elephants wore full body armour and the elephants had knives fastened to their tusks for maximum injury in battle.

The capital city depended completely on the water supply systems constructed to channel and store water, and to ensure a consistent supply throughout the year. The remains of those hydraulic systems have given historians a picture of the prevailing surface water distribution methods in use at that time in South India's semiarid regions. Contemporary inscriptions and notes of foreign travellers describe how labourers constructed huge tanks. Excavations have uncovered the remains of a well-connected water distribution system existing solely within the royal enclosure and the large temple complexes (suggesting exclusive use of royalty, and for special ceremonies) with sophisticated channels using gravity and siphons to transport water through pipelines. The remains of large water tanks that collected the seasonal monsoon water and then dried up in summer except for the few fed by springs represent the only structures resembling public waterworks. In the fertile agricultural areas near the Tungabhadra River, labourers dug canals to guide the river water into irrigation tanks. Those canals had sluices that opened and closed to control the water flow. In other areas the administration encouraged the digging of wells monitored by administrative authorities. Royal patronage supported the construction of large tanks in the capital city while wealthy individuals funded smaller tanks to gain social and religious merit.

Economy

The empire's economy depended largely on agriculture. Corn (jowar), cotton, and pulse legumes grew in semi arid regions, while sugar cane, rice and wheat thrived in rainy areas. Betel leaves, areca (for chewing), and coconut constituted the principal cash crops,

and large scale cotton production supplied the weaving centres of the empire's vibrant textile industry. Spices such as turmeric, pepper, cardamom, and ginger grew in the remote Malnad hill region, transported to the city for trade. The empire's capital city thrived as a business centre that included a burgeoning market in large quantities of precious gems and gold. Prolific temple-building provided employment to thousands of masons, sculptors, and other skilled artisans.

Owning land proved vital for creating wealth. Most of the growers worked tenant farmers, given the right of part ownership of the land over time. Tax policies encouraging needed produce made distinctions between land use to determine tax levies. For example, perfumers depended upon the daily market availability of rose petals, so cultivation of roses received a lower tax assessment.

Salt production and the manufacture of salt pans received similar benefits. The making of ghee (clarified butter), sold as an oil for human consumption and as a fuel for lighting lamps, proved profitable. Exports to China intensified and included cotton, spices, jewels, semi-precious stones, ivory, rhino horn, ebony, amber, coral, and aromatic products such as perfumes. Large vessels from China made frequent visits, some captained by the Chinese Admiral Cheng Ho, and brought Chinese products to the empire's 300 ports, large and small, on the Arabian Sea and the Bay of Bengal. The ports of Mangalore, Honavar, Bhatkal, Barkur, Cochin, Cannanore, Machilipatnam and Dharmadam received the heaviest trade.

References

- Ainslie T.: *Sources of Indian Tradition, From the Beginning to 1800*, New York: Columbia University Press, 1988.
- Ajit, K: *A History of Indian Economic Thought. Routledge History of Economic Thought Series*, London, Routledge, 1993.
- Ansari, Nasim: *Agrarian Structure, Land Reform, and Agricultural Growth in India*, Delhi, Tata McGraw-Hill, 1991.
- Ashok, Vasant: *Indian Economy in the World Setting*, Bombay, Himalaya, 1988.
- Baran, Paul A.: *The Political Economy of Growth*, New York, Modern Reader Paperbacks, 1975.
- Bhuleshkar, Vasant: *Indian Economy in the World Setting*, Bombay, Himalaya, 1988.
- C. L. Sien. : *Developing Economies and the Environment: the Southeast Asian Experience*, New York, 1979.
- Chaudhuri, Primit: *The Indian Economy: Poverty and Development*, New York, St. Martin's Press, 1979.
- Commons, J. R., *Institutional Economics-Its Place in Political Economy*, The University of Wisconsin Press, Madison, Wisconsin, 1934.

The Political Economy of the Sultanate

Dr. Dayanand

Muhalla Daudpur Kothi, MIT, Muzaffapur

The advent of Indo-Turkish rule fundamentally altered Bengal's physical and social landscape. In the mid fourteenth century, for example, the visiting Chinese merchant Wang Ta-yuan noted that the agrarian frontier had pushed far into the delta's hinterland, transforming formerly forested areas into fields of rice paddy (see chapter epigraph above). It was under Muslim rule, too, that Bengal's economy first became thoroughly monetized. Now it is true that kings of the Chandra dynasty (ca. 825–1035) had minted silver coins, and that from the ninth or tenth century at least the delta's southeastern corner had been integrated into a wider Indian Ocean economy. But in Pala or Sena times, the major part of the delta is not known to have used metal coinage at all. By contrast, from the thirteenth century to the seventeenth, the Muslim rulers' silver coin, the *tanka*, circulated uninterrupted throughout the region. In fact, the sequence of local conquests and bulges in the money supply suggests that Indo-Turkish rulers were driven into Bengal's hinterland, at least in part, by their thirst for uncoined silver. Each new conquest on Bengal's southern, eastern, or northern frontiers was followed by an expansion in the volume of silver coinage in circulation, the victors minting *tankas* from the accumulated silver stocks of defeated Hindu kingdoms. Sultan Rukn al-Din Kaikaus's conquest of southeastern Bengal in 1291 was followed by a substantial inflow of bullion, for example, which was quickly converted to coinage.

The conquest of the Sonargaon region in eastern Bengal by Sultan Fakhr al-Din Mubarak Shah (r. 1338–49) was also followed by increases in the silver supply. The same was true of Sultan Sikandar's 1358 conquests in Kamrup, or northern Bengal. The supply of coined silver levelled off during the late fourteenth century, but in 1420, when Sultan Jalal al-Din Muhammad reconquered much of eastern Bengal after an unsuccessful rebellion there, stocks of silver coinage again soared. So did they in 1494 when Sultan 'Ala al-Din Husain Shah reconquered Kamrup in northern Bengal. In addition to silver coined from the booty of defeated kingdoms in the region, substantial quantities of treasure were imported in exchange for goods locally manufactured for export. As early as 1415 we hear of Chinese trade missions bringing

gold and silver into the delta, in addition to satins, silks, and porcelain. A decade later another Chinese visitor remarked that long-distance merchants in Bengal settled their accounts with *tankas*. The pattern continued throughout the next century. "Silver and Gold," wrote the Venetian traveller Cesare Federici in 1569, "from Pegu [Burma] they carrie to Bengala, and no other kind of Merchandize." The monetization of Bengal's economy and its integration with markets throughout the Indian Ocean greatly stimulated the region's export-manufacturing sector. Although textiles were already prominent among locally manufactured goods at the dawn of the Muslim encounter in the tenth century, the volume and variety of textiles produced and exported increased dramatically after the conquest.

In the late thirteenth century, Marco Polo noted the commercial importance of Bengali cotton, and in 1345 Ibn Battutah admired the fine muslin cloth he found there. Between 1415 and 1432 Chinese diplomats wrote of Bengal's production of fine cotton cloths (muslins), rugs, veils of various colours, gauzes (Pers., *shana-baf*), material for turbans, embroidered silk, and brocaded taffetas. A century later Ludovico di Varthema, who was in Gaur between 1503 and 1508, noted: "Fifty ships are laden every year in this place with cotton and silk stuffs. These same stuffs go through all Turkey, through Syria, through Persia, through Arabia Felix, through Ethiopia, and through all India." A few years later Tome Pires described the export of Bengali textiles to ports in the eastern half of the Indian Ocean. Clearly, Bengal had become a major centre of Asian trade and manufacture.

Ashraf and Non-Ashraf Society

Bengal's Muslim society from the thirteenth century through the sixteenth was overwhelmingly urban, concentrated in the sultanate's successive capital cities—Lakhnauti from 1204, Pandua from about 1342, and Gaur from about 1432—and in the provincial towns of Satgaon, Sonargaon, and Chittagong. Although new garrison towns regularly sprang up in the interior, as the numismatic and epigraphic evidence shows, the preeminence of the capital cities was assured, since members of the provincial nobility, regardless of where their land assignments were located, had to maintain residences there.

Gaur, especially, was by all accounts a splendid city (see figs. 1 and 2). "One of the best that I had hitherto seen," wrote Ludovico di Varthema in the early sixteenth century, when it had attained a population of forty thousand. In 1521 a visiting Portuguese described the city as very big, stretching for four leagues along the river and, it is said, extending so far inland that houses are still

found beyond six leagues....The town is situated on a large plain which is flat like the whole of the surrounding area. The streets and lanes are paved with brick like the Lisbon New Street. The market is everywhere and everything—food and other goods alike—is in plentiful supply and very cheap. The streets and cross-lanes are so full of people that [it] is impossible to move and it has reached the point where the high noblemen have taken to being preceded along the road to the palace by men carrying bamboo sticks to push people out of the way. Foreigners were much impressed by the wealth of long-distance merchants residing in the sultanate's capitals. In 1415 a Chinese envoy wrote of men in Pandua who "wear a white cotton turban and a long white cotton shirt. On their feet they wear low sheep-skin shoes with gold thread. The smarter ones think it the correct thing to have designs on them. Everyone of them is engaged in business, the value of which may be ten thousand pieces of gold." Around 1508, Varthema found in Gaur "the richest merchants I have ever met with." Ten years later, Duarte Barbosa also described wealthy Arabs, Iranians, Abyssinians, and "Indians" of Gaur. "The respectable Moors," he wrote, walk about clad in white cotton smocks, very thin, which come down to their ankles, and beneath these they have girdles of cloth, and over them silk scarves; they carry in their girdles daggers garnished with silver and gold, according to the rank of the person who carries them.... They are luxurious, eat well and spend freely, and have many other extravagancies as well. They bathe often in great tanks which they have in their houses. Every one has three or four wives or as many as he can maintain.

References

- Campbell, J.Y., Lo, A.W.: *The Econometrics of Financial Markets*, Princeton University Press, 1996.
- Clive W. J.: *Empirical Modeling in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.
- Das, Kishore: *Economic History of Mughal India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*, Calcutta, Santiniketan, 1991.
- Desai, Vasant: *A Study of Rural Economics: A Systems Approach*, Bombay, Himalaya, 1983.
- Downs, Anthony: *An Economic Theory of Democracy*, New York, Harper and Row, 1957.
- Eaton, Richard M. : *India's Islamic Traditions, 711-1750*, New York: Oxford University Press, 2003.
- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Harvey L. Molotch: *Urban Fortunes: The Political Economy of Place*, Berkeley, University of California Press, 1987.
- Joao Jose Reis : *Slave Rebellion in Brazil: The Muslim Uprising of 1835 in Bahia*, Johns Hopkins Univ Press 1993.

Indian Rock–Cut Architecture

Dr. Ram Pravesh Singh

Teacher, Shri Ramavatar Singh Higher Secondary School, Barahia

Rock-cut architecture is the practice of creating buildings by carving natural rock. In India the term 'cave' is often applied, and in China 'cavern,' but one must differentiate natural caves from rock-cut architecture which is man-made and designed along the conventions of architecture itself and thus in every respect a part of architecture and its history. Though rock-cut architecture differs from traditional buildings in many obvious ways, many are often made to replicate traditional architectural forms in the facades and even in their interiors.

The interiors were usually carved out by starting at what would wind up being the roof and then working downward, for the obvious reason that stones would not be falling on one's head. The three main uses of rock-cut architecture were temples (like those in India), tombs (like those in Petra, Jordan) and cave dwelling (like those in Cappadocia, Turkey).

Rock-cut architecture is also said to be cut, hewn, etc., "from the living rock". Another term sometimes associated with rock-cut architecture is monolithic architecture, but it would apply only to completely free-standing structures.

Indian rock-cut architecture is more various and found in greater abundance than any other form of rock-cut architecture around the world. Rock-cut architecture is the practice of creating a structure by carving it out of solid natural rock. Rock that is not part of the structure is removed until the only rock left are the architectural elements of the excavated interior. Indian rock-cut architecture is mostly religious in nature. In India, caves have long been regarded as places of sanctity. Caves that were enlarged or entirely man-made were felt to hold the same sanctity as natural caves. In fact the sanctuary in all Indian religious structures, even free standing ones, retain the same cavelike feeling of sacredness, being small and dark without natural light.

The Oldest Caves is the Barabar caves, Bihar built around 3rd Century BC, other early cave temples are found in the western Deccan, mostly Buddhist shrines and monasteries, dating between 100 BC and 170 AD. They were probably preceded as well as accompanied by wooden structures which are destroyed over time

while stone endures. Throughout the history of rock-cut temples, the elements of wooden construction have been retained. Skilled craftsmen learned to mimic timber texture, grain and structure. The earliest cave temples include the Bhaja Caves, the Karla Caves, the Beds Caves, the Kanheri Caves and some of the Ajanta Caves. Relics found in these caves suggest an important connection between the religious and the commercial, as Buddhist missionaries often accompanied traders on the busy international trading routes through India.

Some of the more sumptuous cave temples, commissioned by wealthy traders, included pillars, arches, and elaborate facades during the time maritime trade boomed between the Roman Empire and south-east Asia.

Although free standing structural temples were being built by the 5th century, rock-cut cave temples continued to be built in parallel. Later rock-cut cave architecture became more sophisticated as in the Ellora Caves, culminating ultimately the monolithic Kailash Temple. After this, rock-cut architecture became almost totally structural in nature (although cave temples continued to be built until the 12th century), made from rocks cut into bricks and built as free standing constructions. Kailash was the last spectacular rock-cut excavated temple.

Early Caves

The earliest caves employed by humans were natural caves used by local inhabitant for a variety of purposes such as shrines and shelters. The early caves included overhanging rock decorated with rock-cut art and the use of natural caves during the Mesolithic period (6000 BC).

Their use has continued in some areas into historic times. The Rock Shelters of Bhimbetka, a World Heritage Site, are on the edge of the Deccan Plateau where deep erosion has left huge sandstone outcrops. The many caves and grottos found there contain primitive tools and decorative rock paintings that reflect the ancient tradition of human interaction with their landscape, an interaction that continues to this day.

Bhimbetka Rock Shelters

The Bhimbetka rock shelters compose an archaeological site and World Heritage Site located in Raisen District in the Indian state of Madhya Pradesh. The Bhimbetka shelters exhibit the earliest traces of human life in India; a number of analyses suggest that at least some of these shelters were inhabited by man for in excess of 100,000 years. Some of the Stone Age rock paintings found among the Bhimbetka rock shelters are approximately 9,000 years old.

The name *Bhimbetka* is associated with the historical figure, Bhima, from the epic Mahabharata. The word *Bhimbetka* is said to derive from *Bhimbaithka*, meaning sitting place of Bhima, a hero-deity renowned for his immense strength.

Location

The Rock Shelters of Bhimbetaka (or Bhim Baithaka) lie in Raisen District of Madhya Pradesh and is 45 km south of Bhopal at the southern edge of the Vindhya hills. South of these rock shelters are successive ranges of the Satpura hills.

The entire area is covered by thick vegetation, has abundant natural resources in its perennial water supplies, natural shelters, rich forest flora and fauna, and bears a significant resemblance to similar rock art sites such as Kakadu National Park in Australia, the cave paintings of the Bushmen in Kalahari Desert, and the Upper Paleolithic Lascaux cave paintings in France.

The rock shelters and caves of Bhimbetka have a number of interesting paintings which depict the lives and times of the people who lived in the caves, including scenes of childbirth, communal dancing and drinking, and religious rites and burials, as well as the natural environment around them.

References

- A.K. Bhattacharyya: *A Pageant of Indian Culture : Art and Archaeology*, Abhinav, Delhi, 1995.
- A.P. Singh: *Concept of Environment in Ancient Art and Architecture*, Agam Kala Prakashan, Delhi, 2003.
- Adas, Michael : *Machines as the Measure of Men: Science, Technology, and Ideologies of Western Dominance*, Ithaca: Cornell University Press, 1989.
- Ahmad, Imtiaz : *Family, Kinship and Marriage Among Hinduism in Ancient India*, Manohar, Jawaharlal Nehru University Press, 1976.
- Ainapur, L. S.: *Dynamics of Caste Relations in Rural India*, Jaipur, Rawat Publications, 1986.
- Allchin, Bridget: *Origins of a Civilization: The Prehistory and Early Archaeology of South Asia*, New Delhi and New York: Viking, 1997.
- Andhra Sri : *Recent Researches on Archaeology, Art, Architecture and Culture*, Myneni Krishnakumari, The Associated Pub, 2006.
- Anegondi : *Architectural Ethnography of a Royal Village*, Natalie Tobert, Manohar, 2000.
- Bahadur, K.P.: *The Wisdom of Vedaanta*, Sterling Publishers Private Limited, New Delhi, 1996.
- Bailey, F. G. : *Caste and the Economic Frontier: A Village in Highland Orissa*, Manchester, University of Manchester, 1957.
- Banerjee, J. N.: *Pauranic and Vedanta Religion*, University of Calcutta, Calcutta, 1996.
- Basham, A.L. : *A Cultural History of India*, Oxford: Clarendon Press, 1975.
- Benjamin Rowland: *The Art and Architecture of India: Buddhist-Hindu-Jain*, The Pelican History of Art, Penguin Books, 1974.

Land Tenure in Ancient India

Dr. Vijay Shanker Pd. Sinha

Shastri Nagar, Bibiganj, Muzaffarpur

Ancient record show that land has been under cultivation in India for more than 5,000 years. In the beginning, tribes exercised control (especially delimitation and defence) over the areas they had taken possession of. This right of the conqueror was the initial form of land right. The tribes allotted to the individual families land for their utilization, usually by means of shifting cultivation.

The jungle which covered unlimited land, although economically useless, led to another form of land right, namely, the right of the first clearer. Whoever cleared a plot in the jungle also had the right to use this land. However, this individual right of utilization was only valid as long as the land was actually cultivated. As soon as it was abandoned, the power of disposition over it reverted to the tribe. The strenuous work of clearing, the necessity of mutual help, small scale defence measures, and the expansion of the families led, in the course of time, to the formation of villages which assumed the regulation of land rights. Two different forms developed in time.

The village which had individual land rights consisted of a group of families which had rights to the land on the basis of having cleared it. The claims of the families were limited to the cleared land. The uncultivated land in the vicinity of the village was jointly utilized, but no claims were made to it. It belonged to the ruler who, in later epochs, also granted permission to cultivate the land.

In the case of villages which held land rights jointly, the village community claimed the right to all land within the village boundaries and allotted it to individual families for utilization. The administration was not carried out by a village headman, but by the panchayat, a village council in which the individual families had their say.

Thus, at an early period already, there were individual and joint land rights. But landed property, as known in the West, did not exist at all. The rights were a privilege granting inheritable utilization rights and included social obligations, especially taking consideration of the village community's interests. Because of the need for defence, authority concentrated in the course of time, and thus, a state was formed with one ruler at its head. Costs of governing were covered, at first, with gifts. Soon, however, it

became obligatory to deliver a share of the grain yield-in other words-, a tax was introduced. The king was thus only given a right to a share of the yield, but to rights to the land and its utilization. However, he was entitled to all the uncultivated land that lay between the villages.

It was necessary to establish an official hierarchy to collect the taxes. The tax collectors were remunerated by being given a share of the collected taxes and a plot of crown land. This "watan" land was free of tax, inheritable, and transferrable, and represented a new form of land rights, namely, land rights on account of the government allotting land to government officials.

In the course of time, the tasks of the central government increased. In this huge country where transport conditions were difficult, possibilities of simplifying administration played an important role. Therefore, the ruler allotted the tax revenue from specific areas to people who had to maintain troops in the provinces, make roads passable, and keep the passes open. At first, the transfer of the right to these taxes was valid only for the time during which these tasks were carried out. Even priests and favourites were provided for in that way, at first for life, later on, all these cessions became inheritable. This right to the land on the basis of the transfer of the right to taxes included taxes only, but not ownership of the land as in the case of 'watan' lands.

In pre-Islamic times already, there had been a diversification in the land rights. In addition to the land claims of the village community and the farmers based on the right of the conqueror and the first clearer, the ruler's claims to a share of the yield and the uncultivated land between the villages were generally recognized. In addition, the right to collect taxes for certain regions was transferred to specific people and land rights to officials. These were only allotted crown land. The traditional rights of the cultivators remained unaltered. The Moguls who conquered India in the 12th century left the land to the cultivators at first in exchange for the usual taxes. Often, former small rulers were employed as tax collectors and were given 10% of the collected amount as remuneration for their trouble. They were even allowed to keep the land they had held before and were exempted from paying taxes. They were strictly controlled to prevent them from collecting more taxes than was lawful.

Emperor Akbar (1556-1605) implemented radical reforms. He replaced the payment of taxes in kind by a monetary tax which was no longer fixed as a share of the actual but rather of the average yield. Thus, it was not calculated according to the yield, but according to the area sown, and the cropping risk was shifted to the cultivators. In addition, the taxes were increased to amount to

half of the average yield. Although this resulted in evil times for the rural population, the Moguls did not make any claims to the land itself after their conquest. Tax administration was high level; a land register was introduced; and taxes were levied according to criteria such as quality of the soil, and so on.

After Aurangzeb's death in 1707, the power of the central government decreased rapidly, and the control over the tax revenues was lost. In order to obtain revenues at all, tax collectors' posts were leased to the highest bidders in exchange for fixed sums. On the basis of their knowledge of the local conditions, the tax collectors were free to extort as much as possible from the rural population and keep for themselves the difference between the collected taxes and the amount to be remitted. These "assignees" were the first intermediary step in the direct tax relations between the government and cultivators.

The transfer of tax collection rights, known already in pre-Mogul times, for specific regions as remuneration for services rendered became so common that, under Aurangzeb's reign, 90% of all tax revenues fell to such privileged parties, and only 10% to the ruler. These grants of land with the right to collect taxes from it were also conferred on favourites. The conferment of such "jagir" transferred all the rights the government held, *i.e.*, taxes, claims to uncultivated land, police power, etc., but no claims to the cultivators' land. Whenever tax collectors became landlords in the course of time, this was due to their reclaiming waste land or their confiscating the land of people who owed taxes.

References

- Altekar, A.S. : *State and Government in Ancient India*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1958.
- Bajpai, Gita : *Agrarian Urban Economy and Social Change: the socio-economic Profile of Select Districts in Gujarat*, Delhi: Daya Publishing.
- Bronkhorst, Johannes : *The Two Traditions of Meditation in Ancient India*, Delhi: Motilal Banarsidass Publ, 1993.
- Campbell, J. : *Report upon Manufacture of Steel in southern India*, Journal of Asiatic Society of Bengal, 1982.
- Chakrabarti, D.K. and L. Lahiri. : *Copper and its Alloys in Ancient India*, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1996.
- Fairervis, Walter A. : *The Roots of Ancient India: The Archaeology of Early Indian Civilization*, New York: Macmillan, 1971.
- Frykenberg, Robert Eric : *Land Control and Social Structure in Indian History*, Madison: University of Wisconsin, 1969.
- Garbe, R.: *The Philosophy of Ancient India*, Chicago University Press, Chicago, 1899.
- Herring, R.J. : *Land To the Tiller: the Political Economy off Agrarian Reorm in South Asia*, New Haven: Yale University Press, 1983.

Marriages under Hindu Joint Family System in Ancient India

Dr. Amardeep Kumar

*Lecturer, Dept. of Ancient India and Asian Studies
Mahila College, Tekari (Gaya)*

Marriage was one of the most significant aspects of Family Dharm. Marriage was not considered simply as union of two bodies. Marriage was a significant social event. It was union of two families and family traditions. Marriages were decided with great care. Several aspects were considered. Not only boy and girl were important, but their parents were also important; so were family lineage, parental characters, parental nature, their values, their traditions, their health, their history and so many things. Today boy and girl argue, why we need to look at parents, and what character and values they represent; we do not have to marry parents, we have to marry each other. Fine as it sounds, and nice as it feels, we tend to forget 'science' that we are so proud of, which has started understanding a little bit of the relevance of genes in human behavioural pattern. The hereditary attributes play their role in the long run and we find these lovebirds start splitting after a while. Few years ago, I looked at divorce rates in North America exceeding 50%, while these statistics did not tell us the full story, for they covered only those who were legally married, and such couples often find separation and divorce process pretty demanding, considering future of children involved and therefore, not all broken marriages result in legal divorce.

A very large segment of married couple in North America (I speak of Canada, and assume it would be same in USA) are those called common-law where the boy and girl live together like husband and wife, have children, file tax returns as common-law spouses, for most purposes they are like married couple except they are not legally married. Most of them are youngsters who have not yet planned children, and these marriages break fairly easy as compared to legal marriages, for all they need is to split, and start living separate. These are high ratio cases. Thus, if we were to take these into account, then total divorces (where divorce would mean essentially all failed marriages), would probably exceed 75%. What a great system it is that does not stand the test of time, that does not stand the test of success in the desired venture

that fails and fails, and finally gets reduced to multiple experiments with life! This, we call modern social structure, and we gloat at its supposedly advanced nature. There is lot to learn from the systems of olden days that we look down upon thinking we have progressed! Have we? Except that we satisfy our ego by consoling ourselves with such inflated self-estimates! The Secret of Stable Hindu marriages of yesteryears—a meticulous system of mathematics applied to human lives. We may have occasionally heard about extraordinary accomplishments of Hindu mathematics. The Christian World, however, prefers to attribute them to the Greeks and (pre-Islamic) Arabs who basically imported the knowledge from the Hindus and then popularized with the people of Europe.

The foundation of Family Dharm was on the premises of the institution of marriage. Arranged marriages demonstrated great stability and reflected high success rate. This was ensured by a meticulous system of mathematics applied to human lives. Based on time and place of birth of a human being, it could calculate with fair amount of accuracy the life span of the individual. This helped match-making in a manner that one of the spouses does not have to live very long without the other.

The system could calculate the ego development of the marrying partners. This helped match-making with due caution to conflicting egos between the boy and the girl in consideration. The system could calculate with fair amount of accuracy the degree of magnetic control or amenability either spouse will have on the other. This helped match-making with a view to harmony between the two. The system could calculate with considerable accuracy the sexual compatibility between the boy and girl in question. This helped match-making with regard to this very essential factor in a satisfying marriage.

The system considered sexual compatibility in physical as well as emotional context. It may be difficult for modern people to visualize that a mathematical system could be capable of ascertaining such details without reference to medical and psychological systems. Well, that difficulty in perception is natural because modern education system has not tried to evolve mathematical modules applied to human lives. It has not tried so because the modern Christian education system is based on an inflated ego that it has nothing to learn from ancient Hindu systems. More significantly, the modern education system is based on knowledge base of the Christian World, which would not want to entertain the thought that Hindu world could have had better developed modules for social, economical, judicial and other processes. Returning to the mathematical system we have been

referring to, it had developed the capability of determining the psychological dispositions of the intended couple. This helped in (a) ascertaining mental qualities and (b) estimating likely affection for each other, this being very significant element in matchmaking. Then the system calculated the temperament and character of the couple concerned where compatibility of temperament was looked at for a satisfactory marriage union.

Finally, system looked at nervous energy indicating the physiological and to certain extent hereditary factors. This helped matchmaking with a view to the children that would be borne of such couple, for a marriage was not meant only for the present generation but also for the future generation of the society to come. All these factors could be translated into mathematical module because the Creation and maintenance of this Universe itself works on a mathematical module of high precision. The method was widely followed and its results have shown over thousands of years of its application.

In modern times its use has dwindled, for an image has been successfully created that whatever modern Christian education system does not teach us is essentially superstitious. The result of our modernity has already started showing on our present day family structure. The technique was not an end in itself. Here, you need to understand another fundamental relating to this Creation. That is: nothing is stand alone in isolation to the exclusion of everything else. Do not think that any one aspect of esoteric knowledge would suffice for you to understand the entire gamut of complexities involved in the process of Creation. Simply put you need to understand that the module I spoke of ~ applied mathematics to human lives ~ is not stand alone. Its well understood application does ensure substantially a stable married life but in itself, it is not the only means to that end.

References

- Bayly, C.A.: *Indian Society*. Cambridge: Cambridge University Press, 1987.
- Diwan, Paras : *Family Law: Law of Marriage and Divorce in India*, New Delhi, Sterling Publishers Private Limited, 1983.
- Dyson, Tim : *India's Historical Demography: Studies in Famine, Disease, and Society*, Westwood, MA: Riverdale, 1989.
- Jeffrey, Robin : *The Decline of Nayar Dominance: Society and Politics in Travancore, 1847-1908*, London: 1976.
- Karve, Irawati : *Hindu Society: An Interpretation*, Poona, Sangam Press, 1961.
- Meyer, Johann Jakob: *Sexual Life in Ancient India*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1971.
- Silverberg, James: *Social Mobility in the Caste System in India*, Mouton Publishers, The Hague, 1968.

Advancement and Glory of Ancient India Medicine

Binny Patel

Research Scholar, JP University, Chapra

Ancient India saw great advancements in medical science. Some of these fields were dental surgery, cataract extraction and plastic surgery. It is amazing that even in the absence of anesthesia some of the complex operations are performed. Around 800 B.C the first instances of surgery were recorded. It was considered as one of the eight branches of Ayurveda. Shushruta-Samhita is the oldest treatise dealing with surgery. The main medical practitioners were Atraya, Charaka and Shushruta. Shushruta studied human anatomy with an aid of a dead body. He had described in great detail surgery in eight parts which included chedya, lekhyas, vedhya, esya, ahrya, vsraya and sivya. He excelled in plastic surgery and ophthalmology (removing cataracts). The restoration of mutilated nose or rhinoplasty was one of the greatest contributions of Shushruta. The success rate was very high attracting people from all the country and outside. He meticulously carried out the operation almost similar to the steps followed by modern day plastic surgeons.

Medical tradition goes back to Vedic period when Dhanvantari was worshipped as God of medicine and Ashwin Kumars were given divine status. Ayurveda was an indigenous system of medicine meaning the science of longevity. It constitutes information about diseases, their diagnosis and expected cures. Charaka was a noted Ayurveda practitioner who wrote that physician who fails to enter the body of a patient with the lamp of knowledge and understanding can never treat diseases. He put more emphasis on prevention rather than cure. He made these remarks in his famous treatise Charaka Samahita which are held in great reverence even today.

The other notable fields were physiology, etiology and embryology. He also wrote extensively on digestion, metabolism and immune system. He wrote that body functions as it contains three doshas, phlegm and wind. These are produced when dhatus-blood, flesh and marrow act on food consumed. The body becomes sick when there is imbalance between three doshas. He prescribed drugs to restore this balance. Charaka also wrote about genetics like the factors responsible for sex of a child. Agnivesa

another famous physician wrote an encyclopedic treatise in the eighth-century B.C. Ayurveda as an art of healing was treated with respect in ancient period. The knowledge was systemized being considered at par with Vedas. This body of knowledge was spread among sages, hermits and other religious men who moved from one place to another. Those who solely practiced this were known as Vaidyas belonging to Brahmin caste. The treatises of Ayurveda were passed from generations to generations.

Ayurveda

Ayurveda is a system of traditional medicine native to the Indian Subcontinent and practiced in other parts of the world as a form of alternative medicine. In Sanskrit, the word Ayurveda consists of the words, meaning 'life', and *veda*, meaning 'related to knowledge' or 'science'. Evolving throughout its history, Ayurveda remains an influential system of medicine in South Asia. The earliest literature of Ayurveda appeared during the Vedic period in India. The *Sushruta Samhita* and the *Charaka Samhita* were influential works on traditional medicine during this era. Ayurvedic practitioners also identified a number of medicinal preparations and surgical procedures for curing various ailments and diseases.

As per Indian heritage and science, "Ayurveda" is an Upaveda or annexure to the four main vedas (knowledge systems). The famous treaties of Ayurveda are *Charaka Samhita* by Sage Charaka, which details the prevention and treatment of disease, and *Sushruta Samhita* of Sage Sushruta, which deals with Ayurvedic surgical procedures. In the Ayurvedic system, the prevention of all types of disease has a prominent place in treatment, including restructuring a patient's lifestyle to align with the course of nature and the four seasons to guarantee complete wellness.

Ayurveda is considered to be a form of complementary and alternative medicine (CAM) within the western world, where several of its methods, such as the use of herbs, massage, and Yoga as exercise or alternative medicine, are applied on their own as a form of CAM treatment. However, such alternative therapy approaches are not unique to Ayurveda because they are also available under the systems of Unani medicine, Greek medicine and Islamic medicine.

Overview

Ayurveda is grounded in a metaphysics of the 'five great Elements'—all of which compose the Universe, including the human body. Chyle (called Rasa dhatu), blood (called Rakta dhatu), flesh (called Mamsa dhatu), fat (called Medha dhatu), bone (called Asthi dhatu), marrow (called Majja dhatu), and semen or female

reproductive tissue (called Shukra dhatu) are held to be the seven primary constituent elements of the body. Ayurveda stresses a balance of three Humors or Energies: *vata* (wind/air), *pitta* (bile) and *kapha* (phlegm). According to Ayurveda, these three regulatory principles— *Doshas*—are important for health, because when they are in balanced state, the body is healthy, and when imbalanced, the body has diseases. Ayurveda hold that humans possess a unique combination of *Doshas*. In Ayurveda, the human body perceives attributes of experiences as 20 *Guna*. Surgery and surgical instruments are employed. It is believed that building a healthy metabolic system, attaining good digestion, and proper excretion leads to vitality. Ayurveda also focuses on exercise, yoga, meditation, and massage. Thus, body, mind, and spirit/ consciousness need to be addressed both individually and in unison for health to ensue.

Ayurveda stresses the use of vegetable drugs. Fats are used both for consumption and for external use. Hundreds of vegetable drugs are employed, including cardamom and cinnamon. Some animal products may also be used, for example milk, bones, and gallstones etc. Minerals—including sulfur, arsenic, lead, copper sulfate, gold—are also consumed as prescribed.. This practice of adding minerals to herbal medicine is known as *Rasa Shashtra*. In some cases alcohol is used as a narcotic for the patient undergoing an operation. The advent of Islam introduced opium as a narcotic. Both oil and tar are used to stop bleeding. Oils may be used in a number of ways including regular consumption as a part of food, anointing, smearing, *head massage*, and prescribed application to infected areas. The proper function of channels—tubes that exist within the body and transport fluids from one point to another—is seen as vital, and the lack of healthy channels may lead to disease and insanity. Sushruta identifies that blockages of these channels may lead to rheumatism, epilepsy, paralysis, and convulsions as fluids and channels are diverted from their ideal locations.

References

- A. A. Azmi: *Basic Concepts of Unani Medicine : A Critical Study*, New Delhi : Dept. of History of Medicine.
- A. F. R. Hoernle: *Studies in the Medicine of Ancient India*, Oxford, Clarendon Press, 1912.
- B. Dash, *Concept of Agni in Ayurveda with Special reference to Agnibala Paraka*, Varanasi : Chowkhamba Sanskrit Series Office.
- B. Dash: *Fundamentals of Ayurvedic Medicine*, Delhi : Bansal, 1978
- D. J. A. Chowry Muthu: *The antiquity of Hindu medicine and civilisation*, New York : Paul B. Hoeber, 1998.
- K. N. Udupa: *Advances in research in Indian medicine*, Varanasi : Banaras Hindu University, 1971.

Development of Scientific Method in India

Ranjeet Kumar Keshari

Research Scholar, JPU, Chapra

Contrary to the popular perception that Indian civilization has been largely concerned with the affairs of the spirit and “after-life”, India’s historical record suggests that some of the greatest Indian minds were much more concerned with developing philosophical paradigms that were grounded in reality. The premise that Indian philosophy is founded solely on mysticism and renunciation emanates from a colonial and orientalist world view that seeks to obfuscate a rich tradition of scientific thought and analysis in India.

Much of the evidence for how India’s ancient logicians and scientists developed their theories lies buried in polemical texts that are not normally thought of as scientific texts. While some of the treatises on mathematics, logic, grammar, and medicine have survived as such-many philosophical texts enunciating a rational and scientific world view can only be constructed from extended references found in philosophical texts and commentaries by Buddhist and Jain monks or Hindu scholars (usually Brahmins). Although these documents are usually considered to lie within the domain of religious studies, it should be pointed out that many of these are in the form of extended polemics that are quite unlike the holy books of Christianity or Islam. These texts attempt to debate the value of the real-world versus the spiritual-world. They attempt to counter the theories of the atheists and other skeptics. But in their attempts to prove the primacy of a mystical soul or “Atman”- they often go to great lengths in describing competing rationalist and worldly philosophies rooted in a more realistic and more scientific perception of the world. Their extensive commentaries illustrate the popular methods of debate, of developing a hypothesis, of extending and elaborating theory, of furnishing proofs and counter-proofs. It is also important to note that originally, the Buddhist world view was an essentially atheistic world view. The ancient Jains were agnostics, and within the broad stream of Hinduism-there were several heterodox currents that asserted a predominantly atheistic view. In that sense, these were not religions as we think of today since the modern understanding of religion presumes faith or belief in a super-natural entity.

That so many scholars from each of these philosophical schools felt the imperative to prove their extra-worldly theories using rationalist tools of deductive and inductive logic suggests that faith in a super-natural being could not have been taken for granted. This is borne out by the memoirs of Hieun Tsang (the Chinese chronicler who traveled extensively in India during the 7th C. AD) who describes the merchants of Benaras as being mostly “*unbelievers*”! He also wrote of intense polemics and debates amongst followers of different Buddhist sects. Similarly, there is other evidence that suggests that amongst the intellectuals of ancient India, atheism and skepticism must have been very powerful currents that required repeated and vigorous attempts at persuasion and change. Nevertheless, over centuries, the intellectual discords between the believers and non-believers became more and more muted. The advocates of mystic idealism prevailed over the skeptics, so that eventually, (at the popular level) each of these philosophies functioned as traditional religions with their pantheon of gods and goddesses enticing and lulling most into an intellectual stupor. But at no point were the advocates of “pure faith” ever powerful enough to completely extinguish the rationalist current that had so imbued Indian philosophy.

One of the most ancient of India’s rationalist traditions is the “Lokayata”. Maligned and discredited by the evangelicals of mystical Buddhism and Vedantic Hinduism, their world view was sharply atheistic and scientific for their time. Unlike those who believed in reincarnation or an after-life, and in the indestructibility of the human soul-they refused to make artificial distinctions between body and mind. They saw the human mind as part and parcel of the human body-not as some separate entity that could have an independent existence from the human body. They acknowledged nothing but the material human body and the material universe around it. They rejected sacrificial gifts and offerings for the after-life as was common amongst followers of Brahmanical Hinduism during the time of Medhatithi in A.D 900 (a commentator on the writings of Manu who acknowledges that the Lokayatas were atheists or non-believers.) For instance, they ridiculed the Brahmanical rituals of animal sacrifice:

“If a beast slain in the Jyotistoma rite itself goes to heaven, Why then does not the sacrificer also offer his father?”

“If beings in heaven are gratified by our offerings made here, Then why not give the food down below to those who stand on the housetop?”

“If offerings produce gratification to beings who are dead, why make provisions for travellers when they start on a journey?”

“If he who departs from the body goes to another world, How is it that he comes not back again, restless for love of his kindred?”

The Lokayatas dismissed the Vedic priests and their Vedic mantras as nothing but a means of livelihood for those lacking in genuine physical or mental abilities. Instead, they gave primacy to human sense-perception, and through the application of the inferential process-they developed their theories of how the world worked. One of the most notable aspects of the Lokayata belief system was their intuitive understanding of dialectics in nature. Many argued the mind-body separation as follows: Since the body is made up of things lacking consciousness-but the mind is a conscious entity-mind and body must necessarily be different-and consciousness must imply the existence of something else akin to the "soul". The Lokayatas countered this by citing the example of fermentation-how an intoxicating drink could be produced from something that was not itself an intoxicant. In essence they had discovered the principle that the whole was greater than the sum of its parts. That physical and chemical processes could lead to dramatic changes in the properties of the substances combined. They were able to understand how special transformations could produce new qualities that were not evident in the constituent elements of the newly-created entity. As keen observers of nature, they were probably amongst the first to understand the nature of different plants and herbs and their utility to human well-being. As such, it is likely that Indian medicine gradually evolved from the early scientific knowledge and understanding of the Lokayatas. Since the Lokayatas believed that consciousness emerged from the living human body, and ended with its death-it is more than likely that the widely prevalent Indian custom of cremating the dead also originated amongst them. This is not to say that the Lokayatas' understanding of the world was as elaborate and precise as that provided by today's science. By the standards of the 20th century, some of their formulations could be considered primitive and inadequate. That is only to be expected. Knowledge of science has expanded considerably since their times. But what is more important is that their world view was driven by a rational and scientific approach.

References

- Aaboe, Asger: *Episodes from the Early History of Mathematics*, New York, 1964.
- B.M. Johri: *History and Progress of Botany in India: Ancient Period*, Oxford University Press, 1994-95
- Bronkhorst, Johannes : *The Two Traditions of Meditation in Ancient India*, Delhi: Motilal Banarsidass Publ, 1993.
- D.P. Agrawal: *Ancient Metal Technology and Archaeology of South Asia*, Aryan Book International, Delhi, 2000
- Haldane, John Burdon Sanderson: *Science and Indian Culture*, Calcutta, New Age Publishers, 1965.

Plastic Surgery in Ancient India

Ranjeet Kumar

Research Scholar, TMBU, Bhagalpur

From 1769 AD to 1799 AD, in a period of thirty years, four Mysore Wars were fought between Hyder Ali and his son Tipu Sultan and the British. As a result of these wars the British learnt two very important Indian techniques — rocketry and plastic surgery. Both these Indian techniques were further improved first in England and then in other European countries (see 'Story of Indian Rockets', DREAM, October 1999). How the British learnt the art of Indian plastic surgery is a fascinating story. A Maratha cart-driver, Kawasajee, who had served the British, and four tilanges (Indian soldiers of British army) had fallen into the hands of the Sultan of Srirangapattam. Their noses and right arms were cut off as a punishment for serving the enemy. Then they were sent back to the English command. After some days, when dealing with an Indian merchant, the English commanding officer noticed that he had a peculiar nose and scar on his forehead. On inquiry, he learnt that the merchant's nose had been cut off as a punishment for adultery and that he had a substitute nose made by a Maratha Vaidya of the kumhar (potter) caste. The commanding officer sent for the Vaidya and asked him to reconstruct the nose of Kawasajee and others.

The operation was performed near Pune in the presence of two English doctors, Thomas Cruso and James Findlay. An illustrated account of this operation, carried out by an unnamed Vaidya, appeared in the Madras Gazette. Subsequently, the article was reproduced in the Gentleman's Magazine of London in October 1794. The operation is described as follows: "A thin plate of wax is fitted to the stump of the nose so as to make a nose of good appearance; it is then flattened and laid on the forehead. A line is drawn around the wax, which is then of no further use, and the operator then dissects off as much skin as it had covered, living undivided a small slip between the eyes. This slip preserves the blood circulation till a union has taken place between the new and the old parts. "The cicatrix of the stump of the nose is next paired off, and immediately behind the new part, an incision is made through the skin which passes around both alae, and goes along

the upper lip. The skin, now brought down from the forehead and being twisted half around, is inserted into this incision, so that a nose is formed with a double hold above and with its alae and septum below fixed in the incision. A little Terra Japonica (palecatechu) is softened with water and being spread on slips of cloth, five or six of these are placed over each other to secure the joining.

No other dressing but this cement is used for four days. It is then removed, and cloths dipped in ghee are applied. The connecting slip of skin is divided about the twentieth day, when a little more dissection is necessary to improve the appearance of the new nose. For five or six days after the operation, the patient is made to lie on his back, and on the tenth day, bits of soft cloth are put into the nostrils to keep them sufficiently open. This operation is always successful. The artificial nose is secured and looks nearly as well as the natural nose, nor is the scar on the forehead very observable after a length of time." This description fired the imagination of the young English surgeon J.C. Carpue, who after gathering more information on the "Indian nose" performed two similar operations in 1814 with successful results. After Carpue published his account, Graefe, a German surgeon, performed similar plastic operations of the nose using skin from the arm. After this plastic surgery became popular throughout Europe. All replacement operations which use a flap of skin in the immediate vicinity of the loss are known as Indian plastic surgery.

Plastic surgery has little to do with plastics, the synthetic substances so common today. The term 'plastic', derived from the Greek plastikos, means to mould or shape. The task of plastic surgery is to restore the appearance and function of parts of the body destroyed or damaged by disease or injury. Contrary to popular belief, plastic or reconstructive surgery is not merely cosmetic surgery but an important discipline that aims at correcting all sorts of physical deformities. Though a very old technique, plastic surgery has made great strides only after the First World War. The Bible contains no reference of plastic operations. There is no mention of plastic surgery in the ancient Greek literature. Homer (9th century BC) has described various types of wounds and their treatments but did not mention the possibility of replacing parts of the nose or other features. Roman legends vaguely mention plastic surgery. Genuine records of plastic operations are not found in Europe until the middle of the fifteenth century.

These come from Italy. Many European scholars are of the opinion that reports of Indian plastic operations reached Italy by way of seamen and merchants, who used to undertake long journeys to the Far East at the beginning of the Middle Ages. Like

other methods Indian mathematics and medicine, the Italians might have learnt the techniques of Indian plastic surgery from the Arab Moors. From Italy we have the record that in 1442, Branca, a surgeon of Catania in Sicily, carried out plastic operations of the nose, using flap from the face. His son Antonio continued his work and was the first to use a flap from the arm for reconstructing the nose. The work was carried on by the Boinias, another Italian family. The plastic operations carried out by the Boinia brothers are described in a book published in 1568 by Fioravanti, a doctor of Bologna. However, it was in the hands of Gasparo Tagliacozzi (1546-99), a professor of surgery and of anatomy at the Bologna University, that plastic surgery attained wide fame in Europe. His book *De curtorum chirurgia per insitionem* (The surgery of defects by implantation), printed in 1597, was the first scientific treatise on plastic surgery. Tagliacozzi has described a method of plastic substitution of the nose by skin from the arm and of replacement of the ears and lips, demonstrating his work by a large number of illustrations. The Church dignitaries regarded plastic surgery as an interference in the affairs of the Almighty. They not only excommunicated Tagliacozzi but later got his corpse exhumed from its church grave and placed in an unconsecrated ground! In the 17th and 18th century not much importance was attached to plastic surgery in Europe. The great Voltaire (1694-1778) wrote a satirical poem on Tagliacozzi and his operation on the nose, using flap from the buttocks. Many gentlemen who lost their nose in duel or through other misfortunes had substitutes made of gold, silver or ivory. The Danish astronomer Tycho Brahe (1546-1601) once became involved in a dispute with another young Danish nobleman over who was the better mathematician. The dispute led to a duel in which Tycho lost part of his nose. This he replaced with a mixture of gold, silver, and wax, of which he was very proud.

References

- A. F. R. Hoernle: *Studies in the Medicine of Ancient India*, Oxford, Clarendon Press, 1912.
- B. Dash: *Fundamentals of Ayurvedic Medicine*, Delhi : Bansal, 1978
- B. Simhaji, Maharaja of Gondal, Sir: *A Short History of Aryan Medical Science*, London, New York, Macmillan and co., Ltd., 1901.
- J. Esdaile: *Mesmerism in India, and its practical application in surgery and medicine*, London : Longman, Brown, Green & Longmans, 1847.
- K. N. Udupa: *Advances in research in Indian medicine*, Varanasi : Banaras Hindu University, 1971.
- M. M. S. Ahuja: *Progress in clinical medicine in India*, New Delhi : Arnold-Heinemann Publishers (India), 1965.
- P. Kutumbiah: *Ancient Indian Medicine*, Bombay : Orient Longmans, 1963.

Adivasis and the Freedom Movement

Dr. Dilip Kumar Yadav

Ph.D. NET, Kanti, Muzaffarpur

As soon as the British took over Eastern India tribal revolts broke out to challenge alien rule. In the early years of colonization, no other community in India offered such heroic resistance to British rule or faced such tragic consequences as did the numerous Adivasi communities of now Jharkhand, Chhatisgarh, Orissa and Bengal. In 1772, the Paharia revolt broke out which was followed by a five year uprising led by Tilka Manjhi who was hanged in Bhagalpur in 1785. The Tamar and Munda revolts followed. In the next two decades, revolts took place in Singhbhum, Gumla, Birbhum, Bankura, Manbhum and Palamau, followed by the great Kol Risings of 1832 and the Khewar and Bhumij revolts (1832-34). In 1855, the Santhals waged war against the permanent settlement of Lord Cornwallis, and a year later, numerous adivasi leaders played key roles in the 1857 war of independence. But the defeat of 1858 only intensified British exploitation of national wealth and resources. A forest regulation passed in 1865 empowered the British government to declare any land covered with trees or brushwood as government forest and to make rules to manage it under terms of its own choosing. The act made no provision regarding the rights of the Adivasi users. A more comprehensive Indian Forest Act was passed in 1878, which imposed severe restrictions upon Adivasi rights over forest land and produce in the protected and reserved forests. The act radically changed the nature of the traditional common property of the Adivasi communities and made it state property. As punishment for Adivasi resistance to British rule, "The Criminal Tribes Act" was passed by the British Government in 1871 arbitrarily stigmatizing groups such as the Adivasis (who were perceived as most hostile to British interests) as congenital criminals.

Adivasi uprisings in the Jharkhand belt were quelled by the British through massive deployment of troops across the region. The Kherwar uprising and the Birsa Munda movement were the most important of the late-18th century struggles against British rule and their local agents. The long struggle led by Birsa Munda was directed at British policies that allowed the *zamindars* (landowners) and moneylenders to harshly exploit the Adivasis. In 1914 Jatra Oraon started what is called the Tana Movement

(which drew the participation of over 25,500 Adivasis). The Tana movement joined the nation-wide Satyagrah Movement in 1920 and stopped the payment of land-taxes to the colonial Government. During British rule, several revolts also took place in Orissa which naturally drew participation from the Adivasis. The significant ones included the Paik Rebellion of 1817, the Ghumsar uprisings of 1836-1856, and the Sambhalpur revolt of 1857-1864. In the hill tribal tracts of Andhra Pradesh a revolt broke out in August 1922. Led by Alluri Ramachandra Raju (better known as Sitarama Raju), the Adivasis of the Andhra hills succeeded in drawing the British into a full-scale guerrilla war. Unable to cope, the British brought in the Malabar Special Force to crush it and only prevailed when Alluri Raju died. As the freedom movement widened, it drew Adivasis into all aspects of the struggle. Many landless and deeply oppressed Adivasis joined in with upper-caste freedom fighters expecting that the defeat of the British would usher in a new democratic era.

Unfortunately, even fifty years after independence, Dalits and Adivasis have benefited least from the advent of freedom. Although independence has brought widespread gains for the vast majority of the Indian population, Dalits and Adivasis have often been left out, and new problems have arisen for the nation's Adivasi populations. With the tripling of the population since 1947, pressures on land resources, especially demands on forested tracks, mines and water resources have played havoc on the lives of the Adivasis. A disproportionate number of Adivasis have been displaced from their traditional lands while many have seen access to traditional resources undercut by forest mafias and corrupt officials who have signed irregular commercial leases that conflict with rights granted to the Adivasis by the Indian constitution. It remains to be seen if the the grant of statehood for Jharkhand and Chhatisgarh ameliorates the conditions for India's Adivasis. However, it is imperative that all Adivasi districts receive special attention from the Central government in terms of investment in schools, research institutes, participatory forest management and preservation schemes, non-polluting industries, and opportunities for the Adivasi communities to document and preserve their rich heritage. Adivasis must have special access to educational, cultural and economic opportunities so as to reverse the effects of colonization and earlier injustices experienced by the Adivasi communities. At the same time, the country can learn much from the beauty of Adivasi social practices, their culture of sharing and respect for all-their deep humility and love of nature-and most of all-their deep devotion to social equality and civic harmony.

The Tribal communities living in large part of India participated in numerous revolts against the British occupation from time to time. They vented their ire against intrusion of imperialist forces

and the expansion of the British dominion in India. The most important factor was their opposition to the entry of money lenders, revenue collecting farmers and businessmen in their simple life. Their imperialistic economic policies and suppression had been responsible for bringing the Tribal communities under the British rule. The Tribal revolts, their irrepressible courage and extreme dedication and the state machinery's brutal manoeuvres to suppress them, was a remarkable development in India's struggle against foreign rule. On one hand disciplined British India troops equipped with modern day weapons, on the other hand Tribal soldiers equipped with Bows & Arrows, axes and other ancient weaponries. They were angry, disorganized and fought a unequal battle as a result of which they were killed in lakhs. Among there various revolts the most important were the revolt by Koala tribesmen from 1820 to 1837, Santhal revolt from 1855-56, Rampas in 1879 and the Mundas from 1895-1901. Birsa Munda was the leader of the revolt of the Munda Tribesman from 1895-1901. The horrific ritual of human sacrifice practiced by the Kandhas upto the middle of the 19th century has been an indelible blot on the community. But the way they offered dogged resistance to the British for several decades, not withstanding their deprivation, they amply deserve kudos for their valiant fight. The tribals played a stellar role in the Khurda Rebellion commanded by Buxi Jagabandhu against the British in 1817. There had been a smouldering discontent against British rule in the coastal areas of Orissa for several years, on the grounds of agrarian, economic and political issues. It was a band of 400 Kandhas of Ghumusar, who sparked off the conflagration by entering the Khurda region to fight. Buxi Jagabandhu and his army joined there, and the revolt soon spread to Khurda, Tangi, Gopa, Bolagarh, Banapur, Pipili, Nayagarh and other places.

References

- Behera M.C. and Basar Jummy : *Interventions and Tribal Development : Challenges Before Tribes in India in the Era of Globalisation*, Serials, Delhi, 2010.
- Bisht B.S. : *Ethnography of a Tribe : Study of Anwals of Uttarakhand Himalaya*, Rawat, Delhi, 2001.
- Devi A. Sailaja : *Socio Economic Conditions of Tribes*, Sonali, Delhi, 2005.
- Kalgi B B : *Scheduled Tribes in Transition : A Sociological Study of Gonds*, Classical, Delhi, 2008.
- Basu, Pradip Kumar: *The Communist Movement in Tripura*, Calcutta: Progressive Publishers, 1996.
- Beckford, James : *New Religious Movements and Rapid Social Change*, Paris and London, Publications, 1986.
- Bodding, P. O. : *Santal Riddles and Witchcraft among the Santals*, Oslo: A. W. Brøgers, 1940.
- Culshaw, W. J. : *Tribal Heritage; a Study of the Santals*, London: Lutterworth Press, 1949.

Socioeconomic Profile of the Tribals During the Colonial Period

Dr. Sunil Kumar

M.A., Ph.D., Kashipur, Vaishali

Rural India had been inhabited by the tribal population from the beginning. The tribal communities lived in relative seclusion and isolation for centuries and in varying states of economy. In spite of their contacts with the non-tribals, they maintained their separate identity. Each tribal community maintained its own socio-religious and cultural life and its political and economic organisations. Until the arrival of the British in the tribal areas, the main means of production and subsistence for the tribals were land and forests. The forests were of great significance for the tribals all over India. They had customary rights to use the minor forest products. Firewood, flowers, fruits, leaves, honey, housing material, edible nuts, medical herbs etc. formed the essential items of the daily requirements of tribals. They used forest products for food, constructing houses and shifting cultivation. They grazed their cattle in the forests. The forests provided them with security. About the significance of the forests for the tribals Kr. Suresh Singh says: "They (Tribal communities) can, therefore, subsist on conditions in which members of these more civilized race could not exist. When the crop fails, jungle fruits and vegetables of all kinds (sag) are valuable reserve. With the help of these they succeed in teething over the period of stress which could play havoc.

In addition, the tribals practised weaving, basket making, fishing, hunting and food gathering. Their instruments of labour and livelihood were not very developed. Bows and arrows were the main instruments of self-defence and hunting. The tribal communities had their respective chiefs and clan councils (panchayat) to look after them and manage their social, religious, economic and political affairs. Each tribal paid some amount of land produce to his respective chief. But it was not a legal right; it was a moral requirement. The chiefs were given voluntary contribution in kind and a few days of free labour every year by the people.

The British policies disturbed the traditional tribal systems. The tribal land system was marked by its corporatorial ownership

of land and absence of the landlords. But the British changed the land system of the tribals. They created the hitherto unknown class of zamindars (landlords) in the tribal areas. Rajputs were brought in the tribal areas of Chotanagpur to perform military and religious services. For their roles, they were assigned the zamindari rights in the land. The zamindars were considered outsiders by the tribals. The tribals were reduced to the position of tenants. The clan councils of the tribals were replaced by the councils of rajas consisting of their followers, traditional land system of the British was turned into tenancy systems.

The British also introduced contractors (Thekedars) in the tribal areas. The zamindars and thekedars introduced the land rent in the tribal areas. Following the introduction of market economy, a class of traders also developed in the tribal areas. The tribal tenants had to pay the rent in cash. As they did not have cash with them, they had to borrow from the moneylenders. Hence, a class of moneylenders also came into being in the tribal areas. The isolated tribal communities were connected with the outside world following the introduction of means of communication and transportation. The self-sufficient tribal economy was converted into market economy. The customary system of justice was replaced by the new legal system. The new legal system was not suitable to the tribals. The tribals could not afford to utilise the new legal system, as they were not educated and they did not have money for the fees of the lawyers. The British brought a host of petty government official and clerks in the tribal areas.

All these classes-zamindars, thekedars, traders, moneylenders, government officials-were not natives of the tribal areas. Nor did they belong to the tribal communities. They were brought into the tribal areas by the British. They could be Hindus, Muslims, Christians, Sikhs or Europeans. Hence, they were considered outsiders-dikus-by the tribals. These classes collaborated with the British administration in the process of exploitation and oppression of the tribals. The landlords extracted exorbitant amount of rent from the tribals, evicted them from their land and extracted begar (forcible labour) from the tribals. In case of defiance, the tribals were physically assaulted by the zamindars. They were deprived of their belongings. The moneylenders exploited the tribals by charging exorbitant amount of interests from them. Many a time the tribals were forced to sell out their belongings and children and wives to meet the requirements of the landlords and moneylenders. The government officials took advantage of their innocence. They were the ally of landlords, moneylenders, contractors and traders in the exploitation of the tribals.

Till the middle of the nineteenth century, the tribals had customary rights in the forest. Their right to use the forest products was recognized. But the forest policy (1884) of the British curtailed the tribal rights to use the forest produce. Moreover, the development of the communication system i.e. telegraphic, roadways and railway services and the introduction of the common administrative system ruined the natural economy of the forests. These developments affected the tribals all over the country. The tribals were benefited from the British forest policies. The British policies were detrimental to the tribal interests.

The government sometimes paid compensation to the tribals for the loss caused by the encroachment of the forests. But the compensation could not trickle down to them. It was usurped by the clerks, the pleaders and the munshis in between.

In addition to the devastation caused to the tribal communities, the famines in the later half of the 19th century worsened the conditions of the tribals. The continuous increase in the prices of the essential commodities made their conditions unbearable. The land formed for the tribals, not only a source of livelihood, but a spiritual source as well given to them by their ancestors. They were being alienated from their land due to distress. The rights of the outsiders-money-lenders and landlords-were recognized over their land. The attack on the tribal system was a threat to their existence.

References

- Bailey F.G. : *Tribes, Caste and Nation*, Bombay: Oxford University Press, 1960.
- Bandopadhyay Arun : *Tribes, Forest and Social Formation in Indian History*, Manohar, Delhi, 2004.
- Bhasin M. K. : *Genetics of Castes and Tribes of India*, Kamla-Raj Enterprises, Delhi, 2001.
- Chandra Ramesh : *Environment Forest and Tribes: Anthropological Concomitance*, Himanshu, Delhi, 2000.
- Dasgupta Samira : *Ethno Ecology of Indian Tribes : Diversity in Cultural Adaptation*, Rawat, Delhi, 2000.
- Devi A. Sailaja : *Socio Economic Conditions of Tribes*, Sonali, Delhi, 2005.
- Kalgi B B : *Scheduled Tribes in Transition : A Sociological Study of Gonds*, Classical, Delhi, 2008.
- Misra Pramod : *Ecology, Culture and Health : A Primitive Tribe*, Serials Pub, Delhi, 2004.
- Munshi Indra : *Adivasi Life Stories : Context, Constraints, Choices*, Rawat, Delhi, 2007.
- Panwar Ramesh : *Tribes and the Indian Society : An Impact of Tribal Development*, Signature Books International, Delhi, 2011.
- Roy Rajarshi : *Ethno-Pedagogy : Education of Tribes, Teachers' Training and Juxtaposition of Status*, Shipra, Delhi, 2007.
- Sahu C. : *Encyclopaedia of Indian Tribes*, Sarup, Delhi, 2000.

Psycho-social Impact of Unemployment

===== S.M. Bakhteyar Fatmi¹ and Md. Rafique Alam²

1. Assistant Professor, Department of Psychology
Oriental College, Patna City

2. University Professor & Head, Department of Psychology
Veer Kunwar Singh University, Ara

ABSTRACT

Social conditions of alienation, isolation, marital disruption, unemployment, lack of social resources and social supports are clearly implicated in mental health problems in a number of ways. These conditions along with increased stress, increasingly became the concern of people in the mental health field and community psychology. Unemployment defined as the state of not being used. It is a condition of one who is able to work but unable to find it. It is especially applied to the state of those persons normally in remunerative work. An unemployed person may be defined as a man or woman or juvenile of working age between the school leaving age and the pensionable age who is technically and physically fit for a job, willing to work, but unable to find work. In short, unemployment represents the disparity between the normal working force and the jobs, available. No doubt unemployment has provide a curse for the society. Unemployed people are more vulnerable to substance abuse, crime, maladjustments, divorce, anxiety, stress, conservatism, depression, hostility, suicide, and aggression etc. as well as physical illness. Unemployment is a great source of stress. Stress refers to a threat, an insult or an imbalance. Any stress may create abnormal behaviour or maladaptive behaviour which is detrimental to the individual, group, society and nation.

NATURE OF UNEMPLOYMENT

Unemployment is a severe social stress. It is a widespread opinion among economists that the proximate cause of unemployment is excessively high wage costs, produced either by high wages or by low productivity. The causes of unemployment are the operation of the unemployment benefit system, power of unions to raise wages relative to non-union wages. The unabated rise of unemployment all over the world especially in the developing countries is causing greater concern for the planners and the public alike. Millions of youth in India are forced to confront

with the harsh reality of unemployment against which they have no defences. It is believed that there is no total solution to the problem in the near future and the youth have to learn the ways of coping with it.

Unemployment is a universal phenomenon and which has proved a bane for the society. Unemployment is the negative aspect of the economic process as it is a condition of being without gainful work. It is generally considered as an involuntary failure to get income yielding work. An unemployed person is one who despite his willingness and capacity to work is unable to do so for reasons inherent in the organization of commodity production (Chakrapani, 1995; Pribram, 1957; Saxena, 1972). At the macro level, unemployment is seen as the disparity between the total labour force in the working age seeking work and the total demand by employers for labour. Unemployment has created so many psycho-social problems.

IMPACT OF UNEMPLOYMENT

1. Impact of Unemployment on the Individual

Unemployment has very adverse effects on the individual at the behavioural, physiological and psychological levels. Jahoda's (1980) findings on the dearth of literature on psychological consequences of unemployment during 1970s in contrast to the extensive work done on the subject during 1930s. Eisenberg et al. (1938) reviewed as many as 112 studies on psychological effects of unemployment. The similar findings have been reported by Fraser (1980), Gurney et al. (1981) and Hartley (1980).

Goodchilds et al. (1983) hold that the study of unemployment should increase our understanding of social stress and its effects on personality and behaviour. The involuntary out of work individual is subject to a stressful situation which is much more intense and much longer lasting than any which could or possibly should be imposed in laboratory experimentation (Alam, 2002a).

Long term unemployment may make a man isolate himself from community organizations. Lack of income and embarrassment may cause him to withdraw from recreational groups, political organizations and even religious rituals. Wilensky (1967) has reported that prolonged unemployment leads to a state of apathy in which the victims do not utilize any longer even the few opportunities left to them. The unemployed become extremely isolated and often can name no friends, organizational memberships are rare, all in contrast to social life (Alam, 2002b;

Rani, 2011). Borgeon et al. (1990) have demonstrated that unemployment results in the loss of self-esteem, increased the dependency of the individual and frustration resulting in revolt. Some other researchers have reported that unemployed person has loss of self respect, inferiority complex, loss of self confidence and low self image. The loss of self respect due to unemployment, frustration and isolation from community etc. manifest themselves in serious emotional maladjustment like anxiety, phobia, neuroticism, depression, aggression, negative mental health etc. (Patton, et al. 1990).

2. Impact of Unemployment on the Family

Unemployment destroys the family life. Because it affects the family economically, socially and psychologically. The direct economic impacts are obvious that there are indirect and non-economic consequences. There appears to be some loss of skill in protracted employment, a weakening of the mental outlook, an increase in delinquency, physical debilitation and some deterioration in the family life (McGhee et al. 1989). It has been argued that unemployment is possibly among the more catastrophic and critical experiences of both the person and the family, and as an independent variable has great explanatory power for many types of personal and social phenomena ranging from delinquency, crime to mental disorders (Hauser, 1964).

Impact of Unemployment on the Society

Genesis of poverty is unemployment. Unemployment can be a part of and separate from the problem of poverty. Unemployment sometimes is a cause of poverty and often its result too. Corcoran et al. (1980) have found that the number of persons living in poverty would have been reduced by about 10 percent if unemployment of all household heads has been eliminated. The significance of unemployment varies with the general character of a nation's economic activity and mobility.

Social scientists believe that unemployment creates frustration among the people because of the feeling that they are a burden on society. This feeling of futile existence would lead them to anarchic tendencies detrimental to the nation. When these attitudes of frustration and worthlessness surface, they could lead to development of anti-social behaviour, crime, terrorism and in some cases emergences of totalitarian political movements (Dhar, et al. 1976; Rossi, et al. 1980).

Researchers have reported that unemployment seems to produce psychological effects like low adjustment and high

depression. From the human stand point of the individual, unemployment is more personal and catastrophic because it can seriously impair the morale of the person by making him feel that society has no need of his services. This brings out the suppressed feelings of inferiority to the forefront causing more stress and thus stress assumes gravity proportions in the even of presence of life stress events. The presence of these life events concurrent with the experience of unemployment increase the probability of negative mental health outcomes (Chakrapani, 1995; Kessler et al. 1987). There is evidence that unemployed are characterized by negative mood and scored high on the worry scale. The low mental health among the unemployed is also reported.

Though the occurrence and intensity of these effects vary with the economy and type of social structure at the societal level, with the socio-economic background and interpersonal relationships between family members at the familial level and on the moderating factors like sex, age, education, marital status, socio-economic status and more important is the material and moral support that is available to the individual at the individual level. The coping style also affects the impact of unemployment.

COPING WITH UNEMPLOYMENT

Unemployment is an intense life event and environmental stress. Stress is the common principle involves insult to the organism and degradation of function, produced in the face of noxious stimulus events, and the evocation of mechanisms to counter the effects (Sells, 1970). A general sequence of events, alarm, resistance and exhaustion, have been identified by various researchers in most of the context and processes in which stress is studies.

Stress is sometimes associated with reduced productivity as well as extra ordinary labour. Thus the stress reflected by work dissatisfaction may go along with inhibition rather than unrestrained output. Yet especially compared with the state of non-work or idleness the performance of tasks to reach goals has been regarded as a restorative and tension reducer. Manifestly, one can lose oneself in work, become oblivious to the slings and arrows, or one can be enmeshed in work and feel intense pain with every arduous act.

Any stress inducing factors need not necessarily produce stress in every individual and stress responses are usually subject to great individual variations. It is interesting to see what causes those variations. The same stressor may elicit a strong response in another,

a mild response in another, and yet no stress experience and response in the third one. Here, attention goes to the process by which an individual copes with stress.

COPING PROCESS

The coping process as a concept is distinct from coping mechanisms and resources which aid the coping process. Coping process is entirely personal, whereas coping resources can be non-personal e.g. family, religion etc. as coping resources. The coping process can be broadly conceived as consisting of an array of covert and overt behavioural patterns and the attendant somatic changes by which individuals can actively respond to stress inducing circumstances. Some coping mechanisms have been explained in terms of defence mechanisms by Freud, (1946) and Lazarus (1966). The term coping is a kind of adaptive tension management and problem solving behaviour. Lazarus (1966) says that coping is best considered as a form of problem-solving in which the stakes are the person's well being and the person is not entirely clear about what to do in dealing with demanding situations experienced as stressful.

Coping involves two process: (i) Direct action (ii) Palliation.

- (i) *Direct Action*: It is the actual behaviour that is aimed at changing the person's dissonant or stressful relationship with his environment, and can take the forms of – (1) preparation against perceived threat or harm (2) aggression and (3) avoidance or escape (flight or fight). In the event of inability of the individual to act directly upon the source of the problems, he/she chooses substitutes to relieve his/her stress by showing his/her aggression on substituted targets. This is called displacement, a kind of defense mechanism. For example, an unemployed husband picking quarrels with his wife on trivial matters or vice versa.
- (ii) *Palliation*: This moderates the experience of stress and reduce its psychological consequences. This may be achieved in several ways. One is direct palliation which includes the use of alcohol, tranquilizers and other techniques. And another is intrapsychic palliation which involves defense mechanisms which has been explained by father of psycho analysis. Freud, (1946) used the term defense to denote the mechanisms by which the affected person deceives himself/herself that there is no stress. The another type of coping are Type I and Type II. Type I refers to dealing with the situation by way of exhibiting problem solving behaviours such as obtaining

resources to counter the threat or meet the demand whereas in Type II coping behaviours involve emotional and anxiety reactions and include withdrawal, group affiliation, hostility and aggression (Kahnm et al. 1964). In short coping is a form of adaptive behaviour which is aimed at reducing stress. The range of coping behaviours that are used is very wide, involving direct actions, defense reactions cognitive reappraisals, and attitudinal, emotional and psychosomatic changes. There are two types of coping resources i.e. environmental (exogenous) and individual (endogenous). Individual resources denote to ego strength, ego control and personality factors whereas environmental factors include to family, kinship, peers, religion and formal and informal organizations.

DEALING WITH UNEMPLOYMENT

Unemployment is an objective structural condition of the economy, the solution of which demands a far reaching changes in the economy itself. In societies where formal support (unemployment insurance, stipends etc.) is available the individual might not need informal supports. Where such formal supports are lacking, the psychological well-being of the individual depends upon informal support, available to him. The importance of sociological resources of coping are emphasized. Among the personal or individual are sources high self esteem and ego source reduced the stress of unemployment. To cope with unemployment needs different strategies, probably strategies newer than what the individual is familiar with.

REFERENCES

- Alam, M.R. (2002a). Technological development and mental health. Paper presented to National Seminar on Technological Development and Psycho-social Changes, JMI, New Delhi, 1-3 March.
- Alam, M.R. (2002b). Unemployment as predisposing and precipitating factor for mental disorders. Paper presented to National Conference on Community Psychology, Muzaffarpur, 16-17 March.
- Borgeon, W.A., Hates, W.E. and Amundson, N.E. (1990). The experience of unemployment for university graduates: The exploratory study. *Journal of Employment Counselling*, 27, pp.104-112.
- Chakrapani, C. (1995). *Unemployment stress: A study of educated unemployed*. New Delhi : Vikas Publishing House Pvt. Ltd.
- Corcoran, M. and Hill, S.M. (1980). Unemployment and poverty. *Social Service Review*, 54.
- Dhar, T.N., Ilchman, A.S. and Ilchman, W.F. (1976). *Education and employment in India : The Policy nexus*. Calcutta, Minerva.

- Eisenberg, P. and Lazarus, P.C. (1938). The psychological effects of unemployment. *Psychological Bulletin*, 35.
- Fraser, C. (1980). The social psychology of unemployment. In M.A. Jeeves (ed.). *Psychological Survey* 3, London: George Allen and Unwin.
- Freud, A. (1946). *The ego and the mechanisms of defence*. New York : International Universities Press.
- Goodchilds, D.J. and Smith, E.E. (1983). The effects of unemployment as mediated by social status. *Sociometry*, 26.
- Gurney, R.M. and Taylor, K. (1981). Research on unemployment defects, neglects and prospects. *Bulletin of the British Psychological Society*, 34.
- Hartley, J. (1980). Psychological approaches to unemployment. *Bulletin of the British Psychological society*, 32.
- Hauser, P.M. (1964). Labour force. In R.E.L. Faris (ed.) *Hand book of modern sociology*. Chicago; I.L. Rand McNally.
- Jahoda, M. (1980). The impact of unemployment in the 1930s and the 1980s. *Bulletin of the British Psychological Society*, 32.
- Kahn, R.L., Wolfe, D.M., Guinn, R.P., Snork, J.C. and Rosenthal, R.A. (1964). *Organizational stress: Studies in role conflict and ambiguity*. New York : Wiley.
- Kessler, R., Ronald, C., House, J.S. and Turner, J.B. (1987). Unemployment and health in a community sample. *Journal of Health and Social Behaviour*, 28, pp.51-59.
- Lazaru, R.S. (1966). *Psychological stress and coping process*. New York : McGraw Hill.
- McGhee, J. and Fryer, D. (1989). *Unemployment income and the family : An action research approach*. *Social Behaviour*, 4, pp.237-252.
- Patton, W. and Noller, P. (1990). Adolescent self concept effects of being employed, unemployed or returning to school. *Australian Journal of Psychology*, 42, pp.247-259.
- Pribram, K. (1957). *Unemployment : Encyclopaedia of social sciences*. New York: The MacMillan Co.
- Rani, A. (2011). Nexus between unemployment, Stress and Social Capital, *Saidhantiki*, Vol.IV, pp.149-152.
- Rossi, P.H., Berk and Lenihan, E.J. (1980). *Money, work and Crime*. New York : Academic Press.
- Saxena, J.P. (1972). *Education and unemployment in India: Problems and suggestions*. New Delhi : Commercial Publications Bureau.
- Sells, S.B. (1970). On the nature of stress. In McGrath, J.E. (ed.) *Social & Psychological factors in stress*. New York: Holt Rinehart & Winston.
- Wilensky, H.L. (1967). Work as a social problem. In H.S. Becker (ed.) *Social Problems : A modern approach*. New York : John Wiley & Sons Inc.

Self-management Approaches for People with Stress: A Review

Basant Lal Sharma

Research Scholar, Dept. of Psychology, M.U. Bodh Gaya

The health menaces of modern times are diseases related to unhealthy life style and stress. Stress is the Physiological and Psychological responses to a condition that threaten or challenges a person and requires some form of adaptation or adjustment. Prolonged exposure to strength situation generates several types of stress responses, such as Physiological, Emotional and Behavioural (Folkman, 1984).

Chronic and prolonged experienced of stress increases the susceptibility to illness. In 1967 Holmes and Rohe examined the relationship between life stress and the onset of illness. They found that sick people had experience severe stressful life events during the year before they fell ill. Researchers have also found relationship between stress and death (Engel, 1971); Respiratory infection and cancer (Cooper & Faragher, 1991); Thus the greater the life stress, the greater the likelihood of illness.

Stress management is the amelioration of stress and especially chronic stress often for the purpose of improving everyday functioning. Stress produces numerous symptoms which vary according to persons, situations, and severity. These can include physical health decline as well as depression. According to the St. Louis Psychologists and Counselling Information and Referral, the process of stress management is one of the keys to a happy and successful life in modern society. Although life provides numerous demands that can prove difficult to handle, stress management is the best way to manage anxiety and maintain overall well-being. More information is provided below on how to measure stress levels, learn about stress management models and practice techniques that will help to reduce stress and promote a positive lifestyle.

Sources of Stress

Researches have revealed that are various sources of stress.

F.Holmes and Rahe (1967) stressful life events are very important sources. They asked a large group of persons to assign arbitrary points to various life events according to how much readjusting each had required.

It was reasoned that the greater the number of the points assigned to a given event, the more stressful it was for the persons experiencing it. Later, they related the total number of points earned by person during a single year to the changes in their personal health. It was reported finally that the greater the number of stress points people accumulated, the greater was their likelihood of becoming serious ill. Later on, this was also confirmed in many other studies. (Delongies, Folkman and Lazarus; Kanner et al.)

Pestionjee (1992) have identified the following three specific sector causing stress:

- (a) *Intrapsychic Sector* : This includes those aspects that are intimate and personal in nature such as individual value, temperament, abilities, needs, expectation and health.
- (b) *Social Sector* : This incorporates the social cultural milieu of the person. It includes religion, caste, language, attitudes beliefs of about the others, etc.
- (c) *Jobs and Organisation* : It incorporates a totality of work environment, a glimpse of which has been given upon interpersonal relationship, job description, work culture and compensation offered.

Techniques or Strategies

Many techniques cope with the stresses life brings. Some of the following ways induce a lower than usual stress level, temporarily, to compensate the biological tissues involved; others face the stressor at a higher level of abstraction:

- (1) Control Negative Thought
- (2) Exercise your Imagination
- (3) Autogenic Training
- (4) Cognitive Therapy
- (5) Conflict Resolution
- (6) Getting a hobby
- (7) Artistic Expression
- (8) Fractional Relaxation
- (9) Spending time in nature

(10) Progressive Relaxation

(11) Deep Breathing.

People use different techniques or strategies to lower down or eliminate the experience of stress, for example, problem-focused coping strategy or emotion focused strategy. Moreover, some people use self instructional or self control training for coping with stress.

Self instruction or self control training is a cognitive for cooling the agitated mind. This technique was first preached by Lord Krishna to Arjuna when Arjuna was extremely distressed in war field. Later on Psychologist Donald Meichenbaum and his associates explored the method of self instruction training for reducing the stress.

The ancient Yoga Philosophy emphasizes self control or self instruction as a technique of stress management. Bhagavad-Gita is the best source of stress management through control of mind. Arjuna says –

“For the mind is restless, turbulent, obstinate and very strong, O Krishna, and to subdue it is, it seems to me, more difficult than controlling the wind ”(BG.6.34).

As an answer to Arjuna’s query Lord Krishna emphasizes practice and renunciation by saying – “O mighty armed son of Kunti, it is undoubtedly very difficult to curb the restless mind, but it is possible by constant practice and by detachment.” One of the important teaching in the Bhagavad-Gita is about the nature of the stable mind.

The Sanskrit expression ‘Sthitipragna’ is translated as ‘Firm in judgment and wisdom calm, contented’ the word ‘Sthita’ means ‘Firm, constant, invariable.’ Shri Krishna say to Arjuna (Gita,11. 54-57) regarding the stable minded person as follows:

“When a man abandoneth, O Partha, all the desires of the heart, and is satisfied in the SELF by the SELF, then he is called stable in mind. He whose mind is free and anger, he is called a sage of stable mind. He who on every side is without attachments, whatever hap of fair and foul, who neither likes nor dislike, of such a one the understanding is well poised.” Thus one of the important teaching of Bhagvad-Gita is that control of mind through practice is the best way for getting free from anxiety, fear anger and instability of mind. These problems are characteristics of stress which could be managed through control of mind through self practice, that may be executed through self-instruction.

In this context Donald Meichenbaum (1993; 1977; 1975) developed technique for coping with stress called "Self instruction training or Stress inoculation training." This method is based on the belief that during stressful situations, many people make statements to themselves (Self- statements) that heighten their anxiety and render them ineffective. Therapists who provide self-instruction training teach clients to rid themselves of these negative self-statements ("Oh, no, everything is going wrong") and replace them with coping self-statements ("One step at a time; I can handle the situation").

Meichenbaum theorized that people who experience anxiety have inadvertently learned to generate counter productive self statements during stressful situations and as a result, react to any difficult situation with fear and discomfort. Hence in this treatment program (i.e. Self instruction training), there pints had client to make helpful rather than counterproductive self-statements while in difficult situations.

References

- (1) Canon, W.B. (1929) : Bodily changes in pain, hunger, fear and rage. 2nd ed. Englewood Cliffs, N.J. Prentice Hall.
- (2) Cooper, A.J. and Faragher, J. (1991) : A factual study of male potency disorders. British Journal of Psychiatry.
- (3) Sapolsky, D.T. (1994) : The elimination of the self-destructive behaviour of a Psychotic Child Behaviour.
- (4) Meichenbaum, D.H. (1973) : Cognitive modification of test anxious college students. J. cons. Clin. Psy.
- (5) Folkman, S. Lagaras, R.S. Pimley (1987) : Age differences in stress and coping process Psychol Aging.
- (6) Jain, R.K. & Rao, Sunil S. (2011) : Industrial Safety, Health and Environment Management system.
- (7) Shashi, G.; Mohan, D. & Kacker, C (1989): Effectiveness of Yogic Technique in the Management of Anxiety, Journal of Personality and Clinical Studies.

A Study of Attitude of Hindi School Students in Some Psycho-social Problems

Sandhya Kumari

Research Scholar, Jai Prakash University, Chapra (Bihar)

The main objective of the present research work is to investigate the attitude of Government Hindi School students in comparison with the attitudes of Urdu School (Madarsa) and Sanskrit School students of high school level towards some psycho-social problems as social change, social revolution, social distance, liberalism, nationalism, untouchability and family planning. In addition to this, the effects of residential area, size of the family and sex are also to be sought on attitude towards social change, social revolution, social distance, liberalism, nationalism, untouchability and family planning.

We have seen that in Government Hindi Schools, students belonging from varying castes, creeds and language groups take admission. In Urdu School or Madarsa mostly Muslim students take admission, while that in Sanskrit Schools mostly non-Muslim students particularly Brahmins take admission.

It is known that these three types of schools differ in their curriculum and educational environment. In Urdu and Sanskrit Schools the curriculum is laden with religious techniques, the curriculum is scientific and with modern ideologies in Government Hindi Schools. The different social problems are still remained in the minds of the students of these three types of schools which are affected by traditional, dogmatic or secular outlook.

In our country India, the Muslims by and large constitute the socially and economically disadvantaged group but the non-Muslim (the Hindu Community) is regarded as socially and economically high and privileged group in our contemporary society. On the eve of India and Pakistan partition most of the privileged and socio-economically sound families of the Muslim community either remained in or migrated to Pakistan or Bangladesh. Majority of disadvantaged and poor Muslim families remained in India constituting poor minor group. Most of the

members of this poor minority group educate their children in Urdu School or Madarsa.

Our Indian Constitution guarantees equal right to every citizen irrespective of caste, creed and religion. But minority group belongingness develops different psyche and backwardness which develops feelings of inferiority in them.

In fact when the minority groups are socially discriminated, prejudiced and sustained by the majority groups, they feel alien and turn towards anti-social and anti-national activities. They also try to consolidate their position by begetting more and more children. Dogmatic religious teachings strengthen their outlook.

It is as reported by Dasgupta (2002), Hindu and Muslim perceived different social and national problems separately. The Hindus regard Ghazni, Aurangzeb and Jinnah as villains but the Muslims see them as heroes.

In spite of significant social changes and modernization, religious bonds are very strong in Muslims than Hindus. They do not easily digest the changes caused by modernization, traditions bounded culture and do not permit them to accept the innovations and changes taking place in other religious groups. As Muslim and Hindus constitute distinctly two different groups in which the former constitutes the socio-culturally, educationally and economically a disadvantaged group, while the latter constitutes the socio-economically, socio-culturally and educationally an advantaged group.

But among Hindus, the poor groups are also educated in Sanskrit Schools, Hindus constitute the disadvantage group on educational and economic scale because priesthood is losing its charm and does not fetch sufficient amount for their livelihood. Thus these differences in social, economical and cultural background are bound to be reflected in their attitudes toward social change, social revolution, social distance, liberalism, nationalism, untouchability and family planning.

In recent century Indian researchers are greatly interested in the problem of social changes of Muslims downtrodden and educationally backward sections of the society. Since the Indian society, based on secular constitutional outlook, has now taken up the task of changing itself from a society based on caste, creed, class and community to a society which aims to be casteless and classless with equality of opportunity to every citizen guaranteed by the constitution of India adopted in 1950.

The transformation of the individual from the member of caste, creed, language group or religion to a true citizen of India is the vital problem of contemporary social situation in India. The transformation of the individual in social relationship and outlook towards different social national problems such as social change, social revolution, social distance, liberalism, untouchability and family planning is necessitated by the new social, religious, educational, economical, political and humanitarian ideals. So that it is the task of social scientists and psychologists to study how the transformation is taking place and to analyse the nature of residences which are preventing the speed of the transformation.

Total seven hypothesis and twenty one sub-hypothesis were framed in this research work. The main hypothesis of this investigation :- The Government Hindi School students will be differ significantly than the Urdu School and Sanskrit School students in attitude towards -

- (a) Social change,
- (b) Social distance,
- (c) Liberalism,
- (d) Nationalism,
- (e) Social revolution,
- (f) Untouchability,
- (g) Family planning etc.

This investigation conducted on 300 samples (students). The sample consisted of 100 students of Government Hindi Schools, 100 students of Urdu Schools (Madarsa) and 100 students of Sanskrit Schools of X class level in different schools of Chapra, Siwan and Gopalganj Districts. The samples comprised of urban/rural, male/female and Large Family Size/Medium Family Size/small Family Size in Government Hindi Schools, Urdu Schools and Sanskrit Schools. The age range of subjects was 14-17 years old.

The following measuring tools have been used to measure the attitudes of total 300 students :-

- (i) "Attitude Scale" developed by Chauhan et al (1982) has been used. It has 150 items consisting of 25 items for each attitude area for measuring the attitude towards social change, social distance, liberalism, nationalism, social revolution and untouchability.
- (ii) "The Family Planning Attitude Inventory" developed by Paliwal (1979) has been used. This is a five points scale

consisting of 25 items for measuring the attitude towards family planning.

- (iii) A Self-made Questionnaire named “Vyaktigat Suchna Awiskarika” was used for classification of sample on the basis of school, residential area, size of the family and sex. It sought information related to types of school, class, residential area, size of the family, sex and other background factors.

The main conclusions of this research work are as under:-

1. Government Hindi School students showed more favourable attitude towards social change, liberalism, nationalism, social revolution, untouchability and family planning but Urdu School (Madarsa) students showed less favourable attitude towards social distance than Government Hindi School students.
2. Results indicate that Government Hindi School students showed more favourable attitude towards social change, social revolution and family planning whereas less favourable attitude towards social distance and untouchability than Sanskrit School students.
3. Our findings indicate that Urdu School (Madarsa) students holds more favourable attitude towards social revolution but less favourable attitude towards social change, social distance, liberalism, nationalism, untouchability and family planning than Sanskrit School students.
4. Attitude towards social distance, liberalism and family planning influenced by the environment of residential area of Government Hindi School students, Urdu School students and Sanskrit School students.
5. Rural school students showed more favourable attitude towards social distance, liberalism and nationalism whereas less favourable attitude towards social changes, social revolution and family planning than students of urban Government Hindi School environment.
6. Rural School students showed significantly more favourable attitude towards social distance, liberalism, nationalism, social revolution and untouchability but less favourable attitude towards social change and family planning than urban school students at Madarsa environment and in Sanskrit School students.
7. Out statistical findings proved that size of the family partially influences attitude towards social change, social distance,

liberalism, nationalism, social revolution, untouchability and family planning in all groups.

8. Government Hindi School students who belonging to large family size of the family showed more favourable attitude towards social change and untouchability whereas less favourable attitude towards family planning and social distance than medium size of the government School students.
9. Government Hindi School student belonging to medium size of the family hold more favourable attitude towards liberalism, nationalism and social revolution whereas less favourable attitude towards social distance and untouchability than small size of the family of Government Hindi School students.
10. Urdu School students who belonging to large family size showed more favourable attitude towards social distance and untouchability but less favourable attitude towards liberalism, social revolution and family planning than Urdu School students who belonging to medium size of the family.
11. Urdu School students who belonging to medium size of the family showed more favourable attitude towards liberalism, nationalism and social revolution but less favourable attitude towards family planning than the same one students belonging to small size of the family.
12. Sanskrit School students belonging to large size of the family showed more favourable attitude towards social change, Social distance and untouchability whereas less favourable attitude towards family planning than the same one students belonging to medium size of the family.
13. Sanskrit School students belonging to medium size of the family hold more favourable attitude towards liberalism and nationalism than the Sanskrit School students belonging to small size of the family.
14. Findings showed that attitude towards social distance, liberalism and social revolutions has been partially influenced by sex but does not caste its significant impact on attitude towards social change, nationalism, untouchability and family planning.
15. Results indicate that male Government Hindi School students showed more favourable attitude towards social revolution whereas less favourable attitude towards social distance and liberalism than female Government School students.

16. Male Urdu School (Madarsa) students showed significantly more favourable attitude towards social revolution than female Urdu School students.
17. Male Sanskrit School students showed more favourable attitude towards social revolution whereas less favourable attitude towards social distance than female Sanskrit School students.

Thus the main findings to the fact that educational environment influences the attitude towards some psycho-social problems of Government Hindi School, Urdu School (Madarsa) and Sanskrit School students. The other variables such as residential area, size of the family and sex affect their attitudes towards some psycho-social problems.

References

1. Tiwari, Poonam (1976):- 'Second Order Personality Factors of Sterilized and non-Sterilized Persons', Master's Dissertation, Agra University.
2. Anant, S.S. (1972):- 'Education and Social Change: A Study of educational Differences in Inter-caste Attitudes', Ind. J. Psychol. 47,65-75.
3. Ahuja, Ram (1999):- 'Society in India', Rawat Publication, New Delhi.
4. Verma, Anju Lata (1994):- 'A Study of Attitudes of Married and Unmarried College Girls towards Some Social Problems in relation to their adjustment', unpublished Ph.D. thesis in Home Science, B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur.
5. Balkrishna and Murthy, M.V.(1968):- 'Some correlates of Attitude towards Family Planning', Journal of Family Welfare, Vol. 15(2),41-58.
6. Agrawal, B.K. and Gupta, A.K.(1981):- 'Socio-economic Disparities and Social Tension in Rural Punjab: A Case Study', Social Change, Vol. II(i).
7. Tobacs, C.P.(1972):- 'Comparison of Mental Abilities between Lower Socio-economic Status Five Year Old Negro and White Children on Individual Intelligence Measures', dissertation Abstracts, 32, 3806-3807.
8. Allport, G.W.(1961):- 'Pattern and Growth in Personality', New York, Holt.
9. Asharaf, Jawaid (1998):- 'Effect of S.E.S. on Attitudinal Modernity of College Students', behaviorometric, 15(2), pp. 109-112.
10. Watson, J.B.(1914):- 'Behavior: An introduction to Comparative Psychology', N.Y. Holt.
11. Agrawala, S.N.(1960):- 'Research in Family Planning in India' K.B. Krishna Murthy, First Edition, 1968, 1-20.

Concepts of Personality, Self-concept, Extraversion, Feeling of Security and Frustration; In Psychological Perspective

===== Sabita Kumari¹ and Dr. Kamta Prasad Yadav²

1. Research scholar J.P.University Chapra (Bihar)

*2. Reader in Psychology, R.L.S.Y. College, Bettiah
B. R. A. B. U. Muzaffarpur*

(A) Concept of Personality

The term 'personality' is derived from the latin word 'persona' which means 'mask' Among the Greeks, actors used mask to hide their identity on stage. This dramatic technique was later adopted by Romans to whom persona denoted "as one appears to other" not as one actually is.

The popular nonscientific definition of personality as the effect one has on other has two defects. First, it emphasizes only the manifest aspects of the intricate pattern of personality, the expressiveness of the individual. Second, in emphasizing only the objective aspects of personality, according to Allport, 1961 and Stagner 1961 it does not indicate what the real personality is, the subjective or interior organization which is responsible for the expressive aspects. As Hall and Lindzey (1970) have pointed out few words in the English language have a grater fascination for the general public than personality.

"Although the word is used in various senses most of these popular meanings fall under one of two headings. The first usage equates the term to social skill or adroitness. An individual's personality is assessed by the effectiveness with which he is able to elicit positive reactions from a variety of persons under different circumstances. It is in this sense that schools which specialize in glamorizing the American female intend the term when they refer

to courses in "personality training". The second usage considers the personality of the individual to inhere in the most outstanding impression which he creates in others.

A person may thus be said to have an "aggressive personality" or a "sensitive personality" or a "fearful personality". In each case the observer selects an attribute or quality which is highly typical of the subjects and which is presumably an important part of the overall impression which he creates in others and his personality is identified by this term.

(B) Concept of Self Concept

James (1890) called the core of the personality pattern, which provides its unit, the 'self'. Later Freud (1953-1962) referred to it as the "ego" and Sullivan (1953) used the phrase, the "self system". According to James (1890) a person's self is the "sum total" of all that he can call his.

But these days, what a person "can call his" has been spelled out in more definite and specific terms. It has been referred to as his 'attitudes toward self by and values which has been, what he might become and his attitudes pertaining to his worth.

Self concept plays a very important role in personality pattern. Breckenridge and Vincent (1956) have referred to it as the core or centre of gravity of the personality pattern. Cattell (1957) has referred to it as the Keystone of Personality According to Lewin (1951) it gives. 'consistency to the personality'.

Stagner (1961) has emphasized its stabilizing role to personality pattern. It influences the quality of a person's behaviour and his methods of adjustment to life situations. The concept of self has three major components; the perceptual, the conceptual, and the attitudinal. The perceptual component is the image the person has of the appearance of his body and of the impression he makes on others. The perceptual component is often called the "physical self-concept".

The conceptual component is the person's conception of his distinctive characteristics, his abilities and disabilities, his background and origins, and his future, it is often called the 'psychological self-concept', and is composed of such life-adjustment qualities as honesty, self-confidence, independence, courage, and their opposites. Attitudinal component of self-concept includes feelings a person has about himself, his attitudes about his present status and future prospects, his feelings about his worthiness and his attitudes of self-esteem, self-reproach, pride

and shame. At the stage of maturity the attitudinal component includes also the beliefs, convictions, values, ideas, aspirations, and commitments which make up his philosophy of life.

The self-concept takes many forms: the basic, the transitory, the social and the ideal. The basic self-concept corresponds to James's concept of the 'real self'. It is the person's concept of the what he really is. It includes his perception of his appearance, his recognition of his abilities and disabilities and of his role and status in life, and his values, beliefs and aspirations. The transitory self-concept is the concept of self which he holds for a time and then relinquishes.

Transitory self concept may be favourable or unfavourable depending largely on the situation in which person finds himself momentarily. They are generally influenced by some passing mood or emotional state or by a recent experience. They are transitory and unstable because they lack the perspective found in the basic self-concept. The ideal self-concept is made up of perceptions of what a person aspires to be and what he believes he ought to be. It may be related to the written, "prime motive in all behaviours is to preserve one's perception of one's self in tact.

(C) Concept of Extraversion

Extraversion means an outward turning of the libido. There is a manifest readiness in the sense of positive movement within the subject towards the object in extraversion. This is defined as an outgoing transfer of interest from the individual to the object. Jung (1923) presents a very extensive description of personality traits of introvert and extrovert personalities.

The extrovert is a person who values the outer world, seeks for social approval and tends to conform to the mores of his society. Extravert's Behaviour is determined by objective environment. An extrovert is social, carefree, optimistic, laughing and practical. He is fond of practical jokes, always has a readymade answer and generally likes change. He is extensive rather than intensive, experimental rather than theoretical, materialistic rather than mentalistic.

Introversion, opposite aspect of extraversion, means turning inward of libido where by a negative relation is expressed between the subject and the object. Introvert's interest does not move towards the object, but retreats towards the subject. Thus introversion is defined as a recession of interest from the object, towards the subject. A person whose attitude is introverted thinks, feels, and acts in a way that clearly demonstrates that the subject is the chief factor of

motivation while the object has only a secondary value. Introversion may possess either a more intellectual or a more emotional character. It can be characterized by either intuition or sensation.

(D) Concept of Feeling of Security

Security is the condition in which the individual feels himself adequate and happy. On the other hand, insecurity refers to the condition or situation in which the individual feels himself inadequate and unhappy. Feelings of security and insecurity are the opposite poles of the same dimension. Everyone alive in this world has troubles and problems. But there are found individual differences in reaction to these troubles and problems. The feeling of security-insecurity has significant value in insecurity affect the mental health of the person.

In the hierarchy of needs of Abraham Maslow's Self-Actualisation Theory (1970) safety or security needs fall at the second step after physiological needs and before belongingness and love needs. These include security, stability, dependency, protection, freedom from fear, need for structure etc. Such needs are most obvious in infants and children, as in the young child's fear of strangers. The safety needs are largely satisfied for most adults living in a hospitable society. Such needs are seen only during natural or social disaster or in neurotic Behaviour such as obsessive-compulsive disorder.

(E) Concept of Frustration

Frustration is a 'motivational or effective state resulting from being blocked, thwarted, disappointed or defeated, It has a different mechanism of Behaviour, lacking goal-orientation, having intensity, compulsiveness, appearing as a product of need deprivation (Chauhan and Tiwari, 1968; Chauhan et al, 1972). Several psychologists defined frustration' in different fashion but they agree on its general nature. They agree in their definitions on one of the basic principles of human Behaviour, i.e. all behaviours are motivated or goal directed and frustration results when satisfaction of motivated Behaviour is made difficult or impossible.

In frustration Behaviour lacks goal orientation and it is more or less senseless. there is intensity of feeling in frustrated behaviours. frustration is a kind of need deprivation

Brown and Farber (1951) took frustration as a hypothetical construct produced either by some type of inhibitory condition or by a competitive excitatory tendency aroused simultaneously with an already enjoying excitatory tendency of the same strength. The

strength of this inhibitory varies as a function of response-blocking amount of work or non-reward. Frustration was taken as a motivational determinant by Amsel and Hancock (1957), Brown and Farber (1951), Doob and Gross (1968), a primary motivational condition aroused by cessation of reward by Amsel (1958) and emotionally oriented phenomenon by Sergeant (1948)

All human Behaviour is the result of motivation. Due to motivation, goal-directed behaviour occurs and when goal-directed behaviour suffers interference, frustration results. According to Lewin (1936) the simplest way is to approach the situation of frustration.

He advised to treat frustration situation 'as a particular care of a limited space of free movement.' (Lewin 1936) The space of free movement is the totality of accessible regions which may be limited by either an 'inner' or an 'outer' or by both. When an individual is surrounded by a barrier, the goal will be out side of the space and this situation will lead to frustration.

References

1. Allport, G.W. (1964); 'Prejudice: Is it Societal or Personal ? Relig. Educ., 69,20-29.
2. Allport, G.W. (1961): 'Pattern and Growth in Personality.' Personality.' Newyork; Holt.
3. Allport, G.W. (1937):' Personality-A Psychological Interpretation. 'Newyork; Holt Rinehart and Winston Inc.
4. Altemeyer,B. (1992):'Six Studies of Right-Wing Authoritarianism among American State Legislators'. Unpublished Manuscript, University of Manitoba.
5. Altemeyer, B. (1988):'Enemies of Freedom : Understanding Right-Wing Authoritarianism" San Francisco : Jossey-Bass.
6. Ames, R.G. and Sakuma, A.F. (1969): ' Criteria for Evaluating other: A Re-examination of the Bogardus Social Distance Scale'. Social. Soc. Res.54,5-24.
7. Amsel, A. (1958): 'The Role Of frustration Non-Reward in Non-continuous Reward Situations. 'Psycho. Bull. 55,102-119.
8. Amsel, A. and Hancock, W. (1957): 'Motivational Properties of Frustration: 111 Relation of Frustration Effect to Antedating Goal factors.' Exp. Psychol. 53,126-131.
9. Anant, S.S. (1974):' Attitude toward Caste system in Northern India: A Survey of Regional, Urban-Rural, Inter Caste, and Educational Differences'Ind. Psychol. Rev., 11,1-9.
10. Anant, S.S. (1972):' Education and Social Change: A Study of Educational differences in Inter-Caste Attitudes'. Ind.J.Psychol., 47, 65-75.
11. Anant, S.S. (1970a) : ' Caste Hindu Attitudes Towards Harijans:

Impact of Socio-psychological Factors on Religious Participation among Hindu-muslim Student

Kanchan Kumar

Research Scholar, Jai Prakash University, Chapra (Bihar)

People living in this computerized and highly competitive society and find their environment personal, occupational, social, religious and national occupied with stress, confusion and maladjustment. The main aim of this research work is to study with a view to exploring the role of some socio-psychological factors such as attitude, superstition, religious tension, residential area, anxiety, neuroticism, extraversion, security - insecurity on religious participation and religious activities among Hindu and Muslim college students.

These socio-psychological factors have their immense and deep effect on religious participation and social making-up of the degree level students. It is too tough to furnish accurate description of religion, because it is most wide and diversified. It has spread over the whole world and it has assumed almost countless varieties of forms of religion. Many psychologists and sociologist explain about religion with a view to all aspects of religion e.g. Towler (1974) has explained that "Religion is a system of symbols which acts to establish powerful pervasive and long lasting moods and motivation in men".

Further Vivekanand defined that "Religion is the realizing of God in the soul". Although we shall, therefore, have to satisfy ourselves with an elementary definition of religion "Religion is a worship of higher powers with a sense of need". Psychologically, religion is a power which simply controls human behaviour and physiological process. Here pointed out a brief outline of both religions Hinduism and Islam which are concern with the present research works. Whereas the Hindus are based on the structure of their religion on the basis of Vedas, the Puranas, the Upanishads, etc. There are so many qualities of Hindu religion e.g.

(a) Theological ideas like Punarjanma, Immortality of Aatma, Papa, Punya, Karma, Dharma, Moksha etc.

(b) Idol worship

(c) Flexibility- The flexibility is it's strength.

We can say that there are no hard and fast rules of Hindu's worship and prayer. Each one adopts a method that suit him the best, etc. While Islam has a holy book "Quran Sharif", as it's authentic source.

There are so many qualities of Islam religion e.g.

(a) Allah (God)- Allah is the only supreme God.

(b) Daily prayer.

(c) Alms giving.

(d) Fasting (Roza).

(e) Visit Pilgrimage (Haj) etc.

All these qualities of both the religion attract many followers including degree level college students and motivate them to participate in the religious activities. But some socio-psychological factors did play important role in motivating them in relation to religious participation and activities.

Main *hypothesis* of this investigation is—

- (i) There shall be significant difference among Hindu and Muslim college students belonging to Forward and Backward class in their religious participation and activities.
- (ii) Hindu and Muslim college students belonging to urban and rural areas shall significantly differ in their attitude towards religious participation and activities.
- (iii) Hindu and Muslim college students shall significantly differ in marital status in their religious participation and activities.
- (iv) Hindu and Muslim college students shall differ significantly in anxiety, neuroticism, extraversion and security-insecurity scale.
- (v) Hindu and Muslim college students shall differ significantly in their attitude towards following religious questions:-
 - (a) "Worship Helps in success".
 - (b) "The faith in God increases during examination period".
 - (c) "Do religious activities improve memory", etc.

This investigation has been conducted on 100 Hindu and 100 Muslim college students of degree level to be taken from both urban and rural areas under Chapra and Siwan districts of Bihar, under the jurisdiction of Jai Prakash University, Chapra.

To measure the different objectives the following tests or inventories have been used- (a) Personal data blank for eliciting information with regard to background variables-caste, marital status etc (b) Comprehensive test of anxiety (CTA), Eysenck Personality Inventory (EPI), Security and insecurity inventory (SI), A questionnaire for attitude measurement. In the present investigation statistical techniques have also been applied for treatment of collected data like Chi-Square test, t-ratio test, two ways ANOVA test.

The main conclusions of this research work are as under-

- (i) The Hindu Forward Castes significantly differ from Hindu Backward castes in relation to their religious participation as visit to place of worship (Temple).
- (ii) The Hindu Forward Castes significantly differ from Muslim Forward Castes in terms of their visit to place of worship in relation to their attitude of religious participation.
- (iii) The Hindu Backward Castes did not significantly differ from Muslim Backward Castes in terms of their visit to place of worship in relation to their attitude of religious participation.
- (iv) The Hindu samples belonging to urban and rural areas significantly differ in attitude towards religious participation as visit to their temple on daily, weekly and occasionally.
- (v) The Muslim samples belonging to urban and rural areas did not significantly differ in their attitude towards visit the mosque on daily, weekly and occasionally.
- (vi) The Hindu and Muslim married samples did not significantly differ in their attitude towards religious participation as visit to temple and mosque, while on Hindu and Muslim unmarried samples significantly differ in their attitude towards visit to temple and mosque.
- (vii) The Hindu and Muslim samples differ significantly in their attitude towards religious participation and religious activities on anxiety, neuroticism, extraversion score, while that the Hindu and Muslim samples did not significantly differ in their attitude towards religious participation and religious activities on security-insecurity scores.
- (viii) The Hindu and Muslim samples significantly differ in their attitude in relation to religious participation and religious activities towards the question, "Worship helps in success," "The faith in God increases during examination period", "Do religious activities improve memory". etc.

References

- Ahmed A.(2005): Attitude of urban students towards some social and religious problems, Unpublished thesis in Psychology, B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur.
- Aslam, M.(1939): Religious experience of Mohammandans, Indian Journal of psychology, 14, 101-109.
- Bhagwat : Gita Press, Gorakhpur, 1977.
- Bidyanand (1983): Paigambar-Islam, Yasda Prakashan, Patna-1-4.
- Bose, N.K.(1966): Religion and society, Man in India, 46(1), 1-13.
- Brown, L.B.(1965): The structure of religious belief, Journal for the scientific study of Religion, 5,259-272.
- Rurchard, Waldo, W.(1970):-Denomination correlates of changing religious beliefs in college, Sociological Analysis, 31(1), 36-45.
- Verma, K.(2001): A study of cognitive study and intelligence among socially advantaged and disadvantaged adolescents behaviorometric, vol.18(1),40-42.
- Rajan, K. and Rai, R.D.(2009):-Effect of religious dogmatism on attitude towards family planning, Magadh Journal of social Research, Vol. 1,No.1., July-December, PP.114-118.
- Kumari Aasha and Bhargawa, S.(2009):- Religious faith of tribal's in Jharkhand: A developmental approach, Magadh Journal of Social Research, vol. xv, No.1, Jan-June, Page-117-121.
- Vidyatmananda, S.(1978):-What religion is: in the words of Swami Vivekananda, Advait Ashram, Calcutta, 14-121.
- Willis, Terry; Wilson, Joan(1970):- Religious orientations of three sample of graduate students in clinical psychology, social work and counselling and guidance, Psychological Reports, 26(2), 623-630.
- Christopher, K. (1978): Life satisfaction and religion: A re-analysis social forces, Campbell, 57(2),636-643.
- Clark, walter, H(1968): The psychology of religious experience, Psychology Today.
- Uplaonkar, Ambarao, T.(1982):-Social background and occupational aspiration of college students, Indian Journal of Social Work, Vol. 43(2),159-172.
- Steinmann, Anne, Doherty, Mary, A. & Fox, David (1970):- Perceptions of women religious regarding the female role, National Catholic Guidance Conference Journal, 15(1),43-54.
- Hornick, E.J.(1967): Emergencies, anxiety and adolescence, N.Y., State Journal Med., 67, 1979-1981.
- Joshi, Purushottam(1968):- Attitudes study in Uttar Pradesh: Northern India, Psychologists: An Internal Journal of Psychology in the Orient, 11(1-2),81-85.
- Maslow, A.H.(1952): The S-I Test:- A measure of psychological security-insecurity inventory, Stanford University press, Stanford.
- Anant, S.S.(1974): Caste system in Northern India, Survey of religious urban-rural inter-caste and educational differences, Indian Psycho Review, 11,1-9.

Influences of Women on D.H. Lawrence

Dr. Anjani Sharma

*Asstt. Prof., Dept. of English,
Deoghar College, Deoghar, Jharkhand*

D.H. Lawrence's *Lady Chatterley's Lover* begins with an apt description of the social upheaval which followed the advent of the First World War in 1914:

Ours is essentially a tragic age, so we refuse to take it tragically. The cataclysm has happened, we are among the ruins, we start to build up new little habits, to have new little hopes. It is rather hard work: there is now no smooth road into the future: but we go round, or scramble over the obstacles. We've got to live, no matter how many skies have fallen.¹

A closer look at these lines reveals Lawrence's optimism and they, more than anything else, emphatically underscore D.H. Lawrence's most recurrent literary theme of shedding of old skins and selves for new and that is why his characters, especially women, construct and reconstruct their role according to the changing circumstances. Like Lawrence, his characters too do not 'rest in negation'.² Just as some Victorians believed that historical progress was unstoppable, so Lawrence felt much the same about life. His novels do not end tragically because it was not in his nature to be a defeatist. The affirmation of life was always strong in him and he had that profound sense of responsibility which became his strength. He began to be valued less as a literary artist than as a guide to genuine living and to personal resistance against soulless civilization.

Serious interest in Lawrence's works revived significantly in the fifties of the twentieth century. This revival of Lawrence is sometimes seen as having been brought about almost single-handedly by the critical efforts of F.R. Leavis.

Leavis showed Lawrence as the inheritor of 'the great tradition of the English novel' 'at the growing tip of the living tradition, extending and transforming it'.

Later, the importance of Lawrence was promoted by Richard Hoggart and Raymond Williams, carrying forward the original impetus of Leavis into the broader cultural study of regional literature. Then, there were several other writers like Richard Aldington, Harry T. Moore, Mark Spilka and Graham Hough all of

who combined together to offer a semblance of literary-critical justification for Lawrence's high valuation.

Lawrence, who was the central figure of modern literature and moral wisdom in the sixties of the twentieth century, soon became the target of bitter criticism. The reverential acceptance of Lawrence as a figure of authority was dispelled by Kate Millett's bold work of feminist iconoclasm in *Sexual Politics* (1970). Millett undertakes a full-scale assault upon Lawrence's male-supremacist attitudes. It begins by doubting the credentials of *Lady Chatterley's Lover*, which had become accepted as a woman-friendly vision of mutual tenderness, but which appears upon closer inspection to be a one-sided glorification of phallic dominance. Actually Millett's analysis, appearing at the height of the Women's Liberation movement of the late 1960s, expressed many of the emotions which women were beginning to articulate.

The charge of misogyny is primarily due to Lawrence's discursive writings in particular where he betrays Victorian attitudes towards the place of women in society and at home. The man in his opinion is or should be the pioneer who goes out in the world where men move dominant and creative and the woman waits for him to return in a loneliness of waiting and following, delighting in having again between her arms, all that she has missed, to have it poured out for her, and a richness and a wonder she had never expected. Of course, this was quite contrary to the views of any self-respecting woman who would not accept this fantasy of his. Many women readers have felt unease with Lawrence's works and considered him as a potential oppressor of women.

However, as Norman Mailer thought which was the root cause of the huge fascination which Lawrence's writings have had for women:

Never had a male novelist written more intimately about women- heart, contradiction, and soul; never had a novelist loved them more, been so comfortable in the tides of their sentiment,....³

If we turn to his *Study of Thomas Hardy* we find Lawrence beginning to express ideas which women themselves have picked up much more strongly in recent years. He saw the time of change around the corner and felt that it was time for man to become more passive and women more active. Within this theory, he saw the answer to art and to his own creative spirit. In fact, Lawrence himself declared, "I shall do my work for women, better than the suffrage". An early draft of the *Sisters* describes his theme as 'woman becoming individual, self-responsible, taking her own initiative'.⁴ It is very important to see this side of Lawrence before approaching his novels. It throws a completely different light on the female characters and increases their significance. Lawrence was intrinsically writing about the liberation of the self, so he could

relate that to young women of his day and to himself. It is not simply that the female characters are impressive creations, they are also battlers against male presumption and hubris, and they are often winners of the battles. More often than not the laurels go to the women as in the Lincoln Cathedral episode in *The Rainbow*, in which Anne Brangwen is the *victrix* in her naturalist view of life against her husband Will's spiritual denial of it or as in Ursula's satiric and ultimately triumphant resistance to Rupert Birkin's male bullying ways. Not only is Ursula reaching out but, in *Women in Love*, her sister Gudrun also assumes an independent role: that of the artist. Gudrun becomes Birkin's *alter ego*.

It is in view of the charge of misogyny levelled against Lawrence by the feminist critics who frequently tried to make and re-make his work and the author himself that it becomes important to discuss the various roles women have played in the life of a man in his novels. It is also pertinent to question the situation of a man's relationship with women in his life. What do women symbolize for Lawrence and what is their mythical importance within that symbolical framework in terms of our current literary analysis?

What we already know is that a significant number of novels are simply books by male novelists with a great deal of pretention to be first-hand accounts of women's lives. However, D.H. Lawrence actually speaks with a great deal of credibility because much of his work was aided by the real women in his life. Daleski even goes to the extent of saying that 'Lawrence was a woman in a man's skin.' He further says in *The Forked Flame*:

It is my contention that Lawrence, though believing intensely in himself as a male, was fundamentally identified with the female principle as he himself defines it in the essay on Hardy....I believe that Lawrence initially made a strenuous effort to reconcile the male and female elements in himself but that he was more strongly feminine than masculine and that he was unable to effect such reconciliation.⁵

Lawrence was obviously affected by the women he met in his own life: whether it was his mother Lydia Beardsall, his friends Jessie Chambers, Louie Burrows, Agnes Holt, Helen Corke, Alice Dax or ultimately Frieda Von Richthofen and her sisters. The comments about these women in his letters give interesting clues to his feelings about them and we realize the depth of those feelings from the women he portrayed in his novels. It is obvious that his fictional women did not come out of thin air. They are a composite of his own ideas of the times, and the expression of those ideas as lived by the real women that he loved.

He often read and adopted some of their writings from journals and notes in order to achieve more realism than previously thought

possible. We realize that it is within the world of women that D.H. Lawrence seems to be in his true element and our task here is simply to understand why. It is very important to see this side of Lawrence before approaching the novels.

Through our readings of Lawrence's works, we realize that the roles played by women in his fiction are of various types and yet are all important to our understanding of Lawrence himself. We find the 'suffragist', the 'dreaming woman', the 'dominating female', the 'unrelenting woman' and other contemporary sexual stereotypes in his works. In addition to the above mentioned types, we meet in *Sons and Lovers* the 'unsatisfied woman' because the most important three women in the novel, are highly frustrated and never seem to realize any satisfaction in their lives. Nevertheless, all of them seek to escape the narrow bounds of their existence, either through education, religion, political activity or through men.

The frustration of these women certainly has a common source. To explain this further it is crucial to note that during the latter decades of the 19th century and the first decades of the 20th century, women's education expanded faster than the social opportunities which were available to them, their political awareness increased while they remained politically impotent which of course all contributed to their rising self-induced inner conflict because of their seemingly perpetual low status in society. These contradictions in the social condition of women developed during the decade before the war into a militant and violent feminist movement.

In *Sons and Lovers* it is Clara and in *Women in Love* it is Hermione Roddice who symbolizes the current tide of feminist revolts which relates to his early work using young women who consistently expressed feminist or near feminist views and ideas as to their status or their expectation of life. Their interest was like Clara's, the constant search for responsibility and independence. Feminism in this period emphasized equal rights, primarily in the recognition as human beings rather than just as sexual objects to be used at every whim of man. One of Lawrence's key credits in the novel is his concern and support towards feminism especially of the idea that woman had an equal right to work outside the home. Lawrence says that his "mother's generation was the first generation of working class mothers to become really self-conscious." ⁶

Many of the women Lawrence knew well when he was young were like him, working-class or lower-middle class in origin and training or working as teachers. Among these women we have Jessie Chambers, Louie Burrows, Agnes Holt and Helen Corke. Even his own younger sister became a teacher. It was not an accident that he knew such women, they were from his 'milieu'. These women,

unlike their mothers, belonged to the generation which could acquire a measure of freedom and independence from their career as well as personal and professional status. They were in many ways the first lower-middle class and working class women.

Without question, his mother was the dominant figure in his early life: the portrait of Mrs. Morel in *Sons and Lovers* makes that abundantly clear. All accounts reveal that Lawrence was closer to his mother, Lydia Beardsall. His mother's family, on the Beardsall side, is often represented by biographers as a family marked by its social aspirations, even pretensions, in severe economic decline, nostalgic for a lost status. Her son's biographers, all insist on the toughness of her personality, her emotional vitality and intellectual sharpness. She read voraciously, loved discussion of philosophical or religious subjects and generally was a person of considerable refinement and culture.

Lawrence is such an autobiographical writer in so many respects that these biographers have felt able to draw extensively on Walter and Gertrude Morel in *Sons and Lovers*, for example, for indications of Lawrence's parents' lives, and their uneasy marriage. Certainly, in her memoirs, Lawrence's sister Ada is quite clear that the Morels are the Lawrences.

With such strong links established between life and art it is difficult to sidestep the myths that endure when commentators attend to the character of Lawrence's parents, either in detail or at the level of the thumbnail sketch. At home in Eastwood, he apparently had few ambitions to travel beyond the masculine environments of the work place and the public house. Biographies invariably point to his easy-going attitude to life, and his documented skills as a dancer to indicate a free nature, continually at odds with his wife's more restrained behavior which, in its temperance and moderation, is frequently emphasized to signify her growing disappointment with her lot.

If Mrs. Lawrence soon found that she had little in common with her husband, he discovered just as quickly that he could not live up to the standards of the lady he had admired. She lived for her five children; she would save the boys from mining and drunkenness, and ensure that they were all as well educated as possible. They idolized her. Lawrence grew up hating his father and in rejecting him he rejected for himself a specific masculine culture. Lawrence particularly had been deeply influenced by the example of his mother's self-control and the no-nonsense reserve cultivated within the Lawrence family. This helps explain the succession of narrators in Lawrence's pre-*Sons and Lovers* fiction who, growing out of 1890s literary stereotypes, adopt roles of

aesthetic, sensitive observers at the cost of any capacity to get outside themselves and to love.

By all accounts, throughout her married life she remained aspirational, and took every opportunity to improve the family's domestic situation with strategic house-moves and necessary thrift. She is seen as passionately committed to her children and keen to raise them in opposition to their father's family culture as much as possible. She found education as a necessary weapon to groom her children according to her aspirations. All the Lawrence children attended Beauvale Board School. At the turn of the century the majority of working-class children left school by the time they were fourteen but Lawrence stayed on to obtain the kind of education that could make possible a different lifestyle, and in eventually qualifying as a school teacher he obtained a profession. His mother was undoubtedly pleased to see Lawrence in his new outfit was tall, fair, and pale and it was during this time that he was attracted by Jessie Chambers, more than a year his junior.

The conditions in which Lawrence began work as a teacher are described among Ursula's experiences in the chapter of *The Rainbow* called 'The Man's World'. During these years Lawrence socialized with a group of his fellow teacher-training students who called themselves 'the pagans'. These included Jessie Chambers, who joined the training programme, and another young woman who was to become important in Lawrence's life and in his novels. Louisa (Louie) Burrows is regarded as the original of Ursula Brangwen, the central character of both *The Rainbow* and *Women in Love*.

It was towards the end of his time at the High School in 1901 that Lawrence met Jessie Chambers, known also as 'Muriel' and the 'Princess', the prototype for Miriam in *Sons and Lovers*, the girl who became a close friend and lover, who admired and encouraged his poetry and writing, and who remained an important figure in his life for the next twelve years. She was profoundly in his debt; he was indebted to her for the shape of his entire career. 'The girl... launched me... on my literary career, like a princess cutting a thread, launching a ship'.⁷

Lawrence had been visiting the Chambers family at Hags farm (which Lawrence describes as a second home), since his High School days, being friendly in the first instance with Jessie's brother. Jessie shared Lawrence's literary interests, and spent much time reading and discussing the books they borrowed from the Mechanics' Institute, Eastwood. No list can evoke the range and quality of Lawrence's reading. Their discussions ranged from novels to poetry and philosophy. They seem to be 'living in a world within a world, created out of the energy of the imagination. Life in those days was full to the brim, pressed down, and running over'. He

was already thinking of *The White Peacock*. 'The usual plan is to take two couples and develop their relationships'.

Both their families expected the long-term friendship with Jessie to be resolved eventually as an engagement, but by all accounts, it was an awkward 'betrothal'. The tensions were considerable: despite the fact that both Lawrence and Chambers were still developing their adult personalities, Lawrence was clearly affected by the mutual dislike felt by his mother and Chambers- an antagonism which was quite evident to all who knew them. The criticism leveled at Miriam in *Sons and Lovers* (57-65) may well have also have been leveled at Jessie Chambers on whom Emily in *The White Peacock* was also based. Lawrence ended their six-year engagement in 1910. In 1935, Chambers, using the pseudonym "E.T.", published *D.H. Lawrence: A Personal Record*, in which she describes their friendship and the tensions which developed between them and, usefully, draws attention to Lawrence's early literary influences.

Lawrence always acknowledged the value of Chambers' encouragement of him as a young writer. Quite apart from their shared love of literature and the arts, and their enthusiasm for debate, she began his public career. In 1909 she sent selection of Lawrence's poems to Ford Madox Hueffer, editor of the *English Review*, a literary periodical which published established and new writers. The editor was so impressed that he arranged with young Lawrence for a novel. As he acknowledged, it was Chambers' action which first stimulated Hueffer's interest, but at a personal level the relationship between Chambers and Lawrence failed. Lawrence was at this time almost completely dominated by his mother, emotionally though not intellectually but he continued his intellectual relationship with Jessie.

The women who figure significantly in Lawrence's life up to and immediately after the break with Chambers are interesting not only because of their commitment to Lawrence but also because of their wider interests and personalities: the social as well as the personal contexts which helped to define them.

With the expansion of secondary education in the second half of the nineteenth century it was possible for women to become teachers, and several of Lawrence's women friends trained and taught in schools achieving some financial independence. Although many women were active (as volunteers) in the social sphere and often in support of political parties and movements, nationally women's rights were restricted and in particular they were denied the vote in parliamentary elections. Fighting against these conditions, the Women's Social and Political Union and the National

Union of Women's Suffrage Societies campaigned vigorously for increased women's rights including the vote. Lawrence was not especially supportive of political activity but several of his close women friends sought, like Ursula Brangwen, financial and personal independence and some worked for social change.

It is striking, however, that Lawrence when using characters drawn from the real women in his life in his fiction, ignored, almost completely, their professional careers as well as their specific social roles. An example can be seen in *Sons and Lovers*, in the character of Miriam, which closely represents Jessie Chambers, who in real life was a teacher which was crucially important to her and to her break away from her family. However, Miriam in the novel has no career. Miriam, in fact has no job at all until the very last chapter of the novel, when it is mentioned that she is earning her own living, is "going to the farming college and will probably be kept on as a teacher there".⁸ In other words, her career as a teacher is represented as a minor portion or outcome of her life rather than as a force by which she lived as freely as was possible for her in the period in which she lived.

Clara, too, who is drawn from at least three originals among Lawrence's best friends, has a job, but it is a manual one in a Nottingham factory: in no sense can such a job liberate her! This is illustrated perfectly when she returns to her husband Baxter, at the end of the novel and as they go together to Sheffield, she agreeably gives up her job. It is as though she fails in realizing her role as the feminist icon of the story easily and willingly which hardly seems to be true of the real life women that she represented particularly Alice Dax.

In 1909-10, as the relationship with Jessie came to an end, Lawrence developed friendship with Alice Dax who was also from Eastwood. A married woman, older than Lawrence, she was the principal model for Clara Dawes in *Sons and Lovers*. Dax, like her friend Blanche Jennings to whom Lawrence occasionally confided in letters, was committed, as her actions show, to social and political reform including campaigns to improve conditions for women. Alice was more militant. She commented on an early draft of *The White Peacock*, as did Helen Corke, a teacher he met in Croydon.

After completing his teachers' training course at Nottingham University College, Lawrence found a job in the newly opened Davidson Road School at Croydon. Two of the Croydon teachers were significant for Lawrence: one fleetingly, the other much more profoundly. The first was a vivacious and attractive girl, Agnes Holt who had a mind of her own.

In the autumn of 1909 another Croydon teacher, Helen Corke, a friend of Agnes Mason, excited Lawrence's interest. Helen Corke

was undoubtedly his most important woman friend in Croydon. She shared many of his interests- literature, German, art and music. The poetical prose of the diary, *Freshwater Diaries*, she had kept was the inspiration for the main part of Lawrence's second novel *The Trespasser* (1912). She supervised and assisted in the copying of the final manuscript from which *The White Peacock* was set up in proof: her own private tragedy was transmuted by Lawrence into subject matter for *The Trespasser* and concurrent with these shared activities there developed an intense emotional attachment. On the superficial level, the novel might be considered a series of events collected from the materials offered by Helen Corke. The novel actually contains his theories of sex and conflict and his own affairs with women resulting in success or failure. However, Helen was less drawn to Lawrence than Jessie had been and his poems make it thoroughly clear .

Towards the end of 1910 in the traumatic days before his mother's death from cancer, he asked another close friend, Louisa Burrows, with whom he had studied at college, to become his wife. His emotional commitment to Louie proved short-lived; it was probably never as complete and certainly not so enduring as hers. Academically she was his equal at University College, Nottingham, and her modest creative ability earned his praise. He expected she would write short stories; he regarded her as co-author of his story *Goose Fair* and shared with her the fee received for it. Louie, also a teacher, was an independently minded woman and like Dax and Jennings, was devoted to the cause of women's rights.

Their relationship had developed during the last illness of Lawrence's mother, and coincided with a period of great productivity for Lawrence even though he was teaching full time in Croydon, and ill. Lawrence broke with her during a period of emotional upheaval. It became the point of intersection between Lawrence's old and new lives: the fading attraction of teaching- an orthodox and secure profession, associated in his mind with a traditional home and family life- opposed to the increasing fascination of the adventure and self-fulfilment possible to the full-time writer. Many years later Louie recalled how Lawrence became *avid for new experiences* during the Croydon period. She was inescapably the loser.

The loss of his mother on 9 December 1910 wrenched him apart, left him permanently scarred and snapped the strongest link with his birthplace. He continued to write to and be generous towards his Eastwood friends, but he recognized that the old clique is broken: it will never be restored. With the termination of the two relationships Lawrence was now determined to act decisively.

If 1911 had been Lawrence's 'sick year', the succeeding was to be a year of radiant and abundant life for both the man and the writer. In March 1912 he met Frieda Weekley, a German woman some years his senior who was also the wife of Earnest Weekley, the Professor of French who had taught Lawrence at University College, Nottingham: their meeting seems providentially timed in this chronological sequence. At least Lawrence was psychologically prepared for it. Their meeting permanently changed the direction of his emotional and professional life. His earlier warning to Louie Burrows had been prophetic:

I go straight, like a bullet, towards my aim. I cannot loiter by the way... I cut straight through like a knife to what I want. I cannot, cannot slowly enjoy watching the rose open... I love my rose, and no other: and when I can have her I shall want no other.⁹

Frieda was thirty-two when she first saw Lawrence, 'a long thin figure, quick straight legs, light sure movements. He seemed so obviously simple'. Approximately six weeks after their first meeting, Lawrence and Frieda eloped to Germany. Content to take Lawrence as her lover, Frieda eventually agreed to break with her husband- which included taking the tough and painful decision to leave her three young children with Weekley, who would, after much acrimony, divorce her.

Her presence in his life enabled Lawrence finally to close down all the troubling relationships with other women which were at different times unfulfilled, and in many ways bound up with Eastwood and the loss of his mother.

Chambers had encouraged Lawrence's aspirations, as had Burrows, Dax and Corke; Frieda Weekley knew him to all intents and purposes, however, as an accomplished writer. His youth had been oriented towards family and friends, with due attention paid to propriety and respectability. After his meeting with Frieda, the break with that Nottingham background was essentially made, with important new steps taken towards self-responsibility. In 1914 they married in Kensington after significant trips principally in Germany and Italy as Lawrence enjoyed the autonomy of a writing life. While he was away from England he completed *Love Poems and Others* and *Sons and Lovers* (1913).

The Lawrence's never settled anywhere for a very long time, and they had a large number of friends with whom they stayed or who stayed with them. They lived in Italy, England, Germany, France, Mexico, New Mexico, Ceylon, Australia and California. By this time, Lawrence's literary sounding-board and mentor was Frieda. His habit of completely rewriting meant that each revision was, in effect, a new novel: it reflected his current attitudes and

opinions, and his current interpretation of life and events. *The Rainbow* was completed in 1915- the year in which it was published, suppressed, prosecuted and banned. *Women in Love*, the story of the sisters, Ursula and Gudrun Brangwen, was written between April and October 1916, revised in 1917 but not published until 1920. By 1920, Lawrence had written a further novel, *The Lost Girl*, was beginning another called *Mr. Noon*; and had been working intermittently on a third, *Aaron's Rod*(1922). While *Kangaroo* was published in 1923 in which he drew on his stay in Australia, *The Plumed Serpent*, published in 1926 takes the twice-widowed forty year old Kate Leslie into the interior of Mexico on a journey of discovery of herself and renewal. For most of the years since his death on 2nd March 1930, Lawrence's final full-length novel, *Lady Chatterley's Lover* (1928) has been his most celebrated and notorious work.

Thus, it is evident from the above detailed analysis of Lawrence's female companions that they were of great consequence in his life. They were all highly articulate and delighted in the exchange of ideas. They composed his first audience as readers and critics of his short stories and of the early versions of *The White Peacock*. And either individually or collectively they were responsible, into his manhood, for the education of his feelings. Intellectually and emotionally, he developed under their influence. That is why in his novels we find him write about women with great conviction and credibility. According to S. Macleod:

It is in the world of close emotional domestic relationships, the world of women that he seems to be in his true element: on firm ground, but following the thread blindly and intuitively through the labyrinth of indefinable self. And it is Lawrence's women who compel belief.¹⁰

Lawrence used women as actual or potential collaborators and he used their writing as source material especially related to their personal writings such as journals. This is a particular technique of Lawrence and reveals his constant collaboration with women and his reliance on their writing which remained a continual feature of his method throughout all his novels. Lawrence solicited notes and reminiscences from Jessie Chambers, Louie Burrows, Frieda and others and it is even proved that sometimes he took over his women's manuscripts and rewrote them as it happened once or twice with Helen Corke and Mollie Skinner.

We have seen that Lawrence sometimes used women as collaborators, but women as source of inspiration have a particular importance in Lawrence's life and work. It can be said that Lawrence has to an unusual degree organized his works specifically around women's experience.

The ideas that so engaged Lawrence have become common parlance by Norman Mailer's days:

....So yes, Lawrence understood women as they had never been understood before, understood them with all the tortured fever of a man who had the soul of a beautiful, imperious and passionate woman, yet he was locked into the body of a middling male physique, not physically strong, of reasonable good looks, pleasant to somewhat seedy-looking man, no stud. What a nightmare to balance that soul! To take the man in himself, locked from youth into every need for profound female companionship, a man almost wholly oriented toward the company of women, and attempt to go out into the world of men, indeed even dominate the world of men, so that he might find a balance.¹¹

Works Cited

1. Lawrence, D.H. *Lady Chatterley's Lover*. Bombay: Jaico, 1987.p.5.
2. Leavis,F.R. *D.H.Lawrence:Novelist*. London: Chatto and Windus, 1955.p. 30.
3. Mailer, Norman. *The Prisoner of Sex*. London: Sphere, 1972.p.134-135.
4. Lawrence, D.H.*The Letters of D.H.Lawrence*. Vol. 1 Ed. James T. Boulton. Cambridge: Cambridge University Press, 1979.p.527.
5. Daleski,H.M. *The Forked Flame: A Study of D.H. Lawrence*. London: Faber, 1965.p.13.
6. Lawrence, D.H. *Phoenix: The Posthumous Papers of D.H. Lawrence*. Ed. By Edward D. McDonald. New York: Viking Press, 1936.p.818.
7. Lawrence, D.H. *PhoenixII: Autobiographical Sketches*. Eds. W. Robert and H.T. Moore. London: Penguin, 1978.p.593.
8. Lawrence,D.H. *Sons and Lovers*. London: Penguin, 1913.p.504.
9. Lawrence, D.H. *The Collected Letters of D.H. Lawrence*. Ed.Harry T. Moore. Vol. I. London: Heinemann, 1962.p.236.
10. MacLeod,Sheila. *Lawrence's Men and Women*. London: Heinemann, 1985.p.95.
11. Mailer, Norman. *The Prisoner of Sex*. London: Sphere, 1972.p.131-135.